प्रेमिकगुरु



प्रेमिकगुरु

सारस्वत ग्रन्थावली—संख्या ५

परिव्राजकाचार्य

श्रीमत्स्वामी निगमानन्द परमहंस

प्रणीत

प्रेमिकगुरु

वा

प्रेमभक्ति और साधनापद्धति

भक्तिर्भगवतः सेवा भक्तिः प्रेमस्वरूपिणी।
भक्तिरानन्दरूपा चं भक्तिर्भक्तस्य जीवनम्॥

—भक्तितत्त्व

अनुवादक : **श्रीविजय कुमार सिन्हा,** एम. ए., बी. एड्.

शिक्षक : हेयर स्कूल, कोलकाता

[दक्षिणा—100.00 रुपये

प्रकाशक
श्रीमत् स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती
आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ
पो:-कोकिलामुख,
जिला-जोरहाट, आसाम
पिन-७८५१०८

मुद्राकर
श्रीमत् ओङ्कारचैतन्य ब्रह्मचारी
योगमाया यन्त्र
आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ
प्रचार विभाग, राजा रामचान्द घाट रोड
पो:-पानिहाटी, कोलकाता-७००११४

प्रथम बंगला प्रकाशन-१९१२ (ई.)
प्रथम हिन्दी प्रकाशन, नासिक पूर्णकुम्भमेला-२००३ (ई.)
द्वितीय हिन्दी प्रकाशन-२०१२ (ई.)

: प्राप्तिस्थान :

१। आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ, पो:-कोकिलामुख, जोरहाट, आसाम, पिन-७८५१०८, फोन-(०३७६) २९३२२१९।

२। आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ, प्रचार विभाग, राजा रामचान्द घाट रोड, पो:-पानिहाटी, कोलकाता-७००११४, फोन-(०३३) २५६३ ५४८६।

३। सारस्वत आश्रम, गौतम नगर, भुवनेश्वर, ओड़िशा, पिन-७५१०१४।

४। श्रीश्रीनिगमानन्द सारस्वत सेवाश्रम, गौशाला नगर (राधानिवास), वृन्दावन, जिला-मथुरा, उ: प्र:, पिन-२८११२१।

५। श्रीश्रीनिगमानन्द साधनपीठ, कालापाहाड़, गोपीनाथ नगर, गौहाटी, आसाम, पिन-७८१०१६, फोन-(०३६१) २४७८२८२।

६। सर्वोदय बुक ष्टल, हावड़ा ष्टेशन (ओल्ड कम्प्लेक्स), हावड़ा।



श्रीश्री १०८ स्वामी निगमानन्द सरस्वती परमहंसदेव

ॐ तत्सत्

उत्सर्गपत्र

देवि !

हृदय-मन्दिरे मानस-मुकुरे
तुलेछि तोमार "फटो",
आरो तार माझे कत स्थान आछे
ए हृदि नहे त छोटो !
तोमार साधेर जड़-जगतेर
प्रीतिर जतेक आछे,
सकल आनिया दिब साजाइया
ओइ प्रतिमार काछे।
सन्ध्याय उषाय शुभ्र ज्योछनाय
राखिब दुयार खुलि,
निभृत कुटीरे हेरिया तोमारे
आपना जाइब भुलि।
सहस्र ओङ्कारे जपिब तोमारे
स्थापिया हृदय-पटे,
शारदी शेफालि अर्पिब अञ्जलि
ओ राङा चरण-तटे।

प्रेममयि ! तुम्हारे प्रेम-प्लावन की "उर्वरा मिट्टी" पड़ते ही न यह ऊसर हृदय सरस हुआ था। मैं अंधेरे में दिशा भूलकर भटक रहा था, तुम्हीं ने न प्रथम प्रेम का आलोक प्रज्वालित कर हृदय दिखलाया था ? तुम्हीं ने गुरुरूप में इन सुप्त प्राणों में प्रेमबीज उप्त किया था। उसी बीज से वृक्ष उगकर किस प्रकार फल-फूल उगा रहा है, उसके प्रमाणस्वरूप इस "प्रेमिकगुरु" पुस्तक को तुम्हारे उद्देश्य से निवेदित किया।

और एक बात—किन्तु राजराजेश्वरी को वह बात कहने में भिखारी को स्वतः ही साहस नहीं होता—इस फूल में आँखों के आँसू मिलाकर तुम्हारी पूजा किये बिना मुझे तो तृप्ति न मिलेगी। आओ, रसमयी ! मनोमयी मूर्ति में मेरे हृदयासन पर बैठ कर पूजा लो। तुम्हारे प्रेम-सागर में मेरा प्रेम-प्रवाह मिलकर लय हो जाय—सिन्धु में विन्दु मिले। अयि ! तभी तो तुम्हें पुकारूँ—

करुणा कर—प्रेम में बहा कर—पाषाण गलाते जाओ। आकर मेरा उपहार ग्रहण करो।

तुम्हारा प्रेमभिखारी

श्रीनलिनीकान्त

ग्रन्थकार का वक्तव्य

श्वेताम्बरं श्वेतविलेपयुक्तं मुक्ताफलाभूषितदिव्यमूर्तिम्।
वामाङ्गपीठे स्थितदिव्यशक्तिं मन्दस्मितं पूर्णकृपानिधानम्॥

इन ध्यानलक्ष्य कल्पतरु श्रीगुरु की कृपाकणिका के बिना अन्य किसी उपाय से प्रेमभक्ति की प्राप्ति नहीं की जा सकती; इन्हीं प्रेमसिन्धु दीनबन्धु की विन्दु दया से "प्रेमिकगुरु" अद्य साधारणों के करों में प्रेमानन्द भरके अर्पण किया।

प्रेमभक्ति अहेतुक है; साधु-गुरु की कृपा ही उसका एकमात्र हेतु है। प्रेममय भगवान् किंवा उनके भक्तों की कृपा के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता एवं जिस भक्ति की बात सुनकर हृदय काँप उठता है, उस प्रेमभक्ति के तत्त्व को भाषा की सहायता से समझाने की कोशिश करनी विडम्बना मात्र है। इसीलिए प्रेमभक्ति प्रभृति की बातों पर प्रायः ही अभी वागाडम्बर एवं भाव तथा भाषा का एक कृत्रिम उच्छ्वास व्यवहृत होते देखा जाता है। किन्तु भक्ति स्वतः ही हृदयग्राहिणी है—तभी तो भक्ति की बात सुन बुद्धिमानों का हृदय पुलकित एवं साधुओं का हृदय आनन्दयुक्त होता है एवं भक्तों का हृदय नृत्य करता रहता है। इस प्रकार के भक्तितत्त्व —भक्तिहीन मैं—कैसे प्रकट करूँ ?

जिनकी कृपा से पङ्गु सचल होता है, मूक वाचाल होता है, उन्हींके कृपादेश से मैं "प्रेमिकगुरु" लिखने के लिए अग्रसर

हुआ हूँ। इस पुस्तक के सुन्दर अंश श्यामसुन्दर की द्युति हैं, और निकृष्ट अंश मेरे ही हृदय के उच्छ्वास हैं। भगवान्, भक्ति और भक्त स्वरूपतः एक ही प्रकार के हैं। सुतरां भक्ति भगवान् की तरह हमेशा पूर्ण है। अगर इस ग्रन्थ में भक्ति की वह पूर्णता विकशित न हुई हो तो वह दोष मेरा है।

साधनभक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति आदि नानाप्रकार के भेदभाव वर्तमान रहने पर भी भक्तितत्त्व स्वरूपतः एक ही प्रकार का है। भक्ति की साधना से आरम्भ कर प्रेमलाभ तक साधक की क्रमोन्नत-अवस्था के एक-एक स्तर के नामानुसार भक्ति भी नाना नामों से विभंक्त हुई है। फिर भी प्रेमलाभ ही भक्तमात्र का चरम लक्ष्य है। हमने भी इस पुस्तक में साधनभक्ति के वैधी अनुष्ठान से क्रमशः असमोर्ध्व-प्रेम-माधुर्यलाभ और तदवस्था का विषय विवृत किया है। प्रेमभक्ति के किसी भी अङ्ग का हमने परित्याग नहीं किया है। वर्तमान वैष्णवसमाज में प्रेमभक्ति के जितने प्रकार की साधना-प्रणालियाँ प्रचलित हैं, इस पुस्तक में वे सभी आलोचित हुई हैं। कारण पुस्तक को सर्वसाधारणों के लिए उपयोगी करना होगा। केवलमात्र एक विशुद्ध पंथ को प्रकट कर देने से सारे अभावों के पूर्ण होने की सम्भावना नहीं रहती है। मानवमात्र की ही प्रतिभा, प्रकृति और रुचि भिन्न-भिन्न हैं; सुतरां स्व-स्व प्रकृति और रुचि के अनुसार साधनापंथ न पाने से सर्वसाधारणों के उपकार की आशा अति-अल्प होती है। एक ही नाप की कमीज दूकान में रखने से, अधिकांश ग्राहकों

को लौट जाना होगा, मगर हाँ, दो-एक के शरीर में वह आ सकती है, इसी कारण से हमने भक्त-समाज के सर्वसम्प्रदाय के मतों को ही एक-एक पथ सोचकर उनके साधनारहस्य विवृत किये हैं। वैधी और रागात्मिका इन उभय भक्ति के विषय ही समानरूप से आलोचित हुए हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय का गोपीभाव, रामानुज-सम्प्रदाय का दास्यभाव, वल्लभाचारी-सम्प्रदाय का वात्सल्यभाव, पञ्चरसिक का सहजभाव प्रभृतियाँ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न भाव और साधनाएँ समानरूप से—समान आदर से गृहीत हुए हैं। भावसाधना का शास्त्रीय और अशास्त्रीय किंवा वैध और अवैध उभय पंथ ही हमने आलोचना की हैं। इस पुस्तक में नाना शास्त्रों के प्रमाण एवं ज्ञानियों और भक्तवर्गों का प्रवचन और पदावलियाँ संगृहीत हुई हैं।*

इस पुस्तक का लिखना प्रायः पूर्ण होते समय वृन्दावन, पुरी, कोलकाता, नवद्वीप प्रभृति स्थानों के गण्यमाण्य गोस्वामी और वैष्णवगणों द्वारा हस्ताक्षरित एक विज्ञापन हमारा हस्तगत हुआ। उसका मर्म यही है कि "ढोंगी तान्त्रिक और वैष्णवगण साधना के नाम से सुरा और सुन्दरियों को लेकर समाज में व्यभिचार की वृद्धि कर रहे हैं। गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के किसी भी

---

* श्रीमद्रूप गोस्वामी का "श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः" और "उज्ज्वलनीलमणिः", श्रीयुक्त युगलकिशोर दास गोस्वामी का "उज्ज्वलरसचिन्तामणिः" श्रीयुक्त रसमय दास का "रससार" प्रभृति वैष्णवग्रन्थ ही प्रथम स्कन्ध—प्रेमभक्तितत्त्व के प्रधान आधार हैं।

साधनापंथ में वैष्णवी का प्रयोजन नहीं होता; सुतरां जो साधनाकार्यों में वैष्णवियों की सहायता लिया करते हैं, वे गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायभुक्त नहीं हैं।" वास्तविक ढोंगी तान्त्रिकों और वैरागियों ने व्यभिचारस्रोत से देश प्लावित किया है, धर्म के नाम पर कितने प्रकार के अधर्म अनुष्ठित हो रहे हैं; उनके दमनकल्प में वैष्णवसमाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों का आग्रह प्रशंसनीय है। किन्तु सत्य की खातिर में यह कहने को भी बाध्य हो रहा हूँ कि, उन्होंने वैध उपायों को छोड़कर मानों सत्य को छिपाने की कोशिश की है। अवश्य ही साधक-गोपियों की सहायता के बिना रागमार्ग के साधक गोप्यनुगतिमयी भक्तिलाभ कर सकते हैं सत्य; साधना-पथ में स्त्रियों की सहायता न लेकर भी प्रेमभक्ति प्राप्त की जा सकती है ठीक; किन्तु जिन सारे साधकों ने यह बात जानकर भी साधना में साधक-गोपियों (स्त्रियों) का आश्रय लिया है, क्या वे वैष्णव नहीं हैं? वैष्णवचूड़ामणि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और विल्वमङ्गल ठाकुर प्रभृति क्या गौड़ीय सम्प्रदाय के गोस्वामियों के निकट वैष्णव के रूप में परिगणित नहीं होंगे? कारण इनमें से अनेकों ने ही अवैधरूप से स्त्री ग्रहण कर—ब्राह्मण होकर धोबिन व वेश्या लेकर साधना की थी; सुतरां व्यभिचारी भिन्न वे वैष्णवचूड़ामणि हो सकते हैं किस प्रकार? किन्तु इनकी भावविवश कण्ठनिःसृता कवितावली कर्णकुहर में प्रविष्ट होने पर भी हृदयतन्त्री एक नूतन तान से बज उठती है, हृदयकन्दरा में

एक माधुर्य का उत्स खुल जाता है। गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रेमावतार श्रीगौराङ्गदेव सातिशय श्रद्धा के साथ यह श्रवण करते थे। यथा—

चण्डीदास विद्यापति रायेर नाटकगीति
कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप रामानन्द सने महाप्रभु रात्रिदिने
गाय शुने परम आनन्द॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

अतएव यह पंथ जो गौराङ्गदेव द्वारा अननुमोदित है, यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है ? उनके प्रति प्रीति-श्रद्धा न रहती, तो इन सारी पदावलियों में उनका चित्त आकृष्ट न होता। वरं हमें ऐसा लगता है, श्रीचैतन्यदेव जिस उज्ज्वलरसात्मक प्रेमभक्ति की महिमा का प्रचार करने के लिए जगत् में आविर्भूत हुए थे, उस परमपुरुषार्थलाभ के दुर्गम पथ को सुगम करने के लिए ही स्वकीय आविर्भाव के पूर्व इन समुदाय रसिक भक्तों को आविर्भावित किया था।

उक्त विज्ञापन में स्वाक्षरकारी गोस्वामिगण चण्डीदास के समान क्या उज्ज्वल-रसात्मक-प्रेमभक्तिसाधक वैष्णवनिकुञ्ज के कलकण्ठ पिकराजगणों का परिवर्जन कर सकेंगे ? गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय से उनकी स्मृति और अस्तित्व का लोप कर सकेंगे क्या ? तो फिर हम क्यों न कहें कि, गोस्वामिगण ने अपने सम्प्रदाय के कलङ्कक्षालनार्थ किंवा समाज के मङ्गलार्थ उस

विज्ञापन में हस्ताक्षर कर सत्य का अपलाप किया है ? उन्हें घोषणा करना उचित था, "उज्ज्वलरसात्मक साधना अतिशय दुष्कर होती है। अटलहृदय वीरभक्त के अतिरिक्त कोई भी रमणी के साहचर्य से व्यभिचार की अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता। सुतरां राय रामानन्द के समान प्रकृत अधिकारी न होकर जो साधक-गोपियों (स्त्रियों) के आश्रय में मधुराख्य उज्ज्वलरसात्मक साधना के नाम पर समाज को पङ्किल, सम्प्रदाय को कलुषित, धर्मपथ को अपवित्र और देश में व्यभिचारस्रोत की वृद्धि कर रहे हैं, वे गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायभुक्त नहीं हैं।— साधारण लोग उन्हें स्वेच्छाचारी और उन्मार्गगामी समझेंगे।" अन्यथा गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय से साधक-गोपी के पदाश्रय में प्रेमरस प्राप्त करने के पथ का अस्तित्व अस्वीकार कर सत्य का अपलाप न करें। इस पथ का उद्भावन कर एकमात्र बंगालीवैष्णवों ने जिस महती कीर्ति और गौरव की प्रतिष्ठा की है शतमुखों से उनकी मनीषा और अनुसन्धित्सा की प्रशंसा करनी पड़ती है।

इस सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य यही है, कि यह मधुर भक्तिरस देश, काल, पात्र विवेचनानुसार प्रदर्शित हो, ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, अथवा गुप्त रखना ही विधेय है। यह किसी-किसी व्यक्ति के लिए अनुपयोगी है, तो किसी के लिए दुरूह। जो सारे व्यक्ति घृणित विवेचना से लौकिक उज्ज्वलरस से विरत हो गये हैं, वे तत्सदृश समझकर भागवतोज्ज्वलरस से भी निवृत्त हुए रहते

हैं, अथवा शान्ति-प्रीति-वात्सल्यरस के विजातीय भक्तगण स्व-स्व भावविरोध हेतु उज्ज्वलभक्तिरसविषय में पराङ्मुख होते हैं। अतएव उभयनिवृत्त भक्तों से इसे गुप्त रखना ही विधेय है। दूसरे कुछ लोग भागवतोज्ज्वलरस परिमित ज्ञान से स्वयं को बहुज्ञ समझा करते हैं, उनके लिए यह दुरूह है। अतएव इस समुदाय के अभिज्ञम्मन्य व्यक्तियों से इसे गोपन रखना ही उचित है। और अन्य साधारण लोगों की तो बात ही क्या, उनके निकट तो यह सर्वथा ही गोपनीय है। मैंने "तान्त्रिकगुरु" ग्रन्थ में कुलाचार और पञ्च म-कार के सम्बन्ध में जो कहा है, इस सम्बन्ध में भी वही प्रयोज्य है। विशेषतः इस ग्रन्थ के "साधना के स्तर और सिद्धलक्षण" शीर्षक प्रबन्ध में गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय के आधुनिक साधकगणों के सम्बन्ध में जो कहा गया है, तदतिरिक्त इस समय और कुछ कहना बाहुल्य मात्र है। पाठकगण उस प्रबन्ध का पाठ करते ही गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय के मूल और शाखाओं के विवरण, साधनाचार, उद्देश्य और युक्ति सबकुछ समझ सकेंगे। ऐसा होनेपर समझ सकेंगे,—भूतनाथ हुए बिना भूतों के साथ खेल खेलने से भूत गर्दन तोड़ दिया करते हैं। अतएव पंथ और मतों को सम्प्रदाय से अलग न कर अगर शक्ति हो तो ढोंगी व्यभिचारियों को सम्प्रदाय से भगा दो। अन्यथा सत्य का अपलाप कर उन ढोंगी और व्यभिचारियों के निकट हास्यास्पद न हो।

इस ग्रन्थ में उज्ज्वलरसात्मक मधुर भक्तिरस और तत्प्राप्ति के उपाय विशदरूप से वर्णित हुए हैं। अनधिकारी व्यक्तिगण इनकी आलोचना कर अन्यान्य भावभक्ति या साधनभक्ति के आश्रय में साधना करेंगे। इस पुस्तक में सभी प्रकार की ही भक्तियों की आलोचना हुई है; कारण, किसी विशेष सम्प्रदाय के लिए यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। भक्ति के सर्वाधिकारी जनगण इस ग्रन्थ की सुशीतल छाया में आश्रय पायेंगे। द्वितीय स्कन्ध में मुक्ति के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय विस्तार में वर्णित हुए हैं। सन्यास-धर्मसम्बन्ध में प्रचलित कोई पुस्तक नहीं होने के कारण सन्यासधर्म और तदधिकारी विषय इस पुस्तक में आलोचित हुए हैं। उनके पठन-पाठन से और ढोंगी सन्यासियों के वचन-रचन से प्रतारित होने की आशङ्का नहीं रहेगी। इस स्कन्ध में शङ्कर, गौराङ्ग प्रभृति अवतारों एवं उनके धर्ममतों के सामञ्जस्य के सम्बन्ध में विशेष रूप से ओलोचना की गई है।

अन्त में उज्ज्वलाख्य मधुर-भक्तिरस-साधनापिपासु भक्तगणों के निकट यह निवेदन है, कि कलिकाल के मानवगण स्वभावतः दुर्बल होते हैं, पक्षान्तर में इसकी साधना भी सातिशय दुष्कर है। इसी कारण चण्डीदासादि वीरभक्तों के समान परकीया रमणियों के साथ कठोर साधना में अग्रसर न होकर श्रीजयदेव के समान स्वकीया धर्मपत्नी के साथ कामानुगा-साधना कर्तव्य है। शास्त्रों में भी इसकी व्यवस्था है। यथा :—

शेषतत्त्वं महेशानि निर्वीर्ये प्रबले कलौ।
स्वकीया केवला ज्ञेया सर्वदोषविवर्जिता॥

—महानिर्वाणतन्त्र

अतएव यदि कोई मूढ़तावश परकीया रमणी में अनुरक्त होकर प्रकृत साधना में असमर्थ होता है, तो उसे अवश्य ही रौरव के अन्धकारमय गर्भ में प्रवेश करना होगा। इन सब बातों की विवेचना कर साधकों को स्वकीय धर्मपत्नी के साथ कुल और रस-साधना में दीक्षित होना विधेय है।

पाठक ! ग्रन्थ में अनेक अप्रचलित शब्द और दुरूह तत्त्व निबद्ध हो गये हैं, सुतरां भ्रम-प्रमाद अवश्यम्भावी है। मरालधर्मानुसरणकारी साधकगण भाषा और वर्णाशुद्धि प्रभृति दोषांश परित्याग कर प्रेमभक्ति में किञ्चित् माधुर्य का भी अनुभव करें तो श्रम सफल समझूँगा। किमधिकविस्तरेण।

श्रीगौराङ्ग-सेवाश्रम
८ अग्रहायण, रासपूर्णिमा
१३१९ बंगाब्द (१९१२ ई.)

भक्तपदारविन्दभिक्षु
दीन—**निगमानन्द**

प्रकाशक का निवेदन

परमकारुणिक श्रीगुरु देव की अशेष कृपा से उन्हीं के स्वहस्तलिखित "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ आज राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम बंगला प्रकाशन आज से प्रायः ९० वर्ष पूर्व अर्थात् १३१९ बङ्गाब्द (१९१२ ई:) में हुआ था। अब तक इसका त्रयोदश बंगला संस्करण भी हो चुका है; परन्तु बहुपूर्व राष्ट्रभाषा हिन्दी में इसके प्रचार-प्रसार की प्रयोजनीयता परिलक्षित होने पर भी आज तक वह सम्भव न हो सका था। बंगला तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रति पाठकों का आग्रह को देखते हुए हिन्दीभाषी पाठकों की अध्यात्म-तृष्णा निवारणार्थ मैंने इसके हिन्दी-प्रकाशन में उत्साही हुआ। श्रीमदाचार्य स्वामी निगमानन्द परमहंस देव के प्रणीत ब्रह्मचर्य-साधन, योगीगुरु, तान्त्रिकगुरु, ज्ञानीगुरु, वेदान्त-विवेक और निगम-सूत्र ग्रन्थ आज भारतवर्ष के साधक और पाठकों के समीप नितान्त आदरणीय वस्तु के रूप में परिचित हैं। तन्त्र, ज्ञान, योग, प्रेम आदि संवलित इन कई ग्रन्थरत्न साधकों के विशेष उपादेय की वस्तु हैं। आशा है लेखक के अन्यान्य पुस्तकों की तरह यह भी हिन्दीभाषी पाठकों के हृदय को आकर्षित कर सकेगी।

यह ग्रन्थ मूल बंगला ''प्रेमिकगुरु'' ग्रन्थ के त्रयोदश संस्करण से अनूदित है। इसका हिन्दी-अनुवाद कोलकाता हेयर स्कुल के शिक्षक श्री विजय कुमार सिन्हा (एम. ए., बी. एड्.) महाशय ने किया है। उन्होंने अपने अथक परिश्रम से तथा यथार्थरूप से, जिससे कि अनुवाद में भावविपर्यय न हो, उसके लिए पूरी कोशिशें की हैं। तदुपरांत अध्यापक ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य (स्वामी ब्रह्मेशानन्द) ने इसका आमूलचूल संशोधन भी किया है। इसके बावजूद अगर कोई भूल-त्रुटि परिलक्षित हुई तो ज्ञात होने पर परवर्ती संस्करण में उसके सुधार के लिए प्रयत्न करेंगे। तथापि मरालधर्मी पाठकगण दोषांश का परित्याग कर केवल मर्मार्थ ग्रहण में व्रती होंगें, हम उनसे यहीं अभिलाष करते हैं।

॥ जयगुरु ॥

आसाम-बंगीय सारस्वत मठ
कोकिलामुख, जोरहाट, आसाम
राखीपूर्णिमा १२.८.२००३ ई.

श्रीगुरुचरणाश्रित
स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती

सूचीपत्र

पूर्वस्कन्ध

प्रेमभक्ति

प्रेमिकगुरु

पूर्वस्कन्ध—प्रेमभक्ति

भक्ति क्या है ?

भक्तिलाभ करना हो तो पहले, "भक्ति क्या है", यह विशेषरूप से समझना होगा। भक्ति किसे कहते हैं ?

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

—शाण्डिल्यसूत्र, १/२

शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं, "परमेश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं।" जिसके द्वारा परमपुरुष भगवान् की कृपा आकृष्ट होती है और जो सारी वासनाएँ पूर्ण करती है, वही भक्ति है। सीधे शब्दों में भक्ति का अर्थ है ईश्वर में परम प्रेम। यथा—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा।

—नारदीय भक्तिसूत्र, २

ज्ञान-कर्म भूलकर, वासना-कामना भूलकर, सुख-दुःख भूलकर, धर्माधर्म भूलकर, धनैश्वर्य भूलकर, स्त्री-पूत्र यहाँ तक कि अपने को भी भूलकर भगवान् में जो ऐकान्तिक अनुरक्ति है, उसीका नाम भक्ति है। भक्तप्रवर प्रह्लाद ने भगवान् को कहा है—

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु॥
—विष्णुपुराण, १/२०/१९

"अविवेकियों की जिस प्रकार इन्द्रियविषय में प्रबल आसक्ति होती है, हे भगवन्, तुम्हारे प्रति भी हमारे हृदय से वैसी आसक्ति कभी भी अपगत न हो।" इसका भावार्थ यह है कि फल-हेतु में विचारशून्य होकर भगवान् के प्रति जो भक्ति है, वही प्रकृत भक्ति है।

यह भक्ति जिन्होंने प्राप्त की है, वे ही भक्त हैं। भक्त भगवान् में आत्महरा हो जाते हैं। वे भक्तिभाव में विभोर होकर भगवान् को अपना समझकर उन्हीं का सर्वत्र परिदर्शन करते हैं। जल-स्थल में, चन्द्र-सूर्य में, ग्रह-नक्षत्र में, मेघ-सागर में, गङ्गा-गोदावरी में, काशी-प्रयाग में, अग्नि-वायु में, अश्वत्थ और बट में—सर्वघट में ही विश्वव्यापीरूप में उन्हीं को देखकर उन्हीं में आत्मसमर्पित होकर—मन बुद्धि अहङ्कार प्रभृति समस्त तत्त्वों को उनके चरणों में अर्पण कर भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। भक्त आकुल कण्ठ से भगवान् को कहते हैं, प्रभो! तुम सभी के सब हो, सबके ही सबकुछ हो। मैं तो तप, पूजा, होम, व्रत, नियम कुछ भी नहीं जानता। मैं तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं जानता। मैं तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं चाहता। तुम्हें पाकर कृतार्थ हो जाऊँगा। प्राणाधिक! तुम दया करो—मुझे अपनी चरणधूल बना लो।

भगवान् भी इसी भक्ति के अधीन हैं। भक्त का उपहार वे जिस प्रकार प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हैं, ऐसा और कुछ भी नहीं है।

भक्तिपूर्वक पुकारने पर, वे बिन आये नहीं रह सकते। भक्ति से पीतल की प्रतिमा भी अन्न ग्रहण करती है, भक्ति से लोलक पहनने हेतु पाषांण-प्रतिमा की नाक में भी छेद हो जाता है, भक्ति से शालिग्रामशिला अलङ्कार परिधान करने के लिए हाथ बाहर करती है—भक्ति से ऐसा होता है, भक्ति से जगत् में कुछ भी असाध्य नहीं है। तभी तो भक्तचूड़ामणि प्रह्लाद की भक्ति से स्फटिकस्तम्भ विदारणपूर्वक नृसिंहमूर्ति का आविर्भाव हुआ था। भगवान् भक्ताधीन हैं—भक्ति हेतु वे क्रीड़ापुतली हैं।

समस्त इन्द्रियशक्ति के साथ मन के तद्गत भाव को ही भक्ति कहते हैं। ऐसा होने पर भक्ति को इच्छाशक्ति की ऐकान्तिकी स्वमुखी वृत्ति कही जा सकती है। इच्छाशक्ति (Will force) के ऐकान्तिक सञ्चालन से वे मूर्ति परिग्रह करते हैं। समुद्र का जल जिस प्रकार अत्यन्त शीत में जमकर बरफ हो जाता है, तद्रूप निराकार, निर्विकार अनन्त चिन्मय भगवान् भक्त की ऐकान्तिक इच्छाशक्ति के बल से चिद्घन होकर प्रकाशित हो उठते हैं—जगन्मय मनोमयरूप में आकर दिखाई देते हैं। जिस प्रकार दोर्दण्डप्रतापान्वित दायरे के विचारक तदीय शिशुपुत्र के अनुरोध पर विद्या, बुद्धि तथा शक्तिशाली मनुष्य होकर भी घाड़ा बनने को बाध्य हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानमय और शक्तिमय विराट् भगवान् अपने भक्तों के हठ से अपनी मनोमयी मूर्ति में आविर्भूत हो जाते हैं। उक्त विचारक के साथ दूसरे लोग बात करने में भी डरते और सङ्कोच बोध करते हैं, किन्तु उनका पुत्र जिस प्रकार उनकी मुछ पकड़ कर उन्हें घोड़ा बनने पर मजबूर कर

देता है, उसी प्रकार दूसरा कोई भी भगवान् के विश्वरूप और विराट् विभूति देखकर आत्महरा हो जाता है ठीक, परन्तु जो भाग्यवान् व्यक्ति भगवान् की कृपा से उन्हें "मेरा" कहकर समझते हैं, उन्हीं भक्तों के समक्ष भगवान् अपनी इच्छा के अनुरूप मूर्ति परिग्रह कर उदय होते हैं। यह तत्त्व भगवत्कृपा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार अनुभूत नहीं होता।

कई लोग सोचते हैं कि ज्ञान भक्ति का विरोधी है। इसी हेतुवाद से अस्मद्देश में बहुत कालों से ज्ञान और भक्ति को लेकर वादानुवाद चल रहा है। ज्ञान बड़ा है या भक्ति बड़ी है—इसको लेकर अनेक तर्क-वितर्क हो गये हैं। आज के ज्ञानमार्ग के साधक भक्तिमार्ग के साधकों को देखते ही "विटल" (विट) उपाधि से विभूषित करते हैं; और भक्तिमार्ग के साधकलोग ज्ञानमार्ग के साधकों को देखकर "अरसिक" (नीरस) कहकर उपेक्षा करते हैं। कोई भी अपने निजी आचरण के भावी विषाक्त फल के बारे में नहीं सोचते, हिंसा-द्वेष-कलुषित चित्त में इसके सोचने का भी अवसर नहीं रहता। भक्तलोग कहते हैं, "ज्ञान में मिठास तो है, किन्तु अत्यन्त शुष्क—जैसी मिश्री।" और ज्ञानी कहते हैं, "भक्ति सुपेय तो है, पर वैसी मीठी नहीं—जैसा दूध है।" किन्तु वे यह नहीं समझते कि उस दूध और मिश्री कर्म के आवर्त्तन से मिश्रित होकर त्रिसमन्वयघनामृत अतिसुस्वादु सरबत प्रस्तुत होगा। ज्ञानी यह नहीं समझते कि दूध की सहायता से मिश्री गलकर अदृश्य होने पर भी उसका अस्तित्व कभी भी लोप नहीं होगा। और भक्त नहीं समझते कि मिश्री की सहायता

से यद्यपि दूध का स्वाद अन्यरूप हो जाता है, पर वह रूपान्तरित नहीं हो सकता; वरन् मिश्री उसका माधुर्य और भी बढ़ा देगी। विशेषतः ज्ञानी एवं भक्त दोनों ही यह नहीं समझते कि ज्ञान और भक्ति के शुभ सम्मिलन से ही धर्म की भित्ति प्रतिष्ठित है। यह मर्म-रहस्य साधारणों से अवगत नहीं है, इसी कारण आज हिन्दुधर्मरूप कल्पपादप में शत-शत परगाछा उगकर इसे जीर्ण शीर्ण शुष्क काष्ठ में परिणत कर चुके हैं।

अतएव ज्ञान कभी भी भक्ति का विरोधी नहीं है। परन्तु व्यावहारिक ज्ञान अवश्य ही भक्ति का विरोधी हो सकता है। ज्ञान के बिना भक्ति का स्थान कहाँ है ? क्या चित् के बिना आनन्द का विकास हो सकता है ? मन में जो संस्कार रहता है, इन्द्रिय-पथ से विषयबोध से उसका विकास होता है; विकास होने से ही ज्ञान होता है, ज्ञान के होने पर ही भक्ति आकर उपस्थित होती है। भक्तिलाभ होने पर ज्ञान की फिर आवश्यकता नहीं रह जाती। शास्त्रों में भी इसका उल्लेख देखने मिलता है। यथा—

ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ज्ञानं पश्चात् परित्यजेत्।

—उत्तरगीता, १/२०

ज्ञान के द्वारा ज्ञेयवस्तु के प्राप्त होने पर ज्ञान की फिर क्या आवश्यकता है ? साधक जब ज्ञान के द्वारा उन्हें जान पाते हैं, तब ज्ञान को दूर कर देते हैं; ज्ञान स्वयं ही दूर हो जाता है। ज्ञान और भक्ति सहोदर भाई और बहन हैं। ज्ञान को बताये बिना भक्ति अगर कहीं जाती है समय पर ज्ञान छोटी बहन की भर्त्सना कर उठाकर

ला सकता है। तभी एकबार जिस हृदय में भक्ति का विकास दिखायी पड़ा है, समय पर उस हृदय में भी दानव का ताण्डव नृत्य देखने को मिलता है। इसी कारण उस समय भक्ति के बदले नास्तिक की कठोर कर्कश आवाज सुनने में आती है। किन्तु ज्ञान जिस स्थान पर भक्ति को बैठा देता है, उस स्थान पर भक्ति को किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं रहता है। फिर भी ज्ञान बड़ा भाई है—उसके समक्ष बालिका भक्ति सदा ही शर्म से गठरी बन जाती है; विशेषकर ज्ञान पुरुष है, सभी स्थानों पर उसका जाना सम्भव नहीं होता; भक्ति बालिका है—फलतः अन्तःपुर के सभी जगहों पर उसका आना-जाना है। जहाँ कूटतर्क की वाचालता है, अधिक दन्त-किचकिच है, वहाँ भक्ति नहीं जाती है। वह चाहती है शुद्धबुद्ध सरल स्थान—विचार-वितर्क नहीं समझती है। हाँ, तब ज्ञान के साथ जाने में उसे कोई आपत्ति नहीं; वे भाई-बहन जहाँ भी रहेंगे, वह स्थान एक दैवी आलोक से उद्भासित हो उठेगा। वहाँ पारिजात की गन्ध फैलेगी—स्वर्ग की मन्दाकिनी अपनी उजानवाहिनी क्षीरधारा लेकर उस स्थान को धो डालेगी। इस समय ज्ञान अन्तराल में बैठकर स्नेहचक्षु से बहन का निरीक्षण करेगा, और बालिका निःसङ्कोच एकाकी कितनी क्रीड़ा—कितना आनन्द— कितनी लीला करेगी। तब वही शुभ्रा, शीतला, मधुरा, पीयूषवरणा, आलोक-आनन्दमयी बालिकारूपिणी भक्ति—भक्त के हृदयासन पर मूर्तिमती अधिष्ठात्री देवी के रूप में उपविष्ट होकर हृदय-द्वार को खोल देती हैं। उसी समय जगत् आनन्दमय हो उठता है—हृदितन्त्र में शान्ति की शत

प्रेमधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। सभी उन आनन्दमयी की गोद में नृत्य कर रहे हैं यह देखकर भक्त कृतार्थ हो जाते हैं।

अतएव ज्ञान भक्तिपथ में बाधक नहीं है, बल्कि दोनों भाई-बहनों में बड़ी ही प्रीति है, कोई किसी को भी छोड़कर एक पल भी नहीं रह सकता। यदि किस को ज्ञानी के रूप में समझ रखे हो, अनुसन्धान करके देखो, पाओगे कि पीछे से भक्ति लज्जा और विनम्रता के साथ भैया का हाथ पकड़ कर खड़ी है। उसी प्रकार भक्त के हृदय में भी झाँक कर देखो तो पाओगे कि वहाँ भी भक्ति को गोद में लेकर ज्ञान ही बैठा हुआ है। भक्ति किसी कारण यदि सङ्कुचित होती है, तो ज्ञान भी सामने आकर खड़ा होता है। प्रेम की मूर्तिमती प्रतिमा सरला गोपबालिकाएँ भक्ति में उन्मत्ता होकर जिस दिन श्रीकृष्ण की बाँसुरी के स्वर से विवश होकर पूर्णिमा की रात में उनके पास दौड़ कर आयी थीं, श्रीकृष्ण ने ज्ञानहीना गोपबालाओं को कितने प्रकार से समझाकर भक्ति के उद्भ्रान्त उच्छ्वास को रोकने की चेष्टा की थी, उसी दिन ह्रस्वदीर्घबोधविवर्जिता ग्वाला की कन्याओं ने किस प्रकार से ज्ञान का परिचय देकर श्रीकृष्ण को निरुत्तर कर दिया था, वह श्रीमद्भागवत में द्रष्टव्य है। इसी कारण मैं कह रहा था कि एक का आधिक्य देखकर अन्य के अस्तित्व को अस्वीकार करने पर चलेगा कैसे ? एक की विद्यमानता से अन्य की विद्यमानता को अस्वीकार करने में कोई कारण नहीं है, क्योंकि उभय ही अच्छेद्य सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। सुतरां ज्ञान भक्ति का विरोधी नहीं है, वरन् ज्ञान ही भक्ति को अपने साथ लेकर आता है। तब एक

बात है, कि भक्ति आकर एकबार समस्त हृदय में फैल कर बैठ जाय, तो ज्ञान का क्या प्रयोजन है ? जिस व्यक्ति ने आम खाया है, उसको उसके रासायनिक विश्लेषण का प्रयोजन नहीं है। ज्ञान अकेले ही जहाँ-तहाँ जा सकता है, किन्तु छोटी बहन को वह क्यों जाने देगा,—वरन् उसके अकेले ही इधर-उधर जाने पर ज्ञान उसे डरा-धमकाकर वापस लायेगा। ज्ञान के बिना भक्ति कहीं भी नहीं जा सकती। सुतरां ज्ञान भक्ति का विरोधी नहीं है—भक्ति का प्रतिष्ठाता है। हाँ, भक्ति के प्रतिष्ठित हो जाने पर फिर ज्ञान का प्रयोजन नहीं होता। उस समय भक्ति ही नाच-नाचकर हँस-हँसकर कितनी रंग-बिरंगी क्रीड़ाएँ करती फिरती है।

ज्ञान का अर्थ है, ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास। कुछ किताबें पढ़ लेना या कुछ बातों को जान लेना ही ज्ञान नहीं है। संशयशून्य होकर भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास करने को या सीधे शब्दों में ईश्वरसत्ता की उपलब्धि को ही ज्ञान कहते हैं। सन्देह रहे, तो किस प्रकार भक्ति-भावना उस हृदय में ठहर सकती है ? सुतरां ज्ञान के बिना जो भक्ति नहीं आ पाती है, वह अविसंवादिरूप से प्रमाणित हुआ। जब कर्मयोग के द्वारा चित्त परिशुद्ध होगा, ज्ञानयोग द्वारा आत्म-परमात्मज्ञान होगा, तभी भक्ति आकर हृदय पर अधिकार कर अपना आसन जमा कर बैठ जायेगी।

इस भक्ति के द्वारा ही एकमात्र भगवान् लभ्य होते हैं। जीव की शक्ति ही कितनी है कि वह अनन्त शक्तिमय पर अधिकार कर सकता है ? जीव का कितना ही ज्ञान है कि वह जुगनूँ होकर सूर्य

को प्रकाशित कर सकेगा ? सुतरां एकमात्र भक्ति के अतिरिक्त जीव के पास क्या उपाय है ? भगवान् ने अपने मुख से ही भक्ति और भक्त की श्रेष्ठता दिखाते हुए कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ९/३०-३१

—हे अर्जुन ! अति दुराचारी व्यक्ति भी यदि अनन्यचेता होकर मेरा भजन करता रहे, तो उसे साधु के रूप में समझना होगा, वह सम्यक् ज्ञानवान् हुआ है। जो इस प्रकार मेरा भजन करता है, सो शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायेगा एवं नित्यशान्ति प्राप्त करेगा। हे कौन्तेय ! तुम यही जानो—मेरा भक्त कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता।

भक्त अविनाशी है। वह भक्त कैसा होता है ? भगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

यो न हृष्यति न् द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२/१३-२०

—जो भक्तिमान् व्यक्ति द्वेषशून्य, कृपालु, ममताविहीन, निरहङ्कार, सुखदुःख में समज्ञान, क्षमावान् , सतत प्रसन्नचित्त, अप्रमत्त, जितेन्द्रिय और दृढ़निश्चय हैं, जिन्होंने मुझमें ही मन और बुद्धि को समर्पित कर दी है, वे ही मेरे प्रिय हैं। जनसमूह जिनसे उद्विग्न नहीं होता, लोगों से जो उद्विग्न नहीं होते और जो अनुचित हर्ष, विषाद, भय और उद्वेगशून्य हैं वे ही मेरे प्रिय हैं। जो निःस्पृह हैं, शुचि, दक्ष, पक्षपातरहित व मनःपीड़ाशून्य एवं सर्व-उद्यमपरित्यागी हैं, जिन्होंने सकाम कर्मसकल का परित्याग किया है, वे ही मेरे प्रिय हैं। जो शोक, हर्ष, द्वेष, आकाङ्क्षा और पाप-पुण्य का परित्याग कर भक्तिमान् होते हैं, वे ही मेरे प्रिय हैं। जो सर्व आसक्ति परित्यागपूर्वक शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दुःख, निन्दा और प्रशंसा को तुल्यरूप से विवेचना करते हैं और जो मौनी हैं, जो यत्किंचित् लाभ से सन्तुष्ट होते हैं, किसी भी स्थान पर हर समय वास

नहीं करते एवं स्थिरमति और स्थिरभक्तिसम्पन्न हुए हैं, वे ही मेरे भक्त हैं। जो मत्परायण होकर परम श्रद्धा के साथ उक्त प्रकार धर्मरूप अमृत का पान करते हैं, वे ही मेरे अतीव प्रिय हैं।

पाठक ! भक्त होने के लिए किन-किन गुणों की आवश्यकता है समझ गये न ? केवल चुंडी-चोटी की बहार, कण्ठीबन्धन या गोपीमृत्तिकालेपन करने से ही भक्त नहीं हुआ जाता। भक्त के उपरोक्त लक्षण होने चाहिएँ। और सिर्फ आँखें मूँदकर भेटकी मछली के समान बीच-बीच में 'हा' करने और "गोपीबल्लभ" "प्राणवल्लभ" की ध्वनि निकालने से ही भक्ति की साधना नहीं होती। भगवान् ने श्रीमुख से कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२/६-७

—जो मुझमें समस्त कर्म समर्पणपूर्वक मत्परायण होकर अनन्य पराभक्ति द्वारा मेरा ही ध्यान और उपासना करते हैं, मैं उन्हीं सकल व्यक्तियों को अचिरकाल में ही मरणशील संसार-सागर से उद्धार किया करता हूँ।

अतएव भक्ति ही भगवदाराधना का प्राण है। भक्तिविहीन व्यक्ति के तप, जप, उपासना बन्ध्यानारी में सन्तान उत्पादन की चेष्टा के समान विफल है। प्रकृत साधक भक्ति के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य

की आकाङ्क्षा नहीं करते। भक्ति में भक्त की अवस्था भाषा के में व्यक्त करना विडम्बना मात्र है।

भक्ति की साधना में क्रम से प्रेमभक्ति का उदय होता है। उस समय भक्त शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ता प्रभृति प्रेम की उच्चस्तरीय माधुरी लीलाओं में विभोर हो जाते हैं। साधक सर्वत्र ही भगवान् के अस्तित्व के दर्शन करते हैं। तब वे जान पाते हैं कि,—

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।
द्रष्टव्यमात्मवत् तस्मादभेदेन विचक्षणैः॥

—विष्णुपुराण, १/१७/८४

विश्वजगत् सर्वभूत विष्णु का विस्तार मात्र है। विचक्षण व्यक्ति इसी कारण सभी को अपने साथ अभेद देखेंगे। किन्तु भेदज्ञान के रहते ही कभी भी भक्ति का अधिकारी नहीं हुआ जा सकता। पूराण की हर-गौरी मूर्ति ज्ञान और भक्ति की जाज्वल्यमान दृष्टान्त हैं। महादेव ज्ञानमूर्ति हैं, किन्तु गौरी प्रेममयी हैं। तभी उनके त्याग की कर्कशता को गौरी ने प्रेम के माधुर्य से उज्ज्वल कर रखा है। आलोक यदि फानुस (चिमनी) द्वारा आवरित न हो, तो किञ्चित् कर्कश और अनुज्वल प्रतीत होता है; किन्तु फानुस द्वारा आच्छादित कर देने से कितना स्निग्ध और उज्ज्वल आलोक निकलता है। उसी प्रकार ज्ञान प्रेम के फानुस द्वारा आवरित होने पर वही ज्ञानालोक स्निग्ध और मधुरोज्ज्वल ज्योतिः विकीर्ण कर साधक को तृप्त करेगा।

भक्तियोग सिद्ध होने पर भक्त तब भक्ति के बल से—प्रेम के बल से—जगद्रूपी जगन्नाथ को अपने में लय कर लेते हैं।

भक्तितत्त्व

जीवात्माएँ परमात्मा की भिन्न-भिन्न विकास मात्र हैं। अतएव जीव मात्र ही भगवान् के अपने ही लोग हैं, अतः भगवद्भक्ति जीव का स्वभाव-धर्म है। माया के आवरण से आत्मा का स्वरूप और तदीय स्वाभाविक धर्म आवरित होने से, जीव विभ्रान्त होकर भटक रहा है। किन्तु दयासागर भगवान् ने बद्धजीव के स्वभाव में ऐसा एक अभाव भर दिया है, कि जिसके अनुरोध से कालक्रमानुसार वह अपने स्वकीय विस्मृत सम्पद के अनुसन्धान में प्रवृत्त होता है एवं सही अर्थ में भगवान् का भक्त हो उठता है। जो भी हो, विकृत बद्धजीव के स्वभाव में वह सार्वभौम अभाव क्या है, इस विषय में प्रणिधान करते ही भगवद्भक्ति का स्वरूप उपलब्ध करने में विशेष सुविधा होगी।

जिसके द्वारा शब्द-स्पर्शादि विषयप्रपञ्चों से अवगत हुआ जाता है, वही **इन्द्रिय** है। यह इन्द्रिय बाह्यान्तरभेद के अनुसार दो प्रकार की है—अन्तःकरण और बाह्यकरण। बाह्येन्द्रिय भी ज्ञान और कर्म के आधार पर दो भागों में विभक्त है। प्रत्येक इन्द्रिय के एक-एक अधिष्ठात्री देवता हैं, इनके प्रसाद से इन्द्रियाँ सामर्थ्यलाभ कर अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख होकर कार्य करने के लिए अग्रसर होने में समर्थ होती हैं। इन समुदाय इन्द्रियाँ और तत्तदधिष्ठात्री देवताओं के विषयान्तर में मिलने हेतु एक स्वाभाविक शक्ति है। इसके अनुरोध से ही वे संसार-दशा में निश्चिन्त होकर स्व-स्वरूप में

अवस्थिति नहीं कर पाती हैं। यह परानुरक्ति शक्ति और किसी का भी अर्जित नहीं है; सृष्टि के उपक्रम में विधाता ने यह शक्ति-प्रदान करके ही विश्व-संसार की रचना की है। केवल इन्द्रियादि की ही बात क्यों करें ? परमाणु से लेकर परम महत्तत्त्व तक सभी उक्त वृत्ति के अनुरोध से अवशभाव से दूसरे के साथ मिलने के लिए आकाङ्क्षा प्रकट कर रहे हैं। विराट पर्वत वायवीय अणुसमुदाय में मिलने के लिए रेणु-रेणु होकर सूक्ष्म-सूक्ष्म बालुका कणों में परिणत हो रहे हैं; फिर बालुकामय सूक्ष्म-सूक्ष्म अणुसमूह परस्पर मिलकर कालक्रम से पर्वताकार में पर्यवसित हो रहे हैं। मृत्तिका वृक्ष के रूप में एवं वृक्ष मृत्तिका के रूप में रूपान्तरित होकर परस्पर के साथ सम्मिलन का परिचय दे रहे हैं। चराचर जगत् का प्रत्येक पदार्थ ही जो इस प्रकार से रूपान्तरित होकर पदार्थान्तर में परिणत हो रहा है, वह उक्त परमानुरक्ति के फल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

जगत्पिता जगदीश्वर ने सृष्टिकाल में सृष्ट पदार्थसमूह में ऐसा एक अभाव भर दिया है, जो सार्वभौम और सातिशय सुस्पष्ट है। इस अभाव के पूरणार्थ स्थावर जङ्गम यावतीय पदार्थ परस्पर को आलिङ्गन कर रहे हैं और जब आलिङ्गित पदार्थों से आशा पूर्ण न हुई ऐसा स्पष्ट वह समझ रहा है, तभी फिर उसी में से विश्लिष्ट होकर अन्य पदार्थों के लिए आकाङ्क्षा प्रकट कर रहा है। प्राकृत सभी वस्तुएँ उसी अद्वितीय अभाव के द्वारा सृष्ट हैं; सुतरां जगत् के अभावमय किसी पदार्थ के द्वारा किसी का भी कोई अभाव कभी पूरा होने वाला नहीं है। दूसरे के पास अपने अभाव की पूर्णता हेतु जाने पर जिस परिमाण में अभाव

की पूर्णता होती है, उसकी अपेक्षा अधिक परिमाण में दूसरे का अभाब पूरण करने में स्वयं को अन्तःसारशून्य होना पड़ता है। प्रेम या स्नेहजनित सुख के पूरणार्थ पत्नी या पुत्र के साथ सङ्गत होने पर जिस परिमाण में आनन्द खुद के लिए संग्रह होता है, उसकी अपेक्षा सहस्रगुण यत्नद्वारा पुत्रकलत्रादि के भरणपोषण में आपको अवसन्न और भग्नोद्यम होना पड़ता है। अतएव अभावमय प्राकृत पदार्थों द्वारा किसी का भी स्वाभाविक अभाव दूर होने वाला नहीं है। फिर भी जिन्होंने अभाव से जगत् की सृष्टि की है, उनके पास ही इसके प्रतिकार की दवा है। अभाव पूरणार्थ इन्द्रियवर्ग की इस स्वाभाविक वृत्ति को ही आसक्ति या भक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। अभावविशिष्ट प्राकृत पदार्थ के प्रति इन्द्रियादि की गति होने पर उसे **आसक्ति** एवं सर्वाभाववर्जित अखण्डानन्दस्वरूप भगवान् के प्रति उनकी गति होने पर उसे **भक्ति** कहते हैं।

जीव का इन्द्रियवर्ग मायामय नश्वर जगत् में धावित होकर कुत्रापि चिरस्थायी तृप्तिलाभ नहीं कर सकता है; वे सब सन्तोषलाभ के लिए तात्कालिक सुखकर किसी पदार्थ के प्रति आसक्त तो होते हैं, किन्तु ज्यों ही उसमें अपनी तृप्तिलाभ का अभाव अनुभूत होता है, तभी उससे विरत होकर अन्य पदार्थ के साथ मिलन की आकाङ्क्षा करते हैं। जीव पूर्ण सुख के लिए कंगाल बना रहता है, वह सुख उसने भोग लिया है; पूर्णानन्दमय के आंशिक जगत् में वह किसी भी पदार्थ में वह सुख प्राप्त नहीं करता, अतः अपरितृप्त हृदय में सुख के लिए तृष्णार्त मृग के मरीचिका दर्शन की तरह संसार-मरुभूमि में भटकता

रहता है। परिवर्तनशील जगत् में इस प्रकार की विडम्बना भुगते-भुगते जब वह साधु-सङ्ग और शास्त्रादि की कृपा से समझ पाता है कि अभावविशिष्ट मायामय जगत्-प्रपञ्च से इन्द्रियवर्ग की क्षुधा-निवृत्ति का कोई उपाय नहीं है, तब तद्विषय से प्रतिनिवृत्त होकर अनन्त माधुर्य के उत्सस्वरूप परमपुरुष भगवान् में अनुरक्त होकर स्थिरता प्राप्त करता है। सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् में इन्द्रियवर्ग के लिए लोभनीय किसी भी विषय का अभाव नहीं है। जगत् में जहाँ भी और जो भी चित्ताकर्षक भाव विद्यमान है, तत्समुदाय ही उस सर्वकारण भगवान् के अनन्त रूप-रसादि का आभास मात्र है। तभी तो दैववशतः इन्द्रियवर्ग की उसके प्रति एकबार गति होने पर, उस अनन्त सुख का एकबार आस्वादन करने में समर्थ होने पर, फिर प्रत्यावृत्त होने की सम्भावना नहीं रहती है। तब पतितपावनी भागीरथी के जलप्रवाह के समान यावतीय बाधा-विघ्नों का अतिक्रमण कर इन्द्रियवर्ग शतमुख से भगवान् के माधुर्यसागर में लीन हो जाता है। सच्चिदानन्द रसमय भगवान् में इन्द्रियवर्ग की इस प्रकार की ऐकान्तिक प्रवणता को ही **भक्ति** कहते हैं।

प्रत्येक जीव का जीवनस्रोत प्रतिनियत अनन्त सच्चिदानन्दसागर में प्रवाहित हो रहा है। कोई भी एक पल भर के लिए स्वयं को परितृप्त समझ कर स्थिर नहीं रह पा रहा है। जीवन-प्रवाह उस प्रेमसागर में नहीं मिलने तक कोई भी निश्चिन्त नहीं हो सकेगा। फिर भी कोई-कोई धनैश्वर्य के अहङ्कार से, अथवा दो-एक बाह्यिक क्रियाओं के अनुष्ठान से, धर्म के अहङ्कार से, स्रोतावर्त्त में पतित होकर दो-चार दिन स्वयं

को तृप्त समझकर अभिमान करता है। किन्तु कुछ ही दिन इसी प्रकार व्यतीत कर अचिर ही अपने-अपने भ्रम को समझ लेते हैं; स्वभाव ही उसका अभाव को बताकर दानवों की तरह ताण्डव नृत्य करता रहता है। वह पुनः दौड़ना आरम्भ करता है। जीव कितने दिन पाप कर व्यतीत कर सकता है ? अतृप्ति उसे क्रमशः भीषणतर पाप में लिप्त करायेगी, नहीं तो स्वभाव उसे उसका भ्रम समझाकर अनुताप की नरकाग्नि में निक्षेप करेगा। वह दावदग्ध हरिन के समान पूर्णानन्दसागर की ओर दौड़ेगा। धनीसम्प्रदाय का बाह्य अभाव अल्प है; तभी तो वे उच्च जीव होकर भी पशु के समान अन्ध हैं। तभी तो वे मलमूत्र-हाड़मांस के पिञ्जरे में नृत्यगीत में कुछ अधिक दिन भूले रहते हैं—जीवन-स्रोतावर्त्त का अतिक्रमण कर अग्रसर नहीं हो पाते हैं। किन्तु रोग-शोक या अन्य कारणों से एकबार मोह का चश्मा खोलते ही सब छोड़कर अधिकतर वेग से उस नित्यानन्दसागर की ओर वे दौड़ पड़ते हैं।

अहा ! प्रेममय भगवान् की क्या कारुणिक व्यवस्था है ! सन्तान अपनी स्नेहमयी माता पर सैकड़ों अत्याचार-उत्पीड़न करने पर भी जिस प्रकार स्नेहमयी माता सन्तान को सर्वदा मङ्गल-पथ पर चलने को आशीर्वाद देती है, उसी प्रकार मङ्गलमय भगवान् मोहमुग्ध जीवों को—वे उनके अहेतुक प्रेम भूलकर असार वस्तु के प्रति मत्त हुए रहने पर भी—सर्वदा मङ्गल पथ की ओर खींच रहे हैं। प्रायः बद्ध जीव उनकी इस मङ्गलमयी व्यवस्था का रहस्य न समझ पाकर उन्हें निष्ठुर प्रभृति शब्दों से विशेषित करते हैं। भगवान् की जो शक्ति जीव को सर्वदा अनन्त उन्नति के पथ—पूर्ण मङ्गल और आनन्द के पथ की

ओर आकर्षित करती है, वही **कृष्ण** है। और जिसके द्वारा हम उनकी ओर आकृष्ट होते हैं, वही **भक्ति** है।

व्यावहारिक जीवों का पुत्रादि के प्रति जिस प्रकार अपने आप ही प्रेम जन्मता है, उसी प्रकार जन्मान्तरीण संस्कारवश साधुसङ्ग संघटन मात्र से ही किसी-किसी भाग्यवान् व्यक्ति के हृदय में स्वाभाविक भक्ति का सञ्चार हो जाया करता है। उस समय भक्त दरिद्रजनों के अपहृत महामणि-चिन्तन के समान केवल भगवान् के परिचिन्तन में ही नियत कालातिपात करते हैं। सर्वगुणसम्पन्न उपयुक्त एकमात्र पुत्र की मृत्यु में अनाथा वृद्धा जननी का जिस प्रकार निदारुण सन्ताप उपस्थित होता है, भक्ति के उद्रेक मात्र से ही भगवद्भक्तों का भी ठीक उसी प्रकार दुर्विषह विरहव्यथा उपस्थित हो जाती है। सीधे शब्दों में स्नेहमयी माता पुत्रचिन्ता में, पतिव्रता सती पतिचिन्ता में और कृपण धनचिन्ता में जिस प्रकार सर्वदा व्याकुल रहते हैं, सर्वचिन्ता परित्याग कर ठीक उसी प्रकार भगवच्चिन्ता में व्याकुल रहने का नाम ही **भक्ति** है। यथा—

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमेव-
तदेव च नैष्काम्यमिति।

—गोपालपूर्वतापनी

ऐहिक और आमुष्मिक (पारलौकिक) भोग की लालसा परिहारपूर्वक भगवान् में चित्त समर्पण कर निरन्तर तद्भाव से भावाक्रान्त रहना ही भक्ति है। यह भक्तिक्रिया ही नैष्काम्यभाव के रूप में अभिहित होती है; सुतरां भक्ति स्वरूपतः निर्गुणा होती है। किन्तु जब प्रकृति के

गुणत्रय का अवलम्बन कर प्रकाशित होती है; तब सगुणारूप में अभिहिता होती है। यथा—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥

—श्रीमद्भागवत, ३/२९/७

—पुरुष के गुणमय स्वभावभेद से तन्निष्ठ भक्ति में भी भेद हो जाता है, अर्थात् सत्त्वादि गुणों के तारतम्य से जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसकी भक्ति भी तदनुरूप होती है।

यह गुणमयी भक्ति प्रधानतः तीन श्रेणियों में विभक्त है; तामसी, राजसी और सात्त्विकी। इस त्रिविध गुणमयी भक्ति में प्रत्येक फिर तीन-तीन अंशों में विभक्त होकर शास्त्र में नवविधा भक्ति के नाम से उल्लिखित हुई है।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः॥

—श्रीमद्भागवत, ३/२९/८

—तामस-स्वभाव व्यक्तिगण हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य के वशीभूत होकर दूसरों के अहित साधनार्थ भगवान् के प्रति भक्ति किया करते हैं। इस समुदाय भिन्नदर्शी व्यक्तियों की भक्ति ही **तामसी** के नाम से अभिहिता होती है।

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥

—श्रीमद्भागवत, ३/२९/९

—रजोगुणप्रधान-स्वभाव व्यक्तिगण यशः अथवा ऐश्वर्यलाभ के अभिप्राय से प्रतिमादि में भगवान् की अर्चना करते हैं। ये भी भक्ति के अतिरिक्त अन्य विषयों की आकाङ्क्षा करते हैं। इनकी भक्ति ही **राजसी** नाम से अभिहिता है।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥
—श्रीमद्भागवत, ३/२९/१०

—सत्त्वगुणप्रधान-स्वभाव व्यक्तिगण स्वीय कर्मक्षय मानस से, भगवान् में कर्म समर्पण कर अथवा स्वाश्रम-धर्मवत् भगवदर्चना भी कर्तव्य है, ऐसा समझ कर स्व स्व वर्णाश्रम-धर्मानुष्ठान के साथ श्रवण-कीर्तनादि भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। ये भी भक्ति के अतिरिक्त मोक्ष की कामना करते हैं। इन सब भक्तों की कर्मादिमिश्रा भक्ति ही **सात्त्विकी** कहलाती है।

अपने-अपने उद्देश्य पूरणार्थ जो सकामा भक्ति है, वही **सगुणा** है। और अविद्यावृत्तिशून्य चित्त से, अपहृत महामणि की पुनःप्राप्ति की आकाङ्क्षा के समान परमात्मसमागम की जो ऐकान्तिक कामना है, वही **निर्गुणा** भक्ति है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥
—श्रीमद्भागवत, ३/२९/११-१४

जिस प्रकार पतितपावनी गङ्गा का जल-प्रवाह समुदाय बाधा-विघ्न का अतिक्रमण कर निरन्तर शतमुख से धावित होकर महासमुद्र में सम्मिलित हो रही है, उसी प्रकार जो चित्तवृत्ति ज्ञानकर्मादि व्यवधानसमुदाय का अतिक्रमण और यावतीय फलाभिसन्धि का विसर्जन देकर स्वतः ही सर्वभूतान्तर्यामी भगवान् के साथ सर्वदा सङ्गत हो रही है, उसी को निर्गुणा भक्ति कहते हैं। इस भक्ति में किसी प्रकार की कैतववाञ्छा* नहीं है, यह सातिशय निर्मल एवं यावतीय भक्तियों में श्रेष्ठ है। जन्मान्तरीण भक्तिसंस्कारविशिष्ट किसी-किसी भाग्यवान् व्यक्ति के हृदय में भगवद्गुण श्रवणमात्र से स्वयं ही इस भाव का उदय होता है। इस प्रकार के शुद्ध भक्त की कोई कामना नहीं रहती है, यहाँ तक कि उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं एकत्व (सायुज्य) इन सभी मुक्ति देने चाहने पर भी वे भगवान् की सेवा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। इस प्रकार की भक्ति ही आत्यन्तिक कही जाती है, उससे बड़ा परमपुरुषार्थ दूसरा नहीं है। त्रैगुण्य परित्याग करके ब्रह्म-प्राप्ति परम फल के नाम से प्रसिद्ध तो है, किन्तु वह भगवद्भक्ति का आनुषङ्गिक फल ही है, भक्तियोग से ही त्रिगुण अतिक्रमण कर ब्रह्मत्व-प्राप्ति हुआ करती है।

---

* कैतव=धोखा या छल।

मन ही बाह्येन्द्रियसमुदाय का अधिपति है; मन जब जिस ओर धावित होता है, तदनुगत इन्द्रियाँ भी उस समय स्व स्व विषयग्रहण के निमित्त उसी ओर अग्रसर हुआ करती हैं। सुतरां अन्तःकरण सर्वोपाधि परिहारपूर्वक भगवान् की ओर धावित होने पर, अपरापर इन्द्रियाँ भी निष्क्रिय भाव का अवलम्बन करेगीं, ऐसा नहीं है। वे भी मन की अधीनता में भगवान् के अभिमुख अग्रसर होकर स्व स्व भावोपयोगी सेवा ग्रहण करेगीं। अतएव सर्वप्रकार उपाधि विसर्जन करके सारे इन्द्रिय-व्यापार द्वारा निरन्तर भगवान् की सेवा करने से ही वह निर्गुणा भक्ति के नाम से अभिहित हुआ करती है।

यहाँ तक भक्ति का जो समुदाय तारतम्य वर्णित हुआ है, उस समुदाय को प्रधानतः दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है; पहली—गुणमयी या गौणा अथवा अपरा, दूसरी—निर्गुणा, मुख्या अथवा परा। प्रथमा गुणमयी सात्त्विकी भक्ति सत्त्वगुण से विच्युत होकर भक्त को निर्विशेष ब्रह्मसुख का अनुभव कराती है एवं द्वितीया निर्गुणा भक्ति परिपाकदशा में प्रेमभक्ति नाम से अभिहिता होकर भक्त को सच्चिदानन्दमय भगवद्रूपगुणलीला-माधुर्यरस का आस्वादन कराकर चरितार्थ कराती है। अतएव स्वीकार्य है कि ब्रह्मसुखानुभव-दशा की पूर्ववर्ती यावतीय दशा में भक्त पर माया का अधिकार रहता है।

गुणमयी भक्ति समुदाय में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर क्रमशः अधिक श्रेष्ठ है। इनमें सात्त्विकी भक्ति श्रेष्ठ होने पर भी शुद्ध भक्तगण इसके प्रति आदर प्रकट नहीं करते, कारण इसमें भगवान्

और भगवद्भक्ति के अतिरिक्त अन्य फल की आकाङ्क्षा है। सात्त्विकी भक्ति किसी-किसी साधक में ज्ञानोत्पादन किया करती है। "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्" अर्थात् सत्त्व से ज्ञान जन्मता है; सुतरां इस भगवद्वाक्य द्वारा प्रमाणित होता है, सात्त्विकी भक्ति का ज्ञानोत्पादन असम्भव नहीं है। ज्ञान जन्मने से स्वतः ही कर्म-वैराग्य का उदय होता है; सुतरां तदवस्था में भक्त कर्म परित्याग करके ज्ञानमिश्रा भक्ति को प्राप्त करते हैं। अनन्तर परिपाकदशा में ज्ञान विषय का अनादर होने पर वह स्वयं ही अन्तर्हित हो जाता है। तब भक्त निर्गुण शान्तरति प्राप्त कर शुद्ध भक्तों में परिगणित होते हैं। ज्ञानप्राधान्यवशतः एतादृश भक्त सायुज्यमुक्ति को प्राप्त करते हैं। सात्त्विकी भक्ति के अधिकारी जो सारे भक्त अश्वमेधादि कर्मसमूह का फलों के साथ भगवान् में समर्पण करके भक्ति प्रकट करते हैं, वे सुखैश्वर्यमय सालोक्यमुक्ति को प्राप्त होते हैं; किन्तु जो लोग कर्मफल अर्पण न करके केवल अनुष्ठित कर्मसमुदाय समर्पणपूर्वक भगवान् में भक्ति प्रकट करते हैं, वे परिणाम में शान्तरति लाभ किया करते हैं। राजसी और तामसी भक्ति में काम्यफल प्राप्त होने से फिर भक्ति विद्यमान नहीं रह जाती; सुतरां अभिलषित फल ही उसका चरम फल है। कदाचित् किसी-किसी भक्त को काम्य फल प्राप्त होने पर भी भक्ति विद्यमान रहती है; वे भगवत्कृपा से परिणाम में निर्गुण शान्तरति प्राप्त किया करते हैं।

निर्गुणा भक्ति भी प्रधानतः दो अंशों में विभक्त है, एक—प्रधानीभूता या ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा, अपर—केवला या रागात्मिका। कर्मादिमिश्रा

सात्त्विकी भक्ति ही परिपाकदशा में सत्त्वगुण परिहार कर प्रधानीभूताख्या निर्गुणा भक्ति में पर्यवसित होती है। सुतरां इसकी अपक्वदशा गुणमयी एवं परिपाकदशा निर्गुणा है। किन्तु केवला भक्ति ऐसी नहीं है; यह शुरु से ही निर्गुणा है; इसकी अपक्वदशा रागानुगा एवं परिपाकदशा रागात्मिका है। शान्त-दास्यादि रसभेदों से प्रधानीभूता भक्ति पाँच श्रेणियों में एवं केवला भक्ति चार श्रेणियों में विभक्त हैं। महिमा ज्ञान से प्रीति सङ्कुचिता होती है, जिससे प्रथमा भक्ति की अपेक्षा द्वितीया भक्ति श्रेष्ठ और अधिकतर विशुद्ध होती है। प्रेमसेवा में पूर्णतम आनन्दास्वादहेतु द्वितीया दास्यादि चतुर्विधा भक्ति में फिर शृङ्गाररसात्मक भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। यह व्रजवासी श्री राधिकादि गोपीगणों में नित्य विराजमान रहती है।

सभी प्रकार की भक्तियों की पुष्टि-योग्यता एक जैसी नहीं होती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की भक्ति भिन्न-भिन्न परिमाणों में पुष्टता को प्राप्त होती है। भक्ति के गुरुत्व-लघुत्व के अनुसार उसकी पुष्टता में भी तारतम्य होता रहता है। हाँ, मगर समुदाय निर्गुणा भक्ति की ही परिपुष्टि होकर रति और प्रेमस्वरूप में पर्यवसित होने की योग्यता रखती है। साधनभक्ति से रति का उदय होने से ही भक्ति रतिलक्षणा होती है; बाद में वही रति पक्वावस्था में प्रेमरूप में आत्मप्रकाश करने पर वह प्रेमलक्षणा हुआ करती है। इसी प्रेमलक्षणा भक्ति को ही प्रेमभक्ति कहते हैं।

अतएव गुणमयी भक्ति से निर्गुणा भक्ति की परिपक्वदशा तक अधम, मध्यम और उत्तम-भेदों से भक्ति को **साधनभक्ति, भाव-भक्ति** तथा **प्रेमभक्ति** इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

साधनभक्ति

हम पहले ही कह चुके हैं, प्रेमभक्ति जीवमात्र का ही स्वाभाविक धर्म है। आवरिका मायाशक्ति द्वारा जीव का नित्य शुद्ध आत्मस्वरूप तथा तदीय विशुद्ध धर्म आवृत होने से जीव भूतग्रस्त मानव के समान विभ्रान्त हो गया है। साधुशास्त्रकृपा से विस्मृत नित्यसम्पद का उद्देश पाकर वह भगवद् अभिमुख होकर इन्द्रिय की प्रेरणा से स्वकीय हृदय में प्रेमभक्ति प्रकटित करने की चेष्टा करता है। इसी को ही **साधनभक्ति** कहते हैं। यथा—

कृतिसाध्या भवेत्साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२

इन्द्रियों की प्रेरणा अर्थात् श्रवण, कीर्तन और दर्शनादि द्वारा साधनीया सामान्य भक्ति को ही साधनभक्ति कहते हैं। इसके द्वारा भाव और प्रेम साध्य हुए हैं। "भाव और प्रेम साध्य है" यह कहने का मतलब यह नहीं कि कोई इसे कृत्रिम समझकर भ्रम में पतित हो जाय। वास्तविक भाव और प्रेम नित्यसिद्ध वस्तुएँ हैं, इसका कोई साधन नहीं है, सुतरां जीवों के हृदयस्थ प्रेमभक्ति को उद्दीप्त करने को ही साधन नाम से अभिहित किया गया है।

वैधी और रागानुगा के भेद से साधनभक्ति दो प्रकार की है। यथा—

यत्र रागानवाप्तत्वात्प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/६

राग की अप्राप्तिहेतु अर्थात् अनुराग उत्पन्न न हो, केवल शासन के भय से ही जिसमें प्रवृत्ति जन्मा करती है, उसी को **वैधीभक्ति** कहते हैं।*

भगवत्प्राप्ति के लिए रागहीन व्यक्ति की उग्र लालसा नहीं होती, केवल नरक के भय से ही भगवदाराधना किया करता है। सुतरां आरम्भिक-दशा में वह कदापि वर्णाश्रमधर्म का परित्याग नहीं कर पाता है, स्वाश्रम-धर्मानुष्ठान के समान भगवद्भजन भी कर्तव्य है, नहीं करने से शास्त्रविधि उल्लङ्घनवशतः प्रत्यवाय हो सकता है, ऐसा सोचकर विधि-भक्त स्वाश्रम-धर्म के साथ श्रवणादि भक्ति का अनुष्ठान किया करते हैं। अतएव वैधीभक्ति सात्त्विकी भक्ति का ही नामान्तर मात्र है। इस भक्ति में भगवान् में ऐश्वर्य ज्ञान विद्यमान रहता है। सुतरां विधिमार्ग का भक्त भगवान् के साथ कभी भी व्रजवासी भक्तों की तरह विशुद्ध प्रेमाचरण नहीं कर सकता है।

वैधीभक्ति अष्ट भूमिका में विभक्त है। वर्णाश्रमधर्मपरायण भाग्यवान् व्यक्ति प्रथमतः श्रद्धायुक्त चित्त से दीक्षागुरु के निकट नाम-मन्त्रादि ग्रहण करते हैं। इस समय वे कर्ममिश्रा भक्ति-साधन में उपदिष्ट होते हैं। इस सात्त्विकी भक्ति के अनुष्ठान से उनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर वर्द्धित होकर निष्ठा, रुचि प्रभृति में पर्यवसित हो जाया करती है। निष्काम कर्मयोग के साथ श्रवण-कीर्तनादि

---

* रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
वैधी भक्ति बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय॥
—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

भक्ति के अङ्ग यथावत् अनुष्ठित होने पर भक्त अवश्य ही ज्ञान का अधिकारी होकर निर्विकारचित्तता प्राप्त करते हैं। ज्ञान सात्त्विकी भक्ति का ही फल है। ज्ञानोदय होने पर कर्म स्वयं ही अन्तर्हित होता है, सुतरां तदवस्था में भक्त ज्ञानमिश्रा भक्ति के अधिकारी होकर ब्रह्मभूत और प्रसन्नात्मा होते हैं। सिद्धिदशा में इस विधिमार्ग के भक्त निर्गुण शान्तरति प्राप्त कर शान्त और आत्माराम भक्तों में परिगणित होते हैं। इसी शान्त आत्माराम भक्तों की निर्गुणभक्ति प्रधानीभूत के नाम से विख्यात है। ये निर्वाणवाञ्छाशून्य हैं, सुतरां चतुर्विधा मुक्तिलाभ कर वैकुण्ठ, कैलासादि भगवल्लोकों में गमन करते हैं।

इस शान्त आत्माराम भक्त की कर्म-ज्ञानादिशून्या भक्ति-श्रद्धा भी निर्गुणा तो होती है, किन्तु केवला नहीं होती। साधकावस्था में इस भक्त की भक्ति में महिम-ज्ञान प्रबल होने से, सिद्धिदशा में भी वह अपगत नहीं होती। सुतरां उनकी इस भक्ति केवला नहीं कही जा सकती। अब रागानुगा भक्ति कैसी होती है, उसे देखना चाहिए।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२७०

अभिलषित वस्तु में जो स्वाभाविकी-परम आविष्टता अर्थात् प्रेममय तृष्णा है, उसी का नाम है राग। वही रागमयी जो भक्ति है, उसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इसी रागात्मिका भक्ति की अनुगता जो भक्ति है, उसका नाम **रागानुगाभक्ति** है। यथा—

रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२६८

वाञ्छित प्रियजन के प्रति चित्त की जो प्रेममयी तृष्णा है, वही राग का स्वरूपलक्षण है एवं रागानुरोध में यह अभीष्ट प्रियजन का नियत अनुध्यान ही उसका तटस्थलक्षण है। रागस्वरूपा भक्ति को ही रागात्मिका कहते हैं। रागात्मिका भक्ति व्रजवासी भक्तों में परिस्फुट भाव से वर्तमान है। उनकी उसी भक्ति का अनुसरण करने से ही वह रागानुगा के नाम से आख्यात होती है। अतएव व्रजवासी भक्तों के प्रेमाचरण के अनुकरण से भगवान् की आराधना को ही रागानुगा भक्ति कहते हैं।

रागानुगा रागात्मिकाभक्ति का ही अनुकरण मात्र है। एक साधन है, अपर साध्य है। रागानुगाभक्ति ही परिपाकदशा में रागात्मिका-भक्ति के नाम से अभिहित होती है। सुतरां रागानुगाभक्ति को रागात्मिका कल्पलतिका का प्रथमोद्भिन्न सुकोमल स्कन्धस्थानीय कहा जा सकता है। प्रथमा भक्ति का विषय व्रजवासिभक्तस्वरूप गुरु एवं आश्रय तदनुगत शिष्य है; और द्वितीया भक्ति का विषय व्रजविहारी श्रीकृष्ण एवं आश्रय व्रजवासी भक्त हैं। प्रथमा भक्ति का विषयाश्रय प्रपञ्चजगत् के अन्तर्गत है, प्राकृत देहधारी होकर भी अप्राकृत भाव से अन्तर्देह से भूषित है; और द्वितीया भक्ति का विषयाश्रय प्रपञ्चजगत् के अतीत, और आनन्दचिन्मय प्रेमरस से अधिष्ठित है। जब रागानुगाभक्ति परिपुष्टा होकर रागात्मिकाभक्ति में पर्यवसित होती है तब रागानुगाभक्ति विषयाश्रय

और सिद्धिलाभ करके रागात्मिका भक्ति के विषयाश्रयरूप में आत्मप्रकाश करती है।

रागानुगाभक्ति प्रधानतः दो भागों में विभक्त है; एक सम्बन्धानुगा, अपर कामानुगा। जो लोग श्रीनन्द-यशोदादि गुरुवर्ग अथवा श्रीदाम-सुवलादि वयस्यवर्ग की तरह श्रीकृष्ण के बाह्यलीलारस सुस्वाद के लिए अभिलाषी हैं, उनके उसी स्व स्व सम्बन्धानुरूप भक्ति को **सम्बन्धानुगा** कहते हैं। अपर जो लोग गोपी या महिषियों की तरह श्रीकृष्ण के साथ शृङ्गार-रसास्वादन के अभिप्राय से तदनुरूप भाव का अनुकरण करते हैं, उनकी उसी कामात्मिका भक्ति को ही **कामानुगा** कहते हैं। पुनः कामानुगा भक्ति दो भागों में विभक्त है; एक सम्भोगेच्छामयी, अपर तद्भावेच्छामयी। जो लोग महिषियों के भावानुगत हैं, उनकी भक्ति को **सम्भोगेच्छामयी** भक्ति कहते हैं, इस भक्ति में महिषियों के समान कियत्परिमाण में स्वसुख-वाञ्छा, महिमज्ञान एवं लोकधर्मापेक्षा प्रभृति भक्तिरोधक भाव विद्यमान रहते हैं। अपर जो लोग लोक-वेदादि यावतीय धर्म का परित्याग कर ऐहिक पारत्रिक सकल सुखसाधनों की जलाञ्जलि देकर गोपियों के निष्काम भाव और परम प्रेममय स्वभाव का अनुसरण करते हैं, उनकी उसी भक्ति को ही **तद्भावेच्छामयी** कहते हैं।

वैधीभक्ति की तरह रागानुगा भक्ति भी अष्ट भूमिकाओं में विभक्त है। साधु-शास्त्रमुख से भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य एवं भगवद्भक्ति के श्रेष्ठ भावादि माधुर्य का श्रवण कर किसी-किसी सौभाग्यशाली व्यक्ति के अन्तःकरण में उसे पाने के लिए लोभ का सञ्चार होता है,

उस समय उसकी बुद्धि शास्त्र-युक्ति की अपेक्षा नहीं करती है, लोभनीय व्रजभाव की ही अभिलाषा करती है। रागात्मिकैकनिष्ठ व्रजवासी भक्तों की भावप्राप्ति के लिए लोभ जन्मने पर ही मनुष्य रागानुगा भक्तिसाधना के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार व्रजभाव-लुब्ध भक्त स्वकीय अभीष्टसिद्धि के निमित्त यथासाध्य उपायों का अन्वेषण करते हैं—साधु-शास्त्र के निकट तत्त्व की जिज्ञासा करते हैं। वे शास्त्रों की कृपा से अचिर ही जान पाते हैं कि, दीक्षागुरूपदिष्ट गुणमयी भक्ति के द्वारा व्रजभावप्राप्ति का उपाय नहीं है; व्रजवासी भक्तों के अनुग्रह से, शुद्ध प्रणयरज्जु द्वारा उनके हृदय आकर्षित करने से, व्रजभाव और व्रज के ईश्वर सुलभ होते हैं। सुतरां भक्त उसी अवस्था में केवल लोभपरतन्त्र होकर व्रजवासी भक्तों की कृपा की ओर ताकते रहते हैं। तब भक्त विहिताविहित यावतीय धर्म एवं श्रुत, श्रोतव्य समुदाय विषय का परित्याग कर तदीय श्रीचरणकमलों में आत्मसमर्पण करते हैं। इस प्रकार सर्वधर्म का परित्याग कर भगवत्स्वरूप श्रीगुरुचरणों में आत्मसमर्पण ही केवला भक्ति का प्रथम सोपान है।

वैधीभक्ति में श्रवण-कीर्तनादि जो सारे साधनाङ्ग कथित हैं, इस रागानुगाभक्ति में भी उनकी उपयोगिता दृष्ट होती है। भक्त इस भजनक्रिया द्वारा क्रमशः निष्ठा, रुचि प्रभृतियाँ प्राप्त कर भाव के अधिकारी हुआ करते हैं। जब तक भाव का आविर्भाव नहीं होता है, वहाँ तक वैधीभक्ति का अधिकार रहता है। यथा—

वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः।

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२९२

वैधीभक्ति और रागानुगाभक्ति में प्रभेद यही है कि भयप्रयुक्त शास्त्रविधि के अनुसार जो भजन है, उसका नाम वैधीभक्ति है, और लोभप्रयुक्त विधि मार्ग से जो भजन है, उसका नाम रागानुगाभक्ति है। वैधीभक्ति नवोदित चन्द्रबिम्ब की सुकोमल मृदु रश्मि है, और रागानुगाभक्ति त्रिजगन्मनोहर बालसूर्य की उज्ज्वल प्रभा है। प्रथमा भक्ति जिस प्रकार धीरे-धीरे भक्त को निर्गुणावस्था में लाती है, उत्तरा भक्ति की क्रिया वैसी नहीं है; वह शीघ्र भक्त को निर्गुणभाव प्रदान करती है। जिस प्रकार चिन्तामणि के स्पर्श से लोहा स्वर्णत्व प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस विशुद्ध भक्ति के प्रभाव से गुणमय भक्त का हृदय भी अचिर में मायातीत होकर भावभक्ति का अधिकारी हो जाता है।

भावभक्ति

श्रद्धापूर्वक साधनभक्ति का उत्कर्षसाधन कर क्रमशः निष्ठा, रुचि प्रभृति प्राप्त कर परिपक्वदशा में भाव के प्राप्त होने पर, वही भावभक्ति के नाम से अभिहित होती है। व्रजभाव से लोभप्रयुक्त रागानुगाभक्ति की साधना करते-करते भक्त परिपाकदशा में भावभक्ति का अधिकारी हुआ करते हैं। भक्तियोग के श्रेष्ठ महाजन ने कहा है—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।
—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, ३/१

विशेष शुद्धस्वरूप, प्रेमरूप सूर्यकिरण के सादृश्यशाली एवं रुचि अर्थात् भगवत्प्राप्त्यभिलाषा, तदीय आनुकूल्याभिलाषा और सौहार्द्यभावाभिलाषा द्वारा चित्त की स्निग्धताकारिणी जो भक्ति है, उसी का नाम **भाव** है।

सूर्य उदित हो रहे हैं, ऐसे समय में जिस प्रकार किरण थोड़ा-थोड़ा प्रकाश पाता है, उसी प्रकार प्रेम की प्रथमावस्था को भाव कहा जाता है, कारण यही भाव क्रमशः प्रेमदशा को प्राप्त करेगा। यथा—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, ३/२

प्रेम की प्रथमावस्था को ही भाव कहा जाता है, इसमें अश्रुपुलकादि सात्त्विक भावसकल का अल्पमात्र उदित हुआ रहता है। महत्सङ्गवशतः जो लोग अतिशय भाग्यवान् हैं, उनके सम्बन्ध में यह भाव दो प्रकार के हैं, एक—साधन में अभिनिवेश, द्वितीय—भगवान् एवं भगवद्भक्त का अनुग्रह। इनके बीच साधनाभिनिवेशज भाव प्राय सभी का हुआ करता है, किन्तु द्वितीय भाव अतिविरल है, अर्थात् प्रायः ही प्राप्त नहीं होता है।

और वैधी तथा रागानुगा-मार्ग के भेद से साधनाभिनिवेशज भाव दो प्रकार के हैं। इनके बीच वैधी साधनाभिनिवेशज भाव साधक व्यक्ति में रुचि उत्पादन कर एवं भगवान् में आसक्ति जन्माकर रति को आविर्भूत करता है। इस स्थल पर रति को भाव समझना होगा,

वह कदापि प्रेमबोधक नहीं है। रति और भाव के सामान्यार्थताप्रयुक्त भक्तिशास्त्र में वह उभय एकरूप में कथित हुआ है। रागानुगा साधनाभिनिवेशज भाव पहले से ही रतिलक्षणा है, सुतरां यह क्रमशः परिपुष्ट होकर प्रेमभक्ति में पर्यवसित हो जाता है।

साधना व्यतिरेक सहसा जो भाव उत्पन्न होता है, उसी को भगवान् अथवा भगवद्भक्त के प्रसादजनित भाव के रूप में उल्लेख किया जाता है। जिनमें भाव का अङ्कुर मात्र जन्मा है, उन सभी व्यक्तियों में क्षान्ति, अव्यर्थकालता, विराग, मानशून्यता, आशाबद्ध, समुत्कण्ठा, नाम-गान में सर्वथा रुचि, भगवद्गुण-कथन में आसक्ति एवं उनके वसतिस्थल में प्रीति प्रभृति अनुभावसकल प्रकाशित होते हैं। अन्तःकरण की स्निग्धता ही भाव का लक्षण है।

भक्तलोगों में भेदवशतः ये भाव पाँच प्रकारों में विभक्त हैं; यथा—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ता। भगवान् भाव के विषयतारूप. में एवं भक्त आधारस्वरूप में अवलम्बन होते हैं। जो लोग नन्द-यशोदादि गुरुवर्ग की तरह अथवा श्रीदाम-सुदामादि वयस्यवर्ग की तरह किंवा गोपी-महिषियों की तरह भगवान् के साथ भाव का अनुकरण करते हैं, वे भावभक्ति के अधिकारी हैं। प्रथमतः साधुशास्त्रमुख से व्रजभाव का असामान्य माधुर्य सुनकर पञ्चभावों में किसी एक भाव को पाने का लोभ सञ्चारित होता है।

रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२९०

रागात्मिकैकनिष्ठ व्रजवासी भक्तों की भावप्राप्ति के लिए लोभ जन्मते ही मानव भावभक्ति का अधिकारी हो जाता है। भक्त भावावलम्बन कर प्रथमतः साधनभक्ति के द्वारा वैधी मार्गानुसार श्रवण-कीर्तनादि किया करते हैं। क्रमशः भावपुष्टि के साथ-साथ भक्त जान सकते हैं, कि भगवान् वास्तव में ही हमारे प्रभु हैं, पिता, सखा, पुत्र अथवा पति हैं; स्वकीय भाव के अनुसार भगवान् भाव के विषय हैं, यह निश्चितरूप से निर्धारित होने पर, उनकी बुद्धि फिर शास्त्र-युक्तियों की अपेक्षा नहीं करती है। तब वे सोचते हैं, कि "वे मेरे प्राण हैं,—मेरे प्राणों के प्राण हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए कठोर नियम-संयम, व्रत-उपवास या स्तव-स्तुति का क्या प्रयोजन है? मेरे कष्ट करने से क्या वे खुश हो सकते हैं? भगवान् किंवा भक्त की कृपा के अतिरिक्त भगवच्चरण-प्राप्ति का अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है।" तब भक्त विहिताविहित यावतीय धर्म एवं श्रुत-श्रोतव्य समुदाय विषयों का परित्याग कर तदीय श्रीचरण-कमलों में आत्मसमर्पण करते हैं। प्रेम-भक्ति के श्रेष्ठ महाजन कविराज गोस्वामी कहते हैं—

सेइ गोपीभावामृते जार लोभ जाय।
वेदधर्म त्यजिया से कृष्णके भजय॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के भक्तियोग से स्ववशीकारस्वरूप सर्वोत्कृष्ट लीला एवं उनकी साधुता की भी पराकाष्ठा का प्रदर्शन कर उनके द्वारा अनुष्ठित केवल भावभक्ति को प्रवर्तित करने के निमित्त उद्धव को कहा है—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥
—श्रीमद्भागवत, ११/१२/१४-१५

—हे उद्धव! तुम विहित एवं निषिद्ध कर्म, गृहस्थ और सन्न्यासी धर्म एवं श्रोतव्य तथा श्रुत-धर्म का परित्याग कर दास्य-सख्यादि जिस किसी भाव से मुझ में आत्मसमर्पण करो। इससे तुम्हारा कर्माधिकार और ज्ञानाधिकार नहीं रह जायेगा। ऐसा होने से मेरे द्वारा तुम निर्भय रहोगे।

प्रेमिकशिरोमणि रागवर्त्मोद्देशी गुरु भी भक्त के इस प्रकार के भक्तिदार्ढ्य और भावैकान्तिकता का दर्शन कर उन्हें भजनक्रिया प्रदान करते हैं। यह निगूढ़ा भजनक्रिया कर्मज्ञानादिशून्या, विशुद्धा एवं व्रजवासी भक्तों के निष्काम और प्रेममय स्वभावप्राप्ति के लिए एकान्त उपयोगिनी है। यह दो अंशों में विभक्त है; एक प्रतिकूलता का परिहार,अपर अनुकूलता का ग्रहण। अविद्या और तज्जनित इन्द्रियादि की प्रतिकूलता से आत्मरक्षा कर क्रमशः उनके वशीकरण प्रथमाङ्ग के अन्तर्गत एवं अनुकूल इन्द्रियों के सहारे से नित्यसिद्धा ह्लादिनी शक्ति को प्रकट कर मनोनय सिद्ध देह का पुष्टिविधान उत्तराङ्ग के अन्तर्गत है। इसी भजनक्रिया द्वारा भक्त अचिर ही अनर्थ के हाथों से निष्कृतिलाभ करके क्रमशः प्रेमभक्ति के अधिकारी होते रहते हैं।

भावाश्रित भक्तलोग ज्ञान-कर्मादि भक्तिरोधक विषयसमूह का परित्याग करते हैं, तथापि यह समुदाय ज्ञान-कर्मादि के फल उनके निकट स्वयं ही उपस्थित होते हैं। भक्तिदेवी की दासीस्थानीया सर्वसिद्धि उनकी सेवा करने को अग्रसर होती हैं, किन्तु शुद्धभक्तगण तत्समुदाय के प्रति आदर प्रकट नहीं करते। यहाँ तक कि पञ्चविध मुक्ति आकर उन्हें प्रलोभित करने की चेष्टा करने पर भी उनका रागात्मिकैकनिष्ठचित्त तत्प्रति आसक्त नहीं होता है। रागमार्ग के भावाश्रित भक्तगण सर्वदा भगवान् के माधुर्य-सागर में ही निमग्न रहते हैं एवं इस माधुर्य-स्वाद की गन्ध यावतीय मुक्ति सुख की अपेक्षा कोटिगुण से श्रेष्ठ है। इसी कारण उनका हृदय मुहूर्तकाल के लिए भी विषयान्तर में अभिनिविष्ट नहीं होता। वे निरन्तर भगवान् के अनिर्वचनीय प्रेमरसार्णव में परमानन्द के साथ सन्तरण करते रहते हैं। भगवान् ने कहा है—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥

—श्रीमद्भागवत, ११/११/३३

जो ऐकान्तिकरूप से भगवान् की आराधना करते हुए परम प्रेमबल से अनुक्षण उनके असमोर्ध्व माधुर्य का आस्वादन कर रहे हैं, वे ही भावभक्ति के सिद्ध भक्त के रूप में परिगणित होते हैं।

भावभक्ति के साधनाक्रम से भक्तचित्त में रति का उदय होता है, भावमय देह में स्वतः ही स्फूर्ति आती है। रति जब गाढ़ी

होकर प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती है, तब भक्त स्वकीय भावमय नित्यदेह में नित्य भगवत्सङ्ग प्राप्त करते रहते हैं।

प्रेमभक्ति

प्रेमभक्ति गगनमण्डल में स्थित सूर्य के समान स्वप्रकाश है। जन्मान्तरीण संस्कारविशिष्ट किसी-किसी भाग्यवान् व्यक्ति के हृदय में भगवद्गुण श्रवणमात्र से ही स्वयं यह प्रकाशित हुआ करता है। ज्ञान, योग, निष्काम कर्म प्रभृतियाँ किसी भी प्रकार के साधना के अवलम्बन से इसकी उत्पत्ति नहीं होती है। जो भगवद्भक्ति अहैतुकी नाम से प्रसिद्ध है, वह किसी भी प्रकार हेतु से उत्पन्न नहीं होती है। यथा—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

—श्रीमद्भागवत, १/२/६

यहाँ जिस साधनभक्ति को प्रेमभक्ति के कारणस्वरूप निर्देश किया गया है, वह कोमलमना कनिष्ठ भक्तों को भक्ति का तारतम्य समझाने मात्र के लिए है। जिस प्रकार अपक्व आम कालक्रमानुसार सुपक्व आम में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सुकुमार शिशु ही कालक्रमानुसार परिणतवयस्क युवा हो जाता है, उसी प्रकार अपक्व साधनभक्ति ही परिपाकदशा में **प्रेमभक्ति** के नाम से अभिहित हुआ करती है। जिस प्रकार एकमात्र इक्षुरस स्वादभेदानुसार गुड़, शर्करा,

भावाश्रित भक्तलोग ज्ञान-कर्मादि भक्तिरोधक विषयसमूह का परित्याग करते हैं, तथापि यह समुदाय ज्ञान-कर्मादि के फल उनके निकट स्वयं ही उपस्थित होते हैं। भक्तिदेवी की दासीस्थानीया सर्वसिद्धि उनकी सेवा करने को अग्रसर होती हैं, किन्तु शुद्धभक्तगण तत्समुदाय के प्रति आदर प्रकट नहीं करते। यहाँ तक कि पञ्चविध मुक्ति आकर उन्हें प्रलोभित करने की चेष्टा करने पर भी उनका रागात्मिकैकनिष्ठचित्त तत्प्रति आसक्त नहीं होता है। रागमार्ग के भावाश्रित भक्तगण सर्वदा भगवान् के माधुर्य-सागर में ही निमग्न रहते हैं एवं इस माधुर्य-स्वाद की गन्ध यावतीय मुक्ति सुख की अपेक्षा कोटिगुण से श्रेष्ठ है। इसी कारण उनका हृदय मुहूर्तकाल के लिए भी विषयान्तर में अभिनिविष्ट नहीं होता। वे निरन्तर भगवान् के अनिर्वचनीय प्रेमरसार्णव में परमानन्द के साथ सन्तरण करते रहते हैं। भगवान् ने कहा है—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥

—श्रीमद्भागवत, ११/११/३३

जो ऐकान्तिकरूप से भगवान् की आराधना करते हुए परम प्रेमबल से अनुक्षण उनके असमोर्ध्व माधुर्य का आस्वादन कर रहे हैं, वे ही भावभक्ति के सिद्ध भक्त के रूप में परिगणित होते हैं।

भावभक्ति के साधनाक्रम से भक्तचित्त में रति का उदय होता है, भावमय देह में स्वतः ही स्फूर्ति आती है। रति जब गाढ़ी

होकर प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती है, तब भक्त स्वकीय भावमय नित्यदेह में नित्य भगवत्सङ्ग प्राप्त करते रहते हैं।

प्रेमभक्ति

प्रेमभक्ति गगनमण्डल में स्थित सूर्य के समान स्वप्रकाश है। जन्मान्तरीण संस्कारविशिष्ट किसी-किसी भाग्यवान् व्यक्ति के हृदय में भगवद्गुण श्रवणमात्र से ही स्वयं यह प्रकाशित हुआ करता है। ज्ञान, योग, निष्काम कर्म प्रभृतियाँ किसी भी प्रकार के साधना के अवलम्बन से इसकी उत्पत्ति नहीं होती है। जो भगवद्भक्ति अहैतुकी नाम से प्रसिद्ध है, वह किसी भी प्रकार हेतु से उत्पन्न नहीं होती है। यथा—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

—श्रीमद्भागवत, १/२/६

यहाँ जिस साधनभक्ति को प्रेमभक्ति के कारणस्वरूप निर्देश किया गया है, वह कोमलमना कनिष्ठ भक्तों को भक्ति का तारतम्य समझाने मात्र के लिए है। जिस प्रकार अपक्व आम कालक्रमानुसार सुपक्व आम में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सुकुमार शिशु ही कालक्रमानुसार परिणतवयस्क युवा हो जाता है, उसी प्रकार अपक्व साधनभक्ति ही परिपाकदशा में **प्रेमभक्ति** के नाम से अभिहित हुआ करती है। जिस प्रकार एकमात्र इक्षुरस स्वादभेदानुसार गुड़, शर्करा,

मिश्री, ओला प्रभृति भिन्न-भिन्न नाम से आख्यात है, उसी प्रकार *एक निर्गुण* भक्ति ही श्रद्धा, रुचि, आसक्ति प्रभृति बहुविध नामों से कीर्तित हुआ करती है। फलतः इसका सकल अंश ही सर्वावस्था में आनन्द-चिन्मय एवं भगवान् के समान स्वतः प्रकाश है। भगवद् भक्तजनों की हृदयवर्तिनी भक्ति देवी की कृपा से इसकी उदय होती है, नहीं तो इस विशुद्ध प्रेमभक्तिलाभ का और कोई उपाय नहीं है।

सम्यङ्-मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, ४/१

—जिससे चित्त हर प्रकार से निर्मल होता है एवं जो अतिशय ममतासम्पन्न है, ऐसा जो भाव है, वह गाढ़ता को प्राप्त होते ही पण्डितगण उसे **प्रेम** के रूप में कीर्तन करते हैं।

साधनभक्ति याजन करते-करते रति होती है; उसी रति के गाढ़ा होने पर उसे प्रेम कहते हैं। कविराज गोस्वामी ने लिखा है—

साधनभक्ति हैते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हैले तारे प्रेम नाम कय॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

इसी प्रेम को ही प्रह्लाद, उद्धव, भीष्म, नारदादि भक्तगण भक्ति कहकर कीर्तन किये हुए हैं। दूसरों के प्रति ममता परिहारपूर्वक भगवान् के प्रति जो ममता है, उसी का नाम प्रेम है। यथा—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।

—नारद-पाञ्चरात्र

यह प्रेमभक्ति दो श्रेणिदों में विभक्त है; एक भावोत्थ, दूसरा भगवान् का अतिप्रसादोत्थ। अन्तरङ्ग भक्त्यङ्गसकल के निरन्तर सेवन के द्वारा भाव परमोत्कर्षता प्राप्त होने पर **भावोत्थ** प्रेम नाम से कथित होता है। और भगवान् हरि के स्वीय सङ्गदानादि को ही **अतिप्रसादोत्थ** प्रेम कहते हैं। यह फिर माहात्म्यज्ञानयुक्त एवं केवल अर्थात् माधुर्यमात्रज्ञानयुक्त इन दो श्रेणियों में विभक्त है। विधिमार्गानुवर्ती भक्तों का जो अतिप्रसादोत्थ प्रेम है, वह महिमज्ञानयुक्त है, और रागानुगाश्रित भक्तों का प्रेम केवल अर्थात् माधुर्यज्ञानयुक्त हुआ करता है।

भक्ति की साधना करते-करते पहले श्रद्धा, तत्पश्चात् साधुसङ्ग, उसके बाद भजनक्रिया, तदनन्तर अनर्थनिवृत्ति, तत्पश्चात् निष्ठा, उसके बाद रुचि, तत्पश्चात् आसक्ति, तदनन्तर भाव, उसके बाद प्रेम उदित होता है। प्रेमसञ्चार मात्र से ही स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—इन आठ प्रकारों से सात्त्विक भाव का विकास होता है।

रागानुगा केवलाभक्ति के दास्यादि चतुर्विध भावों में शृङ्गाररसात्मक भाव सर्वश्रेष्ठ है। मधुररसात्मक साधनभक्ति से मधुरा रति का उदय होता है। इसी रति से ही भगवान् के साथ भक्त के विलास का सूत्रपात होता है, क्योंकि मधुरा रति ही श्रीकृष्ण और तत्प्रेयसियों का आदिकारण है।

किञ्चिद्विशेषमायान्त्या सम्भोगेच्छा ययाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते॥

—उज्ज्वलनीलमणिः, स्थाः प्रः, ५२

—सम्भोगवासना यदि श्रीकृष्ण की सम्भोगवाञ्छा के साथ एकताप्राप्त होती है, तो इसे **समर्था** नाम से अभिहित करते हैं। यह गोपिकानिष्ठ समर्था रति गाढ़ होकर प्रेम आख्या को प्राप्त होती है।

स्याद्दृढ़ेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥
बीजमिक्षुः स च रसः स गुड़ः खण्ड एव सः।
स शर्करा सिता सा च सा पुनः स्यात् सितोपला॥
अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहादयस्तु षट्।
प्रायो व्यवह्रियन्तेऽमी प्रेमशब्देन सूरिभिः॥

—उज्ज्वलनीलमणिः, स्थाः प्रः, ५९-६१

—जिस प्रकार बीज क्रमशः इक्षु, रस, खण्ड, शर्करा, मिश्री और उत्तम मिश्री (ओला) में परिणत होकर अधिकतर निर्मल और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार समर्था रति भी प्रेमविलास से क्रमशः परिपक्क होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव में पर्यवसित हुई रहती है।

स्नेह से लेकर भाव तक इन छः प्रकार के प्रेमविलास को भी पण्डितगण प्रायशः प्रेम कहकर कीर्तन करते हैं।

भाव जब गाढ़तर होकर प्रेम में पर्यवसित होता रहता है, उसी समय भक्त को नृत्य, विलुण्ठंन, गीत, क्रोशन (उच्चरव), तनु-मोटन (अङ्गड़ाई), हुङ्कार, जृम्भण (जम्हाइ लेना), दीर्घश्वास, लोकापेक्षा त्याग, लालास्राव, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का, इन समस्त विकारों द्वारा

चित्तस्थ सभी भावों का अनुभाव हुआ रहता है। भाव क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव और स्थायिभावादि सामग्रियों द्वारा परिपुष्ट होकर परम रसरूपता को प्राप्त होता है। साधना द्वारा सात्त्विकादि भाव क्रमशः धूमायिता, ज्वलिता, दीप्ता और उद्दीप्ता हो उठते हैं। अनन्तर भाव और भी उत्कृष्टदशा को प्राप्त होकर महाभाव के नाम से आख्यात होता है। यही गोपिकानिष्ठ समर्था रति का चरम विकास है।

जिस रति का जहाँ तक वर्धित होने की योग्यता रहती है, वह रति उस सीमा को प्राप्त होते ही तब वह प्रेमभक्ति आख्या को प्राप्त होती है। सुतरां गोपिकानिष्ठ समर्था रति प्रौढ़ महाभावदशा प्राप्त होते ही वह प्रेमभक्ति नाम से कीर्तित होती है। यथा—

इयमेव रतिः प्रौढ़ा महाभावदशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्॥

—उज्ज्वलनीलमणिः, स्थाः प्रः, ५७

भक्त इस महाभाव की किसी भी विचित्र दशा में चिद्घनानन्द भगवान् के अनन्त नित्य-लीलासमुद्र में निमग्न हुआ करते हैं।

भक्ति-विषय में अधिकारी

महत्सङ्गादिजनित संस्कारविशेष के द्वारा जिनमें भगवदाराधना में श्रद्धा जन्मी है एवं जो कर्म में अतिशय आसक्त या विरक्त नहीं हुए हैं, वे ही भक्ति-विषयों के अधिकारी हैं। यथा—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

—श्रीमद्भागवत, ११/२०/८

—सौभाग्यवशतः ईश्वरीय कथा में जो व्यक्ति श्रद्धावान् हुआ है और कर्ममात्र से वैराग्ययुक्त या कर्म में आसक्त नहीं है, उसी के सम्बन्ध में भक्तियोग सिद्धि प्रदान करते हैं।

जिस व्यक्ति को प्रकृत वैराग्य या ज्ञान नहीं हुआ है अथच संसार के प्रति भी नितान्त आसक्त नहीं है, किन्तु भगवत्प्रसंग में किञ्चित श्रद्धा जन्मी है, वही व्यक्ति ही भक्तियोग का अधिकारी है। श्रीमद्भागवद्गीता शास्त्र में आर्त, तत्त्वजिज्ञासु, अर्थकामी और ज्ञानी ये चार प्रकार के व्यक्ति ही भक्ति के अधिकारी के रूप में निरूपित हुए हैं। यथा—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

—श्रीमद्भागवद्गीता, ७/१६-१७

सुकृतिशाली पुरुष ही भगवान् का भजन करते हैं, किन्तु पूर्वकृत पुण्य के तारतम्यहेतु वे चार श्रेणियों में विभक्त होते हैं। यथा—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। चतुर्विध भक्तों में ज्ञानी सर्वापेक्षा प्रधान हैं, क्योंकि वे सर्वदा भगवान् के प्रति आसक्त होते हैं एवं असार संसार में भगवान् को ही सार समझकर केवल उन्हीं

में अचला भक्ति किया करते हैं। इसी कारण ज्ञानी को भगवान् अतिप्रिय हैं एवं वे भी भगवान् के प्रियतर हैं। परन्तु ये सारे ही उदारस्वभाव के होते हैं, विशेषतः भगवान् ज्ञानी को अपने आत्मस्वरूप ही मानते हैं, जिससे वे सबसे उत्तम गतिस्वरूप भगवान् को आश्रय बनाकर भगवान् से भिन्न अन्य किसी फल की आशा नहीं करते। अनेक जन्मों के पश्चात् ज्ञानवान् व्यक्ति स्थावर जङ्गमात्मक समुदाय जगत् को आत्ममय देखा करते हैं एवं इस प्रकार सर्वत्र आत्मदृष्टिनिबन्धन केवल भगवान् का ही भजना करते हैं, अतएव एतादृश भक्त अतिशय दुर्लभ हैं। किन्तु विविध वासनाओं से जिनका ज्ञान अपसृत हुआ है, वे ही कामना-पूरणार्थ भगवान् अथवा उनकी दैवशक्ति की उपासना करते हैं। तथापि इनमें जिसके प्रति भगवान् अथवा भगवद्भक्त की कृपा होती है, उसका भी तद्भाव क्षीण होने से वह शुद्धाभक्ति का अधिकारी होता है।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२२

जो मनुष्य भक्तिसुख की अभिलाषा करता है, उसे अन्यान्य विषयसुखों की आशा का बिलकुल ही परित्याग कर देना होगा। कारण, जितने दिन भुक्तिमुक्तिस्पृहारूप पिशाची हृदय में वर्तमान रहेगी, उतने दिन तक उस हृदय में भक्तिसुख का अभ्युदय भला किस प्रकार हो सकता है ? सुतरां गुणमयी सकामा भक्ति की साधना करते-करते जब तक इहामुत्रार्थफलभोग से वैराग्य उपास्थित

नहीं होगा, तब तक शुद्धाभक्ति का आविर्भाव नहीं होगा। निर्गुणभक्ति परिपक्वावस्था में प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती है, सुतरां भाव और प्रेमसाध्य साधनभक्ति ही प्रकृत भक्तिपदवाच्य है।

इस प्रकार भक्ति के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठभेदानुसार अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं। उनमें उत्तम अधिकारी हैं, यथा—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़निश्चयः।
प्रौढ़श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/१७

—जो शास्त्रों एवं शास्त्रानुगत युक्तिविषयों में विशेष निपुण हैं, तत्त्वविचार, साधनविचार एवं पुरुषार्थविचार द्वारा भगवान् ही एकमात्र उपास्य और प्रीति के विषय हैं, इस प्रकार के विचार द्वारा जिनका निश्चय दृढ़तर एवं श्रद्धा प्रगाढ़ हो गयी हो, वे ही भक्तिविषय के उत्तम अधिकारी हैं।

मध्यमाधिकारी यथा—

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/१८

—जो शास्त्रादि में अनिपुण हैं अर्थात् शास्त्रविचार में बलवती बाधा प्रदत्त होने पर समाधान करने में असमर्थ हैं, किन्तु श्रद्धावान् अर्थात् मन में उपास्य देव के प्रति दृढ़तर निश्चय है, उन्हें मध्यमाधिकारी कहते हैं।

कनिष्ठ अधिकारी यथा—

यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते।

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/१९

—जो शास्त्र और शास्त्रानुगत युक्तिविषयों में अनिपुण हैं एवं कोमलश्रद्धावान् हैं अर्थात् शास्त्र या युक्ति द्वारा जिनका विश्वास खण्डन किया जा सकता है, उन्हें भक्तिविषय में कनिष्ठाधिकारी समझना होगा।

कनिष्ठ और मध्यमाधिकारी भी साधना की परिपाकदशा में उत्तमाधिकारियों में गण्य हुआ करते हैं। भक्तमात्र का ही प्रेमभक्तिलाभ ही चरम लक्ष्य होना कर्तव्य है। भुक्तिमुक्तिलाभ भक्त का उद्देश्य नहीं है। वस्तुतः भगवच्चरणारविन्द सेवा द्वारा जिनका चित्त आनन्दरस से परिप्लुत हुआ है, उन्हीं समस्त भक्त जनों को मोक्षलाभ के निमित्त कभी भी स्पृहा नहीं होती है। तथापि सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—ये चार मुक्ति भक्ति के विरोधी नहीं हैं, उक्त अवस्था में भी किसी-किसी व्यक्ति में भगवद्-विषयक भाव उद्दीपित होता रहता है। अपर सालोक्यादिरूप मुक्ति की दो अवस्थाएँ हैं। प्रथमावस्था में प्रधानरूप से ऐश्वरिक सुख वाञ्छनीय है। द्वितीय अवस्था में प्रेमस्वभावसुलभ सेवन ही एकान्त वाञ्छनीय हो उठता है। अतएव सेवारसिक भक्तवृन्द प्रथमावस्था को ही प्रतिकूल कहकर स्वीकार करते हैं। किन्तु जिन्होंने एकबार मात्र प्रेमभक्ति का माधुर्य आस्वादन किया है, भगवान् में एकान्त अनुरक्त हैं, वे ही भक्तगण सालोक्यादि पञ्चविध मोक्ष भी कदाच स्वीकार नहीं करते हैं। अतएव एक प्रेम-

माधुर्यास्वादी भक्तवृन्दों में जिनके सच्चिदानन्दविग्रह के चरणारविन्द में मन आकृष्ट हुआ है, वे ही एकान्त-भक्तों में श्रेष्ठ हैं; क्योंकि, जो भुक्तिमुक्तिस्पृहाशून्य और श्रद्धावान् हैं, वे ही विशुद्ध भक्ति के अधिकारी हैं। यथा श्रीमद्भगवतानुसार—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥

११/११/३२

—जो व्यक्ति स्वीय वर्णाश्रमधर्मसकल का परित्याग कर कृपालुतादि गुणों और कृपाशून्यता प्रभृति दोषों की हेयोपादेयता विचारपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं, वे ही साधुओं में उत्तम होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है, "तुम वर्णाश्रमविहित समुदाय धर्म परित्याग कर केवल मेरा ही शरणागत बनो; विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करने से तुम्हें जो सब पाप लगेंगे, उन पापों से मैं ही तुम्हें मुक्त करूँगा, इसी कारण तुम शोक मत करो।"* अतएव भुक्तिमुक्तित्यागी एकमात्र भगवान् के प्रेमसेवास्वादी उत्तमाधिकारी हैं।

विशुद्धभक्ति के साधक के उत्तमाधिकारी होने के बावजुद सभी को भक्तिविषय का अधिकार है। फिर भी गुणभेद और

---

* सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १८/६६

कामनाभेदानुसार फलों में अन्तर हुआ करता है। जीवमात्र का ही भक्ति सहज धर्म है, सुतरां जिसको जैसी भक्ति का उद्रेक हुआ है, वह वैसी ही भक्ति का अनुष्ठान करे। फिर भी भक्ति की परिपक्कावस्था में सभी निर्गुणाभक्ति प्राप्त कर कृतार्थ होंगे।

वैधी और रागानुगाभेद से भक्ति प्रधानतः दो प्रकार की है। ये उभय भक्ति जिस प्रकार परस्पर विभिन्न हैं, उसी प्रकार इनके अधिकारी भक्त और साध्य प्रेमफल भी भिन्न-भिन्न हैं। वर्णाश्रमादि धर्म में नाति-आसक्त या नाति-विरक्त व्यक्ति वैधी-भक्ति के अधिकारी हैं। और व्रजभावलुब्ध शास्त्रयुक्तिनिरपेक्ष व्यक्ति रागानुगा भक्ति के अधिकारी हैं। प्रथमाधिकारी केवल शास्त्र-शासन के भय से कर्तव्यानुरोध से शास्त्रयुक्तिसिद्ध भगवद्भजन में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु उत्तमाधिकारी शास्त्रयुक्ति की अपेक्षा परिहारपूर्वक केवल स्वाभाविक आसक्ति और रुचि के वशवर्ती होकर स्वकीय स्वभावसङ्गत प्रमाणातिरिक्त भगवद्भजन में आसक्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वाभाविक आसक्तिलाभ करके भी शास्त्रानुशासन के द्वारा नियमित होते हैं, तब उनकी वह भक्ति मिश्रा ही हुआ करती है। रागानुगाधिकारी भक्त शास्त्रयुक्ति की अपेक्षा तो नहीं करते हैं, किन्तु उनके स्वभाव से स्वयं ही वैधीभक्तिकथित स्वयोग्य अङ्गसमुदाय उदित हो जाया करते हैं। वैधी भक्त्यधिकारी भक्त पग-पग पर शास्त्रमर्यादा की रक्षा करते हुए चलते हैं, विन्दुमात्र भी तदुक्त विधिनिषेध की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते हैं। किन्तु रागानुरागीय भक्त ऐसे नहीं होते हैं; वे शास्त्रीय विधिनिषेधों को

जलाञ्जलि देकर भगवत्प्रेमोन्मत्त होकर श्रीगुरु के चरणों में आत्मसमर्पण करते हैं—साक्षाद्‌भजन में दीक्षित होते हैं। रागानुरागीय भक्तों की भक्ति भक्तकृपा से ही उदित होती है—उनके संसर्ग से ही परिपुष्ट होती है।

वैधीभक्ति का साध्यफल चतुर्विधा मुक्ति है। इनमें कोई सुखैश्वर्योत्तरा और कोई प्रेमसेवोत्तरा मुक्ति को प्राप्त करते हैं। और प्रेममाधुर्यास्वादसेवी भक्तलोग उक्त द्विविधा मुक्ति में किसी को भी ग्रहण नहीं करते; अतः वे शुद्ध प्रेमसेवा को ही प्राप्त होते हैं। सायुज्यमुक्ति सभी प्रकार की भक्ति की ही विरोधी है।

कोई-कोई कहा करते हैं कि वैधीभक्ति से रागानुगाभक्ति का उदय होता है; यह बात सम्पूर्ण समीचीन प्रतीत नहीं होती। वैधीभक्ति और रागानुगाभक्ति सम्पूर्ण पृथक् हैं; एक—साधनभक्ति की बहिर्वृत्ति है, दूसरी—उसकी अन्तर्वृत्ति है। यद्यपि उभय भक्तियों में ही श्रवण कीर्तनादि लक्षणों में एकता है, तथापि उनमें उपादानगत भेद काफी परिमाण में लक्षित होते हैं। आनुमानिक उपासना वैधीभक्ति का प्रधान अङ्ग है, किन्तु रागानुगामार्ग में आनुमानिक उपासना नहीं है; साक्षाद्‌भजन ही उसका सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है। प्रथमा भक्ति कर्मज्ञानादिमिश्रा है, द्वितीया भक्ति शुरु से ही कर्मज्ञानादिशून्या है। प्रबल महिमज्ञान वैधिभक्ति में वर्तमान है, किन्तु रागानुगाभक्ति में प्रायः ही महिमज्ञान नहीं रहा करता। विधिमार्ग के गुणमय भक्त के अनुग्रह से वैधीभक्ति का उदय होता है; पक्षान्तर में रागमार्ग के निर्गुण भक्त की अनुकम्पा से रागानुगाभक्ति का सञ्चार होता है।

सुतरां वैधीभक्ति से रागानुगाभक्ति उत्पन्न होती है, यह कैसे स्वीकार किया जाय? जो लोग वैधीभक्ति को रागानुगाभक्ति के कारणरूप में निर्देश करते हैं, वे शायद रागानुगाभक्ति का स्वरूप हृदयङ्गम करने में असमर्थ होते हैं, अथवा वैधीभक्तिज्ञाता प्रधानीभूता भक्ति को ही रागानुगा जैसी अनुमान करते हैं।

वैधीभक्ति भी मगर ऐसी नहीं है कि वह सदा शास्त्रयुक्ति द्वारा अनुशासित होती हो। विधिमार्ग के भक्तगण भावोदय तक शास्त्र और अनुकूल तर्क की अपेक्षा करते हैं, तत्पश्चात् रति के जन्मते ही वे भी शास्त्रयुक्ति की अपेक्षा का परित्याग करते हैं। वैधीभक्ति परिपाकदशा में कर्मज्ञानादि शून्य होकर शुद्धाभक्ति में पर्यवसित होती है यह सत्य तो है, पर उसे रागानुगा या रागात्मिका भक्ति नहीं कह सकते। विधिमार्ग के जो समुदाय भक्त सिद्धदशा में प्रधानीभूता भक्ति के अधिकारी होकर आत्माराम शान्त भक्तों में परिगणित होते हैं, उनके भाव में प्रबल महिमज्ञान विद्यमान रहता है। सुतरां वैधीभक्ति कदापि रागानुगाभक्ति का कारण नहीं हो सकती। यथा—

सकल जगते मोरे करे विधिभक्ति।
विधिभक्त्ये व्रजभाव पाइते नाहि शक्ति॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

भक्ति स्वरूपतः विशुद्धा होती है, निर्गुणा और स्वतन्त्रा होती है; वह सच्चिदानन्द भगवान् की सर्वश्रेष्ठ ह्लादिनीशक्ति है। उस शक्ति की बहिर्वृत्ति प्रधानीभूता एवं अन्तर्वृत्ति केवला होती है। प्रधानीभूता

भक्ति भक्तहृदय के सत्त्वादिगुणों का अवलम्बन कर प्रकाशित होने पर ईषत् मलिन के समान अवभासमान होती है; उसी अवस्था में यह वैधी या गुणमयी के रूप में अभिहिता है। यह मायासंस्पर्शजन्य ईषत् मलिन और मृदु है। अपर, केवला भक्ति स्व-स्वरूप में आविर्भूता होती है एवं प्रवर्तक भक्तों के मायामय हृदय में अवस्थित होकर भी सम्पूर्ण मायासंस्पर्शशून्य और अविकृता रहती है। इसीलिए यह भक्ति शुरु से ही कर्मज्ञानादिशून्या और तीव्रा है। भक्तहृदय जब तक गुणमय रहता है, तब तक यह रागानुगा के रूप में कथित होती है। ऐसे स्थल पर केवल आधार के गुणमयता हेतु आधेय भक्ति भी प्राभातिक सूर्य के समान अपेक्षाकृत मृदुभाव से मात्र प्रकाशिता होती है। नचेत् यह आधार के दोष से कदापि स्व-स्वरूप से परिभ्रष्ट नहीं होती है; वरन् आधार को अचिरात् आत्मसदृश निर्गुण कर लेती है। उस विशुद्ध भक्ति के प्रभाव से गुणमय भक्त हृदय भी अचिर में मायातीत हो जाता है।

माया की दो वृत्तियाँ हैं; एक अविद्या, और दूसरी विद्या। अविद्या माया की बहिर्वृत्ति है एवं विद्या उसकी अन्तर्वृत्ति है। भक्त निर्गुण-भक्ति के बल पर हृदय के इन उभय आवरणों का ही भेदन कर लेते हैं। भक्तिसाधना से अविद्या तिरोहिता होने पर विद्या का उदय होता है। यह विद्या ही तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान कहलाती है। किन्तु आरम्भदशा से ही शुद्ध भक्तों के ज्ञान में अनादर एवं भगवन्माधुर्यास्वादसुख में अनुराग होने से वह दर्शन देकर ही अन्तर्हिता होती है। शुद्ध-भक्तों का गुणमय हृदय इस प्रकार माया

की उभय वृत्तियों के हाथ से निष्कृतिलाभ करके सच्चिदानन्दमय भगवद्रूप-गुण-लीला-माधुर्य-पारावार में निमग्न हो जाता है।

शास्त्र में वैधीभक्ति मर्यादामार्ग है, और रागानुगाभक्ति पुष्टिमार्ग के नाम से उल्लिखित हुई है। भाग्यवान् श्रेष्ठाधिकारीलोग ही पुष्टिमार्ग का अवलम्बन करते हैं। और मर्यादामार्ग पर आपामर साधारण लोगों का अधिकार रहता है। ईश्वरविश्वासी जिस किसी व्यक्ति का ही, जिसका मन सर्वदा नहीं भी तो समय समय पर भगवान् की ओर आकृष्ट होता है, उनको ही भक्ति-साधना में अधिकार रहता है। भक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन जातियों की ही अपेक्षा नहीं करती, भक्ति विषय पर मनुष्यमात्र का ही अधिकार है। भक्ति-साधना के सम्बन्ध में जाति-कुल का भेद नहीं होता। यथा—

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते।

—शाण्डिल्यसूत्र, ७८

भगवद्भक्ति में अधिकार निन्द्ययोनि चण्डाल प्रभृति को भी है। चण्डाल यदि मन-प्राण उन्हें समर्पण कर प्रेमकारुण्यकण्ठ से उन्हें पुकारे, यह उनके वश में नहीं कि वे स्थिर रह सकें। उनके लिए जाति-कुल-मान का कोई आदर नहीं वे एकमात्र भक्ति के अधीन हैं। भक्तिहीन ब्राह्मण उनके लिए आदर का पात्र नहीं है, किन्तु वे भक्तिमान् चण्डाल को समादर के साथ हृदय में धारण करते हैं। भक्तिशून्य मानव द्वारा सुधादान करने पर भी भगवान् ग्रहण नहीं करते, किन्तु भक्त अगर विष भी दे, तो उसे अमृत समझ उसका भक्षण कर लिया करते हैं। निषादराज गुहक की भक्ति से द्रवित

होकर रामचन्द्र ने मीत कहकर उसे आलिङ्गन किया था। शबरी चण्डालिनी होकर भी भगवत्कृपा को प्राप्त हुई थी। धर्मव्याध और चर्मकारज़ातीय रैदास की भावभक्ति की कथा से कौन हिन्दू अवगत नहीं है ? हरिदास मुसलमान घराने में पाले-पोसे जाकर भी हरिनाम का प्रचार कर श्रेष्ठ भक्तों में गिने गये हैं। भक्ति में भूलकर भगवान् ने गोपबालक और हाड़ि-डोम-चण्डाल का उच्छिष्ट भोजन भी भक्षण किया। भक्ति के सञ्चार मात्र से ही जीव पवित्र हो जाता है। भक्तिमान् व्यक्ति ही यथार्थ में पण्डित और ब्राह्मण है। यथा—

अष्टविधा ह्येषा भक्तिर्यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्तते।
स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यतिः स च पण्डितः॥

—गरुड़पुराण

—अष्टविधा भक्ति जिस म्लेच्छ में प्रकाशित होती है, वह म्लेच्छ म्लेच्छ नहीं है। वह विप्रेन्द्र है, वह मुनि है, श्रीमान् है, वह यति है और वह पण्हित है।

भक्ति में धनी-गरीब का भी भेद नहीं है। वरन् धनियों में बाह्यवस्तुओं के प्रति आसक्ति के कारण अन्य आसक्ति दृढ़ नहीं होती है; दरिद्र सर्वासक्ति भगवन्मुखी कर उत्तमा भक्ति को प्राप्त करते हैं। भगवान् जो कंगाल के बन्धु हैं, वह उनके "दीनबन्धु" "कंगालशरण" नामों से ही जाना जा सकता है। धन-रत्न नहीं होने से क्या भगवान् की दया नहीं हागी ? अर्थाभाव परमार्थलाभ में बाधक नहीं हो सकता। विशेषतः उनकी वस्तु उन्हीं को देकर हम अपनी बहादुरी दिखाने का क्या प्रयोजन है ? अतएव भक्त को

धन-रत्न की क्या आवश्यकता है ?—तुम सर्वान्तःकरण से चिन्मय चिन्तामणि के चरणों में चित्त समर्पित कर प्रेमकारुण्यकण्ठ से उन्हें पुकार कर कहो—

"रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते पुरुषोत्तमाय।
आभीरवामनयनापहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण॥"

—हे यदुपते ! रत्नसकल का आकर समुद्र तुम्हारा निवासभवन हैं, निखिल सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी कमला तुम्हारी गृहिणी हैं, तुम स्वयं पुरुषोत्तम हो, अतएव तुम्हें क्या देना है ? सुना है शायद आभीरतनया वामनयना प्रेममयी रमणियों ने तुम्हारा मनोहरण कर लिया है,—तो ऐसा होने पर तुम्हारे पास सिर्फ मन का ही अभाव है—अतएव अपना मन तुम्हें अर्पित कर रहा हूँ; हे प्रेमवश्य गोपीजनवल्लभ ! कृपा करके इसे ग्रहण करो।

धनी भी इस प्रकार दीनभावापन्न न हो तो—भिखारियों का वेश न धरे तो भगवान् की कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन का राजभोग तुच्छ करते हुए विदुर का 'क्षुद' (टुटा हुआ चावल) अमृतमय—अति-आदर के द्रव्य के समान भक्षण किया था।

व्यावहारिक विद्या-बुद्धि के न होने पर भी भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। सद्विद्या भक्ति-पथ में सहायिका है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी मूर्ख भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता,

ऐसी बात नहीं। वरन् अनेक पण्डित शास्त्रालोचना द्वारा हृदय को इतना कठोर और नीरस बना लेते हैं कि उसमें फिर भक्ति-उद्रेक का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पिता, माता, स्वामी, पुत्र को पुकारने के लिए क्या किसी को विद्या-बुद्धि की आवश्यकता होती है ? भक्ति के आविर्भाव से भक्तों के हृदय में स्वयं ही ज्ञान का भण्डार खुल जाता है।

भक्ति उम्र की भी उपेक्षा नहीं करती है। एकमात्र परिणतवयस्क वृद्ध को छोड़कर दूसरे लोग भक्ति के अनधिकारी हैं, ऐसी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। वरन् बाल्यकाल से ही भक्तिलाभ के लिए प्रयत्न करना कर्तव्य है। बालकों के कोमल हृदय में भक्तिबीज की बोआई होने से अचिर ही वृक्षोत्पत्ति की सम्भावना रहती है। शैतान का उच्छिष्ट देह-मन लेकर वृद्ध वयस् में भगवत्सेवा करने जाना विडम्बना मात्र है। भक्त-चूड़ामणि प्रह्लाद ने कहा है—

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

—श्रीमद्भागवत, ७/६/१

—बाल्यकाल्य में ही भागवतधर्म का आचरण करो, जीवन कितने दिन का है? मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है, उनमें से सफलकाम जीवन नितान्त ही अध्रुव है।

सारा जीवन अधर्माचरण कर वृद्धावस्था में मृत्यु के भय से अस्थिर होकर भी और भक्तिसाधना का समय नहीं पाओगे। विशेषतः भक्तिहीन होकर विद्या या धन के उपार्जन करने पर, वह केवल धूर्तता और शठता का ही परिपोषक हो जाया करता है।

अतएव भक्ति उपार्जन करने में जाति, कुल, उम्र, धन, विद्या प्रभृति किसी की भी अपेक्षा नहीं होती। व्याध का आचरण, ध्रुव की उम्र, गजेन्द्र की विद्या, सुदाम विप्र का धन, विदुर का वंश, उग्रसेन का पौरुष, कुब्जा का रूप साधारण लोगों के लिए, चित्ताकर्षक होना तो दूर की बात, बल्कि और भी उपेक्षा का विषय है। तथापि ये भगवत्कृपालाभ करके भक्तों में गण्य हुए हैं। भक्तिप्रिय भगवान् केवल भक्तिद्वारा ही सन्तुष्ट होते हैं, किसी प्रकार के गुण की अपेक्षा नहीं रखते। यथा—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

—नारद-भक्तिसूत्र, ९२

अतएव भक्ति या भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का भेदविचार नहीं होता। सरल विश्वास के साथ जो उन्हें चाहता है, वही उन्हें पाता है; उनके निकट कठोर साधना भी परास्त होती है। अतएव संसारी-सन्न्यासी, आबालवृद्धबनिता, पण्डित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, सुरूप-कुरूप, ब्राह्मण-चण्डाल सभी भक्ति-विषय के अधिकारी हैं। फिर भी मर्यादामार्ग के भक्तगण परिपाकदशा में चतुर्विधा मुक्तिलाभ करके स्वकीय भावानुसार से कोई सुखैश्वर्योत्तरा, तो कोई प्रेमसेवोत्तरा गति को प्राप्त होता है। किन्तु पुष्टिमार्ग के भक्त परिपाकदशा में शुद्ध प्रेम-सेवा को ही प्राप्त होते हैं।

गीतोक्त आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु ये तीन भक्त ही मर्यादामार्ग के आधिकारी हैं। और एकमात्र ज्ञानी पुष्टिमार्ग के अधिकारी हैं, सुतरां वे ही सर्वोत्तम भक्त हैं। कारण, ज्ञानिभक्त भगवान् के यथार्थ

स्वरूप से अवगत हैं। भगवान् देशकालादि द्वारा अपरिच्छिन्न होकर भी भक्तेच्छावश परिच्छिन्न मूर्ति धारण करते हैं, साक्षात् परब्रह्म होकर भी श्यामसुन्दराकार और मनोमयी मूर्ति में प्रकाशित होते हैं एवं आत्माराम और आप्तकाम होकर भी भक्तप्रेमवैवश्य से अनात्मराम और अनाप्तकाम होते हैं, अनन्त होकर भी सान्त होते हैं, विराट् होकर भी स्वराट् होते हैं, इनसे ये सम्यक्रूप से अवगत हैं। अज्ञानी भक्तों में इसकी धारणा करने की भी क्षमता नहीं होती। तभी तो पाश्चात्य-देशीयगण तथा पाश्चात्य-शिक्षा के विकृतमस्तिष्क भारतवासियों में अनेक ही भगवद्भक्तों को पौत्तलिक, जड़ोपासक और कुसंस्काराच्छन्न कहकर उनका मजाक उड़ाते हैं। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के मतानुसार एतदपेक्षा उत्कृष्ट भक्त और नहीं है। तभी तो पुष्टिमार्ग के साधकों को भक्ततम कहा गया है; सुतरां ये ही उत्तमाधिकारी हैं।

भक्तिलाभ के उपाय

जब कर्मयोग के द्वारा गुणक्षय होकर चित्तशुद्धि होगी, ज्ञानयोग के द्वारा जान पाओगे कि भगवान् सबके सभी हैं—सभी के सब हैं, तब भला भक्ति हृदय पर अधिकार किये बिना कैसे रह सकती है ? किन्तु नीरस ज्ञान अथवा नीरस कर्म कर किसी-किसी का हृदय इतना कठिन हो उठता है कि भक्ति की कोमलता उनके हृदय में स्थान नहीं प्राप्त कर पाती है। जो लोग कर्म को चित्तशुद्धि का

उपाय कर ज्ञानयोग पर आरोहण करते हैं एवं और एक पग अग्रसर होकर भक्तियोग पर आरूढ़ हो सकते हैं, वे लोग ही भक्तिलाभ कर धन्य होते हैं। विशुद्धा भक्ति, भक्त किंवा भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य उपाय द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती। पुत्र नहीं पैदा होने पर जिस प्रकार मनुष्य में पुत्रस्नेह का उद्रेक नहीं होता है, उसी प्रकार भगवान् किंवा भक्तसङ्ग के अतिरिक्त भक्ति का सञ्चार नहीं हो सकता। सूत्रकार ने लिखा है—

महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।

—नारद-भक्तिसूत्र, ३८

महत्कृपाद्वारा अथवा भगवान् की कृपालेश से भक्ति का सञ्चार हुआ करता है। भक्तों की कृपा भी भगवान् की कृपालेश के अन्तर्गत है। पाखण्ड जगाइ-माधाइ श्रीगौराङ्गदेव की कृपा से मुहूर्त में ही भक्त हो गये थे। किन्तु कब और किस प्रकार भगवान् की कृपा हो जाती है, वह मानव-बुद्धि के अतीत है। तभी तो शास्त्रकारों ने भक्तिलाभ के लिए साधना और व्यवस्था कर रखी है। वह साधना और कुछ नहीं, भक्तिरोधक प्रतिकूल विषयों का परित्याग कर अनुकूल विषयों को ग्रहण करने से ही भक्ति का सञ्चार होगा। कारण भक्ति जीवों की स्वाभाविक सम्पत्ति है, केवल मायामय गुणों के द्वारा आवरित रहने के कारण भक्ति का अभाव अनुभूत हुआ करता है। साधना द्वारा प्रतिकूल गुणों को अपसारित कर पाने के कारण ही भक्ति का विकास होगा। चित्तशुद्धि, साधुसङ्ग और नामसङ्कीर्तन प्रधानतः भक्तिलाभ के प्रथम सोपान है; तत्पश्चात् अन्यान्य साधनों द्वारा उसकी परिपुष्टि साधित हुआ करती है।

चित्तशुद्धि

हिन्दुधर्म का सार है चित्तशुद्धि। जो लोग हिन्दुधर्म के यथार्थ मर्मग्रहण के इच्छुक हैं, उन्हें इस बात की ओर विशेष ध्यान देना होगा। जिनकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वे उच्चधर्म में नहीं उठ सकते। चित्तशुद्धि की साधना ही हिन्दुधर्म की प्रधान साधना और मूलकथा है। इन्द्रियदमन और रिपुसंयम नहीं कर पाने से हिन्दुधर्म के साधना-पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। सुतरां चित्तशुद्धि की साधना ही प्रवृत्ति-पथ का संयम और तपस्या है। जिनका चित्त शमित और इन्द्रिय दमित नहीं हुई हैं, वे सर्वशास्त्रवित् होकर भी घोर मूर्ख हैं। जिनके रिपुओं का शासन और जिनकी त्रन्द्रियों का दमन नहीं हुआ है, वे भक्तिपथ में ही क्यों, किसी भी पथ में ग्रहणीय नहीं हैं। और जो संयमी हैं, जिनकी चित्तशुद्धि हुई है, वे हिन्दुसमाज में और हिन्दू के मतानुसार साधुरूप में गण्य एवं सभी पथों में ही अग्रवर्ती हो सकते हैं। संयमी होकर प्रवृत्तियों को भक्तिपथ पर ईश्वरपरायण कर लाना ही धर्म का प्रधान उद्देश्य है।

प्रथमतः तमः और रजोगुणविशिष्ट आहार्य और चिन्ता का परित्याग कर सात्विक आहार ग्रहण और सात्विक चिन्तन का अभ्यास करो। अन्तःकरण सात्विकभाव से पूर्ण होने से ही भक्ति का विकास होगा। दया के सागर भगवान् उनके प्रिय जीवों को सर्वदा मङ्गल-पथ पर—आनन्द-पथ पर करुणावंशी के स्वर से आकर्षित कर रहे हैं, किन्तु लोहा जिस प्रकार कर्दमलिप्त होने पर चुम्बक का आकर्षण भी व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जीव-हृदय

पापादि मलों से दूषित होने के कारण उनकी ओर आकृष्ट नहीं हो पाता है। साधनाभ्यास से जिनकी चित्तशुद्धि हुई है, हृदय का मैल धुल गया है, उनका मन भगवान् में आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। आकृष्ट होकर तत्प्रति आसक्त होते ही भक्तिलाभ हुआ। चित्तशुद्धि की साधना से पाप-मल दूर होते ही भक्ति यूँ ही साधकों के हृदय को आलोकित कर प्रकाशित हो उठती है। काम ही मानव के चित्त को दूषित करने का विशेष कारण है; सुतरां यही भक्तिलाभ का प्रधान काँटा है। कारण काम ही भक्ति की सम्पूर्ण विपरीत वृत्ति है। सुतरां एक के रहने से दूसरे का विकास नहीं हो सकता। तुलसीदास ने कहा है—

जहाँ काम तहाँ नहीं राम, जहाँ राम तहाँ नहीं काम।
दोनों एकत्र नहीं मिलै रवि-रजनी एकठाम।

—दोहावली

रात्रि में सूर्यदर्शन के समान कामुक की भक्ति असम्भव है। अतएव कठोर ब्रह्मचर्य का अवलम्बन कर कामदमन करो। एकमात्र ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही सम्यक्-प्रकार चित्तशुद्धि होगी। चित्तशुद्धि होनेपर पापदमन होगा एवं भक्तिलाभ के प्रधान कण्टक कुसङ्ग, कुचिन्ता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, निन्दा, उच्छृङ्खलता, सांसारिक दुश्चिन्ता, पटवारीबुद्धि (बनिया) मिथ्या भाषण, परस्वापहरण, बह्वालाप की प्रवृत्ति, कुतर्केच्छा, धर्माड़म्बर प्रभृति चित्त से दूरीभूत हो जायेंगे। तब साधक के हृदय में स्निग्ध और शान्त आलोक को विकीर्ण कर भक्ति विकसित हो उठेगी।

वर्तमान ग्रन्थकार-प्रणीत ''ब्रह्मचर्य-साधन'' अर्थात् ''ब्रह्मचर्यपालन की नियमावली'' नामधेय पुस्तक में कामदमन के और चित्तशुद्धि के उपाय विस्तृतरूप से विवृत हुए हैं सुतरां इस स्थान पर पुनः उन्हें नहीं लिखना पड़ा। प्रयोजन होने पर उक्त पुस्तक देखो।

साधुसङ्ग

कुसङ्ग जिस प्रकार भक्तिपथ का कण्टक है, सत्सङ्ग उसी प्रकार भक्तिलाभ में सहायक है। यथा—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन खलु जायते।

—नारदपुराण, ४/३३

भक्ति भगवद्भक्तसङ्ग से ही जन्मती है। सूर्य अपनी किरणमाला से जिस प्रकार बाहर का अन्धकार नाश करते हैं, उसी प्रकार साधुगण अपनी सदुक्तिरूपी किरणजाल के द्वारा सर्वतोभाव से हृदय का अन्धकार नाश किया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

—श्रीमद्भागवत, ३/२५/२५

साधुओं के संसर्ग से मेरी शक्तिसम्बन्धीय, हृदय और कर्ण की सुखजनक कथा होती रहती है, वही कथा सम्भोग करने पर शीघ्र ही मुक्ति पथ पर क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति उत्पन्न हुआ करती है।

भक्तप्रवर प्रह्लाद ने कहा है,—''जब तक विषयाभिमानहीन साधुओं की पदधूलि के द्वारा अभिषिक्त नहीं हुआ जाता है, तब

तक किसी की भी मति संसारवासना नाश के उपाय जो भगवान् के चरणकमलों हैं, उसका स्पर्श नहीं कर सकती।" अतः भक्तिसाधना करने के लिए सर्वदा सत्सङ्ग करना एकान्त कर्तव्य है। जीवनधारण के कार्यकाल के अतिरिक्त जभी थोड़ा समय मिले, तभी साधुसङ्ग में बैठकर श्रीभगवान् का गुणगान किया करो, क्योंकि भगवत्-चिन्ता से विश्राम मिलते ही मन स्वभावतः रजः और तमोगुण के आवेश से विमुग्ध हो जाता है और उसी क्षण ही विषय-चिन्ताओं से मन विक्षिप्त, चञ्चल और दुर्बल हो पड़ता है। समस्त कार्यों एवं समस्त अवस्थाओं में यदि इन्द्रियों के साथ मन भगवच्चरणों में संलग्न रहे, तब क्रमशः भक्ति का आवेश वर्द्धित होता रहता है। जितने दिन चित्त में भक्तिभाव का उदय नहीं होता है, उतने दिन साधुसङ्ग में भगवद्गुणगान का श्रवण करते रहने पर क्रमशः आसक्ति बढ़ेगी और भक्ति दृढ़ा होगी। तभी तो महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव ने अपने श्रीमुख से कहा है—

व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनञ्च तदा भवेत्॥

साधुसङ्ग का प्रभाव नितान्त आश्चर्य है। सहस्र सहस्र वर्ष तक योग तपस्या करके भी जो प्राप्त नहीं हो पाता है, एकबार साधुसङ्ग करके ही वह प्राप्त हो जाता है। साधुओं के दर्शनों से ही समस्त पापों से मुक्त हुआ जाता है। यथा—

गीतायाः श्लोकपाठेन गोविन्दस्मृतिकीर्तनात्।
साधुदर्शनमात्रेण तीर्थकोटिफलं लभेत्॥

—गीता का श्लोकपाठ करना होता है, गोविन्द के नाम का स्मरण करना पड़ता है, तब जाकर कहीं पापों का नाश होता है, किन्तु साधुओं के दर्शन मात्र से ही कोटि-कोटि तीर्थों का फल प्राप्त होता है एवं सभी पाप दूर होते हैं।

साधुओं का उच्छिष्ट, पदधूलि और पादोदक ग्रहण करने से भी जन्मान्तरीण पुञ्जीकृत पापों का ध्वंस हो जाया करता है। सुतरां साधुसङ्ग ही भगवद्भक्ति की उत्पत्ति का मूल कारण है। साधुओं की सभाओं में हृत्कर्ण-रसायन सतत भागवत-कथा की चर्चा होती है, वही प्राणाराम भगवत्कथामृत जितना ही श्रवण को पवित्र करता रहता है, उतना ही भक्तिमार्ग में क्रमशः श्रद्धा, रति, प्रेम प्रभृति का उदय होता रहता है। अतएव सत्सङ्ग ही भगवद्भक्ति का जनक है, पोषक है, विवर्धक और रक्षक है। सत्सङ्ग के समान भगवद्भक्ति प्राप्त करने का प्रकृष्ट उपाय दूसरा नहीं है। साधुओं के दर्शन-स्पर्शन से उनके सात्विक परमाणु साधारण लोगों के तामस परमाणुओं को अभिभूत कर देते हैं, सुतरां अचिर में ही भक्ति का सञ्चार हो जाया करता है। कुमारिका कीड़ा जिस प्रकार दूसरे कीड़ों को अपना स्वरूप बना लेता है, उसी प्रकार साधुगण भी अन्य व्यक्ति पर अचिर में ही साधुओं का छाप छोड़ देते हैं। कितने पाषण्डियों एवं नास्तिकों ने साधुसंसर्ग से अमर जीवन प्राप्त कर लिया है, इस बात के यथेष्ट प्रमाण भी उपलब्ध हैं। साधुसङ्ग के गुण से महापापियों में कैसे-कैसे परिवर्तन साधित होता है, उसका एक उदाहरण देकर इस विषय का उपसंहार करूँगा।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव नीलाचल में अवस्थान कर रहे थे, उसी समय कुछ अविश्वासी पाषण्डियों ने उनकी परीक्षा लेने के लिए एक रूपवती वेश्या को नियुक्त किया। श्रीगौराङ्गदेव जिस संमय ध्यानयोग द्वारा भगवान् के अतुल ऐश्वर्य में डुबे हुए थे, उसी समय उस वेश्या ने जाकर उनके आसन पर उपवेशनपूर्वक उनके गात्र पर हस्तार्पण किया। स्त्री-अङ्ग स्पर्श होने से उनका ध्यान भङ्ग हुआ। किन्तु तब भी वे एक बार आँखें खोलते और—फिर बन्द करते हुए कभी सोचने लगे—उसी सुन्दरतम के निकट हूँ, फिर कभी सोचने लगे—यह मैंने कहाँ आ गया! इस प्रकार कुछ क्षण बीतने पर वे समझ सके कि निकट में ही एक स्त्री बैठी हुई है। सोचे, माता—माँ शचिदेवी मुझे देखने के लिए व्याकुल होकर यहाँ आयी हैं। तब वे उस वेश्या के चतुर्दिक प्रदक्षिणा करते-करते 'माँ-माँ' कहकर सम्बोधन करने लगे एवं उसका स्तन पकड़ कर स्तन्यपान करने लगे।

वेश्या उनका यह भाव देखकर—उनके स्पर्श से मोहित होकर बोली—"मैं तुम्हारी माँ नहीं; मैं दुश्चारिणी हूँ—पापीयसी हूँ, तुम्हारा धर्म नष्ट करने के लिए प्रलोभन में मुग्ध होकर यहाँ आयी हूँ। इसी क्षण मेरा उद्धार करो, अन्यथा मेरी गति नहीं है।"

तब महाप्रभु बोले—"माँ! इस राज्य में किसी के भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। तुमने जिस उपाय से जो कुछ भी सञ्चय किया है एवं तुम्हारी चीज के रूप में जो कुछ भी हो, तत्समुदाय गरीब-दुखियों में बाँट कर मस्तक मुण्डन कर मेरे पास

आओ, उसके बाद तुम्हारा उपाय विधानकल्प में जो करना होगा वह मैं करूँगा।"

वेश्या इस बात से प्रबुद्ध होकर अपने घर जाकर गरीब-दुखियों को यथासर्वस्व दान कर मस्तक मुण्डन कर आने पर दयाल महाप्रभु ने उसे हरिनाम महामन्त्र से दीक्षित किया। साधुसङ्ग से देहविक्रयकारिणी वेश्या का घृणित जीवन मधुमय हो गया। उसके बाद से वेश्या परमाभक्ति की अधिकारिणी हुई थी। साधु-संस्पर्श से क्या उपकार होता है, पाठक समझ गये न ? साधु व्यक्तियों की जीवनी चर्चा, सद्ग्रन्थ पाठ, पवित्र चित्रदर्शन, भगवत्कथालोचना एवं तीर्थभ्रमणादि भी साधुसङ्ग के अन्तर्गत हैं।

नामसङ्कीर्तन

नामकीर्तन भक्तिपथ में विशेष सहायक है। नामसङ्कीर्तन से चित्तदर्पण मार्जित होता है, चित्त का सारा कलङ्क दूर हो जाता है; जो विषयवासना महादावाग्नि के समान हमें निरन्तर दग्ध कर रही है, वह विषयवासना निर्वापित होती है; चन्द्र की ज्योत्स्ना में जिस प्रकार कुमुद खिल उठता है, भगवत्-नामकीर्तन से उसी प्रकार आत्मा का मङ्गल प्रस्फुटित हो उठता है। ब्रह्मविद्या असूर्यम्पश्यरूपा वधू के समान है; कुलवधू जिस प्रकार अन्तःपुर की अन्तःपुर में ही अवस्थित रहती है, ब्रह्मविद्या भी उसी प्रकार हृदय के अति निर्जन प्रकोष्ठ में छिपी रहती है, जन-साधारण के निकट व्यक्त करने का विषय नहीं होती; नामसङ्कीर्तन उसी ब्रह्मविद्या के जीवनस्वरूप है; इसके द्वारा आनन्दसागर तरङ्गायित हो उठता है; इसके पग-पग पर

पूर्णामृत का आस्वादन है एवं इसी में मनुष्य प्रेमरस में डूबकर आत्महरा हो उठता है। क्रमागत नामकीर्तन करते-करते भक्तिलाभ कर अवश्य ही मनुष्य परमपद प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है।

'शास्त्र-सागर के मन्थन कर हरिनाम-सुधा का उद्भव हुआ है। इस सुधापान से मरजगत् के जीव अमरत्व को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और करेंगे। इसी कारण सकल सम्प्रदाय के ही भक्तलोग हरिनाम-सङ्कीर्तन का अनुष्ठान किया करते हैं। यह सभी प्रकार की साधनभक्तियों का सर्वप्रधान अङ्ग है। वैष्णवकवि ने कहा है—

जेइ नाम सेइ कृष्ण भज निष्ठा करि।
नामेर सहित आछे आपनि श्रीहरि॥

—श्रीनरोत्तम

नाम और नामी का अभिन्न वस्तु होना सर्वशास्त्रसम्मत है। सुतरां भगवान् की समुदाय शक्ति ही तदीय नाम में निहित है; किन्तु नाम सर्वत्र शक्ति प्रकाश नहीं करते, पात्रों के अनुरूप भाव से ही शक्ति प्रकाश करते हैं। जिस प्रकार ज्योतिर्मय सूर्य स्फटिक, शीशा, जल प्रभृति स्वच्छ पदार्थों में उनकी निर्मलतानुसार तारतम्य से प्रतिफलित होता है, उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् के नाम भी भक्त-हृदय में उसके स्वच्छतानुसार शक्ति का प्रकाश किया करते हैं। इस निमित्त देखा जाता है कि ये हरिनाम परम भागवत-जनों के शुद्धसत्त्वमय चित्तक्षेत्र में उदित होकर तदीय देहेन्दिय को प्रेमामृत से प्लावित करते हैं, अथच श्रद्धावान् कनिष्ठ भक्तों के हृदय में प्रकाशित होकर तादृश प्रेमलक्षण को प्रकाशित नहीं करते, उनके हृदय को ईषन्मात्र द्रवीभूत

कर दिया करते हैं। फिर घोर अज्ञानान्ध अपराधी जीवों के हृदय में उनकी कोई भी शक्ति प्रकाशित होते नहीं देखी जाती। जिस प्रकार सूर्य मलिन मृत्तिकादि में कभी भी प्रतिफलित नहीं होता, उसी प्रकार हरिनाम भी अनन्त वासनापङ्किल अपराधी जीवों के हृदय में आशु कोई शक्ति प्रकाशित नहीं करता। यथा—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

—श्रीमद्भागवत, २/३/२४

हरिनाम भक्ति-लतिका का बीजस्वरूप है। वह निरपराध व्यक्ति के सरल हृदय-क्षेत्र में उप्त होकर अचिरात् अङ्कुरोद्गम होता है—रत्यादि का लक्षण प्रकाशित होता है; किन्तु जिसका हृदय अनेक अपराधों से प्रस्तर सदृश कठिन हो गया है, उसके चित्तक्षेत्र में नामबीज के उप्त होने पर भी अङ्कुर नहीं होता, भक्तिचिह्न प्रकाशित नहीं होता। सुतरां अपराधी व्यक्ति नामकीर्तन करके भी भक्ति सुख का मुख नहीं देख पाते।*

* भक्तिशास्त्रानुसार अपराध दो प्रकार के हैं; एक—सेवापराध, अपर—नामापराध। इनमें सेवापराध द्वात्रिंशत् प्रकार के और नामापराध दस प्रकार के रूप में कीर्तित हुए हैं। यानादिवाहनों से अथवा पादों में पादुका पहन कर भगवद्गृह में गमन करना, भगवत्प्रीत्यर्थ कृत उत्सव अर्थात् दोल-रासादि उत्सवों का न करना, देवता के सम्मुख प्रणाम न करना, उच्छिष्ट-लिप्त देह अथवा अशौच में भगवद्वन्दनादि करना, एक हस्त से प्रणाम, देवता के सम्मुख पदचारण, देवता के सम्मुख पादप्रसारण, भगवान् के सम्मुख हस्त द्वारा जानुद्वय बन्धनपूर्वक उपवेशन, श्रीमूर्ति के सम्मुख शयन, भोजन, मिथ्या-कथन, उच्चस्वर

अतएव सेवापराध और नामापराध का परिवर्जन कर प्रतिदिन हरिनाम-सङ्कीर्तन करो। हरिनाम-सङ्कीर्तन के प्रभाव से सर्वाभीष्ट पूर्ण होता है—समुदाय पुरुषार्थ सिद्ध होता है। प्रेमभक्ति, भगवत्सेवा, साधनभक्ति, संसारवासनाक्षय इत्यादि अनन्त फल एकमात्र हरिनाम-सङ्कीर्तन द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। तभी तो सभी शास्त्रों में नाम की महिमा,—सभी के कण्ठों से नाम का गौरव-गीत शुनाई देता है। क्रमागत नाम लेते-लेते स्वयं ही प्रेमभक्ति का सञ्चार होगा। अतएंव भावानुयायी बन्धु-बान्धवों को लेकर प्रत्यह नाम-सङ्कीर्तन करना भक्तिलाभ का सर्वप्रधान उपाय है। नाम लेते-लेते आनन्द सागर हिलोरें लेने लगेगा, प्राणों में शान्ति प्राप्त करोगे, विषय-वासना तिरोहित होकर शुद्धाभक्ति का सञ्चार होगा।

में भाषण, परस्पर कथोपकथन, रोदन, कलह, किसी के प्रति निग्रह, किसी के प्रति अनुग्रह, साधारण मनुष्य के प्रति निष्ठुर भाषण, कम्बल के आवरण में गात्रादि को ढककर सेवादि कार्यकरण, देवता के सम्मुख परनिन्दा-परस्तुति, अश्लीलभाषण, अधोवायु परित्याग, सामर्थ्य रहने पर भी कुण्ठता प्रकट करते हुए अल्प व्यय से भगवत् उत्सवादि निर्वाहकरण, अनिवेदित द्रव्य का भक्षण, नूतनशस्यादि भगवान् को समर्पित नहीं करना, लाये हुए द्रव्य का अग्रभाग दूसरे को देकर अवशिष्ट भाग द्वारा देवता का भोग, श्रीमूर्ति की ओर पीठ करके उपवेशन, श्रीमूर्ति के सम्मुख अन्य को प्रणाम करना, श्रीगुरुदेव की अनुमति बिना तुष्णीम्भाव से तन्निकट में उपवेशन, देवतानिन्दन एवं स्वप्रशंसाकरण—ये बत्तीस प्रकार के सेवापराध होते हैं। और सत्-पुरुषों की निन्दा, नामादिका स्वातन्त्र्यरूप से मनन, श्रीगुरुदेव के प्रति अवज्ञा प्रकट, वेद और वेदानुगत शास्त्रों की निन्दा, हरिनाम के माहात्म्य में "यह अर्थवाद अर्थात् स्तुतिमात्र है" इत्यादि मनन, प्रकारान्तर से नाम का अर्थकल्पन, नामबल से पाप में प्रवृत्ति, अन्य क्रिया के

आजकल बङ्गप्रदेश में प्रायः सर्वत्र हरिनाम-सङ्कीर्तन का धूम मच गई है; इस खुशी के विषय में कोई सन्देह नहीं है। किन्तु अधिकांश स्थलों पर नामकीर्तन के लिए कीर्तन अनुष्ठित नहीं होता है; संगीत-सुख या बाह्य आनन्द के लिए कीर्तन अनुष्ठित हुआ करता है। कोई-कोंई या अस्वाभाविक भक्ति के उच्छ्वास से "दशा" को प्राप्त होकर कितने रंग-ढंग करते रहते हैं, निर्बोध लोग उन्हें अवतारविशेष समझकर सेवाभक्ति करनी आरम्भ कर देते हैं। दशाग्रस्त व्यक्ति अपने-आप को नहीं समझ पाकर स्वयं को गौर या निताई समझकर अहङ्कार से धरा को सरा ज्ञान करते रहते हैं। अहङ्कार के सञ्चार मात्र से ही भक्ति का लोप हो जाता है। शास्त्र में उक्त है—

अभिमानं सुरापानं गौरवं रौरवं ध्रुवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत्॥

अभिमान को सुरापानसम, गौरव को रौरव-नरकसम, प्रतिष्ठा को शूकरीविष्ठासम जानकर हरि का भजन करो। किन्तु विन्दुमात्र भी

साथ नाम का तुल्यत्व चिन्तन, श्रद्धाविहीन जन को नामोपदेश एवं नाममाहात्म्य श्रवण में अप्रीति—ये दस प्रकार के नामापराध हैं। इन उभय प्रकार के अपराधियों के हृदय में प्रेमविकार प्रकाशित नहीं होते हैं। यहाँ तक कि अपराधी व्यक्ति अनेक जन्मों तक हरिनाम करने पर भी प्रेमभक्ति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यथा—

बहुजन्म करे यदि श्रवण कीर्तन।
तबु नाहि पाय कृष्णपदे प्रेमधन॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

अहंभाव की प्रतिष्ठा प्रत्याशा करने से भक्ति की आशा विड़म्बना मात्र है। कंगालों के ठाकुर प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेव और तदीय भक्तलोग प्रेमावेश में भावोन्मत्त होकर नृत्य किया करते थे। भावभक्तिविहीन जीव अनर्थक वैसा अभिनय क्यों करते हो? बल्कि भावमत्तता प्रकट होने पर उसे दबाने की चेष्टा करो। तुम इच्छा करके उसमें योगदान करने पर अचिर ही उद्रिक्त भक्ति अन्तर्हित हो जायेगी। उसे दबा रख पाने से भाव क्रमशः महाभाव में परिणत होकर भक्त को आत्महरा कर प्रेम का उत्स उत्सारित कर देगा। उस अवस्था के दर्शन कर बन्धु-बान्धव भी धन्य हो जायेंगे। अन्यथा लोगों से बहादुरी लेने के लिए इस प्रकार के धर्म का आडम्बर बड़ा ही घृणार्ह है। नास्तिकता की अपेक्षा धर्म का ढोंग अनिष्टकारी होता है। अतएव लोगों को दिखाने के लिए ढोंग एवं उन्हें बहलाने की प्रवृत्ति का परित्याग कर सरल विश्वास के साथ समाहित चित्त से दीनतावलम्बनपूर्वक भगवन्नामगुणकीर्तन करो। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

—शिक्षाष्टक, ३

तृण से भी नीच एवं वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होकर, अपना अभिमान त्याग कर, दूसरों को सम्मान देकर, सदा हरिनाम-कीर्तन करो। पतितपावन दीनदयाल श्रीगौराङ्गदेव ही इस देश में विशेष प्रकार से हरिनाम-सङ्कीर्तन का प्रचार कर गये हैं।

इस प्रकार से भगवान् का नाम-लीलाकीर्तनरूप व्रत का जिन्होंने अवलम्बन किया है, उनके हृदय में उसी प्रियतम का नाम-कीर्तन करते-करते अनुराग का उदय होता है और चित्त द्रवीभूत होता है। सुतरां वे तब उच्चैःस्वर से हास्य करते हैं, कभी रोदन करते हैं, तो कभी व्याकुल चित्त से चीत्कार करते हैं, कभी गीत गाते, तो कभी उन्माद की तरह नृत्य करते हैं।

चित्तशुद्धि का साधन, साधुसङ्ग और नाम-सङ्कीर्तन करते-करते स्वयं ही भक्ति का उदय होगा। प्रथमतः श्रद्धा का उदय होता है; तब सद्गुरु की कृपा आकर्षण कर दीक्षा-शिक्षा ग्रहण करते हुए उच्चस्तर की साधना में नियुक्त हो जाओगे।

भक्ति की चतुःषष्टिप्रकार साधना

भक्ति साधना का धन है। भक्ति करूँगा कह देने से ही भक्ति नहीं की जा सकती। अभ्यास के द्वारा जिस प्रकार जगत् के सारे कार्यों का सम्पादन किया जाता है, उसी प्रकार भक्ति भी प्राप्त की जाती है, किन्तु बात कुछ कठिन है। साधनभक्ति में पूजा, जप, होम, व्रत, नियमादि कर भगवान् में आत्मसमर्पित होना होता है। पूजार्चना, याग-यज्ञ और स्तवकवचादि के द्वारा भगवान् की साधना करनी पड़ती है। अरूप को सरूप कर, मूर्ति गठन कर, चित्र अङ्कन कर उन्हें भजना होता है। उनकी लीला श्रवण, लीलास्थान अर्थात्

तीर्थादि दर्शन, स्मरण, मनन, भाषण प्रभृति साधनभक्ति के अङ्ग हैं। अङ्ग किसे कहते हैं ?

आश्रितावान्तरानेकभेदं केवलमेव वा।
एकं कर्मात्र विद्वद्भिरेकं भक्त्यङ्गमुच्यते॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/७३

जिसका अवान्तर भेद लक्षित होता है, अथवा जिसमें स्वगतभेद स्पष्टरूप से प्रतीयमान नहीं होता, एतादृश वक्ष्यमाण एक-एक कर्म को भक्ति का अङ्ग कहा जाता है।

भक्तिशास्त्रों में असंख्य प्रकार के भक्ति के अङ्ग कीर्तित हुए हैं; उनमें चतुःषष्टि प्रकार मुख्य हैं। इस चतुःषष्टि प्रकार की भक्ति के अङ्ग तीन स्तरों में विभक्त हैं। यथा—

प्रथम सोपान—गुरुपादपद्म में आश्रयग्रहण, मन्त्रदीक्षाग्रहण और गुरुदेव के निकट तत्त्वविषयक शिक्षालाभ, विश्वास और श्रद्धा के साथ गुरुसेवा, भक्तों के आचरित पथ का अनुगामी होना, सद्धर्म जिज्ञासा, भगवान् की प्रसन्नता के हेतु भोगविलास का त्याग, तीर्थवास, जिस किसी विषय का अनुष्ठान करना होगा, उसमें जिस अंश का सम्पादन नहीं करने पर भक्ति प्राप्त नहीं होती है—वहीं तक अनुष्ठानरूप यावदर्थानुवर्तिता, एकादशी प्रभृति हरिवासर का यथाशक्ति सम्मान एवं आमलकी (आँवला), अश्वत्थ प्रभृति वृक्षों की गौरव रक्षा—ये दस अङ्ग साधनभक्ति के आरम्भस्वरूप हैं अर्थात् इन दस अङ्गों का याजन कर सकने पर भक्ति का सञ्चार होगा।

द्वितीय सोपान—दूर से ही भगवद्विमुखजनों का संसर्गत्याग, अनधिकारी व्यक्ति को शिष्यादि के रूप में अङ्गीकार न करना, मठादि निर्माण विषयों के प्रति निरुद्यमता, बहुविध ग्रन्थ और चतुःषष्टिप्रकार की कलाओं का अभ्यास या व्याख्या एवं वाद का परिवर्जन, जो द्रव्य की प्राप्ति नहीं हुई किंवा लब्धवस्तु के विनष्ट होने पर तद्विषय में चिन्ता न कर अदीनभाव प्रकाश, शोकमोहादि के प्रति अवशीभूतता, अन्य देवता के प्रति अवज्ञाशून्यता, प्राणियों को उद्वेग न देना, सेवापराध और नामापराध उत्पन्न न होने देना एवं भगवान् या भक्तों की निन्दा या विद्वेष-करण और श्रवण का परित्याग;—इन दस अङ्गों को छोड़कर साधनभक्ति का उद्रेक नहीं होता है। उसी कारण इन दस अङ्गों का अनुष्ठान अवश्य करणीय है।

यद्यपि उल्लिखित विंशति अङ्ग भक्ति में प्रवेश करने के द्वारस्वरूप हैं, तथापि गुरुपदाश्रय प्रभृति तीन अङ्ग प्रधान रूप में कीर्तित हुए हैं।

तृतीय सोपान—वैष्णवचिह्नधारण, शरीर पर हरिनामाक्षर लेखन, निर्माल्यधारण, भगवान् के समक्ष नृत्यकरण, दण्डवत् प्रणामकरण, भगवान् की प्रतिमूर्ति के दर्शन कर गात्रोत्थान, अनुव्रज्या अर्थात् भगवान् की प्रतिमूर्ति के पीछे-पीछे गमन, भगवान् के अधिष्ठान-स्थान पर गमन, परिक्रमा, अर्चन, परिचर्या, गीत, सङ्कीर्तन, जप, विज्ञप्ति (निवेदन), स्तवपाठ, नैवेद्य-स्वादग्रहण, चरणामृत सेवन, धूप-माल्यादि का सौरभ ग्रहण, श्रीमूर्तिदर्शन, श्रीमूर्तिस्पर्शन, आरात्रिक और उत्सवादि दर्शन, भगवन्नामश्रवण, भगवान् की कृपा के प्रति निरीक्षण,

स्मरण, ध्यान, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन, भगवान् को स्वीय प्रियवस्तु समर्पण, भगवान् के लिए समुदाय चेष्टा, सकल अवस्थाओं में शरणापत्ति, तुलसीसेवन, श्रीमद्भागवतादि शास्त्रसेवन, मथुरासेवन, वैष्णवसेवन, जैसे विभव है, तदनुरूप गोत्रवर्ग के साथ महोत्सव; कार्तिक माह का समादर, श्रीकृष्ण की जन्मयात्रा, श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्ति की परिचर्यादि, भक्तों के साथ श्रीमद्भागवत का अर्थ आस्वादन, जिनका अभिप्राय आत्मसदृश है एवं जो अपने से श्रेष्ठ एवं स्निग्ध उस प्रकार का साधुसङ्ग, नामकीर्तन और मथुरामण्डल में अवस्थिति; ये चौवालिस प्रकार के अङ्ग साधनभक्ति के चरम याजन हैं। इनकी साधना से भक्त सिद्धदशा में उपनीत होते हैं।

इस प्रकार से क्रमशः पृथक् और समष्टिरूप से शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण द्वारा चतुःषष्टिप्रकार की उपासनाएँ कथित हुई हैं, इनकी साधना से हृदय में भक्ति का उदय होता है। साधना का अर्थ है अभ्यास या अनुशीलन। अनुशीलन या अभ्यास नहीं करने पर कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। आहार-विहार गमन प्रभृति सामान्य कार्य जब अभ्यास-सापेक्ष हैं, तब मानवों की अति उच्च वृत्तियाँ बिना अनुशीलन से उन्नत भाव को प्राप्त होंगी ऐसा नहीं हो सकता। भगवान् में चित्त का समर्पण कर उनका नामकीर्तन, साधुसङ्ग, भागवत कथा की चर्चा प्रभृति द्वारा भक्ति का उदय हुआ करता है; अथवा देवता-अर्च्चन, पूजा, जप, तप, दान, ध्यान, पुरश्चरण प्रभृति द्वारा भी भगवद्भक्ति का उदय हुआ करता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०/८-१०

—पण्डितगण मुझे सबका कारण और मुझसे समस्त प्रवर्तित जानकर प्रीतमन से मेरी अर्चना करते हैं। वे मुझे मन और प्राण समर्पण कर मुझे विदित होते हैं एवं मेरा नाम कीर्तन कर एकान्त सन्तोष और परम शान्तिलाभ किया करते हैं। मैं उसी समस्त प्रीतचित्त भक्तों को बुद्धि का प्रदान करता हूँ, वे इसके द्वारा मुझे प्राप्त हुआ करते हैं।

बुद्धि का विकास ही भक्ति है अर्थात् बुद्धि के उपस्थित होने पर सत् क्या है, असत् क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है, इन सबसे अवगत हुआ जा सकता है, तब अपने से ही भगवद्भक्ति का उदय हो जाता है।

जब मनुष्य की सारी वृत्तियाँ ईश्वरमुखी या ईश्वरानुवर्ती होती हैं, तब वही अवस्था भक्ति कहलाती है। ऐसा होने पर, ईश्वर में वे सारी वृत्तियाँ अर्पित होने पर उनके आनन्दस्वरूप उनमें प्रतिबिम्बित होकर सुख ही प्रदान करता है। दर्पण में देखकर हँसने पर दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब भी हँसता रहता है। वृत्तिसमुदाय उनमें एकमुखी होने पर

उनका स्वरूप प्रतिभात होता है; वे आनन्दमय हैं, वे आकाङ्क्षापरिशून्य हैं, सुतरां भक्तों में भी उसी भाव का उदय होता है। तब मनुष्य सुखी होता है। उसका और कुछ नहीं रहता है—वह और कुछ भी नहीं समझता है। उसी आनन्द में ही उसका आनन्द है—उसी भाव में वह विभोर रहता है। सभी प्रकार के भावों के साथ, सभी प्रकार की वृत्तियों के साथ, सभी प्रकार की वासनाओं के साथ, सभी प्रकार की कामनाओं के साथ, सभी प्रकार के ज्ञान के साथ ईश्वर के प्रति अनुरक्ति ही प्रेमभक्ति है। भक्ति से ही प्रेम जन्मता है। प्रेम का उदय होने पर ही जीव जीवन्मुक्त हो जाता है।

कोई कोई कहते हैं कि वर्णाश्रमविहित कर्म-परम्परा भक्ति का अङ्ग है, किन्तु भक्तितत्त्ववेत्ता ऋषिलोग इसे स्वीकार नहीं करते। कारण शास्त्रों में उक्त हुआ है कि—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।

—श्रीमद्भागवत, ११/२०/९

—जहाँ तक निर्वेद अर्थात् विषयों के प्रति वैराग्य नहीं जन्मता है और यदवधि भागवती कथादि में श्रद्धा नहीं जन्मती है, वहाँ तक वर्णाश्रमविहित सारे कर्म करो।

श्रद्धा जन्मते ही फिर वर्णाश्रमधर्म का प्रयोजन नहीं रह जाता, सुतरां वह किस प्रकार भक्तिसाधना के अङ्गों में परिगणित होगा? कोई कोई ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का अङ्ग कहकर उल्लेख करते हैं, किन्तु वह भी युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता। भक्तिमार्ग के

अविरोधी ज्ञान और वैराग्य भक्तिमार्ग में प्रवेश कराने में प्रथम सहायक हैं, सुतरां वे भक्ति के अङ्ग नहीं हैं। साधुओं का मत यह है कि उत्तरकाल में ज्ञान और वैराग्य के प्रति अनुगत रहने पर दोषान्तर की उत्पत्ति होती है अर्थात् चित्त का काठिन्य जन्मता है, कारण महाजनलोग ज्ञान और वैराग्य को चित्तकाठिन्य का हेतु मानते हैं; इसका कारण यह है कि नाना वाद निरास कर तत्त्वविचार करते जाने पर एवं दुःसह अभ्यासपूर्वक वैराग्यसाधना करनी हो, तो अवश्य ही चित्त का काठिन्य जन्मता है; अतएव भक्ति भिन्न भक्तिलाभ का और अन्य हेतु नहीं हो सकता। ज्ञानसाध्य मुक्ति और वैराग्यज्ञान, केवल भक्ति द्वारा ही सिद्ध होते हैं। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान और अन्यान्य मङ्गल के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, भगवद्भक्तगण केवल भगवद्विषयिणी भक्तिद्वारा वह सब अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। उद्धव को श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥

—श्रीमद्भागवत, ११/२०/३३

यद्यपि मेरे भक्तों को किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं है, तथापि भक्ति की उपयोगिता के निमित्त कथञ्चित् यदि वे स्वर्ग, अपवर्ग और मदीय धाम की वाञ्छा करते हैं, तो वे वह सब भी अनायास प्राप्त कर सकते हैं।

अन्तःशुद्धि, बाह्यशुद्धि, तपस्या एवं शान्ति प्रभृति सारे गुण भगवत्सेवाभिलाषी भक्तों के निकट स्वयं जाकर उपस्थित हो जाते हैं, सुतरां उन्हें भी भक्ति का अङ्ग नहीं कहा जा सकता है।

वैधीमार्ग के भक्तगण प्रोक्त चतुःषष्टिप्रकार साधनभक्ति के आश्रय में परिपक्क अवस्था में शान्तरति प्राप्त कर चतुर्विध मुक्ति को प्राप्त होते हैं। और रागानुगामार्ग के भक्तगण साधनभक्ति के एकमात्र मुख्याङ्ग या बहु अङ्गों के आश्रय में परिपाकदशा में प्रेमभक्ति प्राप्त किया करते हैं। यथा—

एक अङ्ग साधे किवा साधे बहु अङ्ग।
निष्ठा हइले बहे प्रेमेर तरंग॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

जिस भक्ति ने एकमात्र मुख्याङ्ग या बहु अङ्ग .आश्रय किया है, वही भक्ति भक्तगणों की निष्ठा देखकर उन्हें सिद्धि प्रदान करती है। यथा—

सा भक्तिरेकमुख्याङ्गाश्रिताऽनेकाङ्गिकाथवा।
स्ववासनानुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृद्भवेत्॥

—स्कन्दपुराण

श्रीमद्भागवतश्रवण में महाराज परीक्षित, श्रीमद्भागवतकीर्तन में शुकदेव, स्मरण में प्रह्लाद, चरणसेवन में लक्ष्मी, अर्चन में आदिराज पृथु, वन्दन में अक्रूर, दास्यविषय में हनुमान्, सख्य में अर्जुन और आत्मनिवेदन में दैत्यराज बलि केवल एक-एक मुख्याङ्ग एवं महाराज अम्बरीष अनेक अङ्गों के आश्रय में भक्तिसाधना कर भगवच्चरण को प्राप्त हुए हैं।

चैतन्योक्त साधनपञ्चक

कंगालों के ठाकुर प्रेमावतार श्रीश्रीचैतन्यदेव ने वर्तमान युग की प्रथम सन्ध्या में जगत् में आविर्भूत होकर निगूढ़ प्रेमसम्पद का पात्र-अपात्र निर्विशेष में जगद्वासी जीवगण को सम्प्रदान किया है। वर्तमान काल के नितान्त शक्तिहीन मानव उन्हीं की अनुकम्पा पर निर्भर कर सर्वोत्तम प्रेम-भक्तिलाभ की आशा कर रहे हैं। वास्तविक श्रीचैतन्य की अनुकम्पा के बिना कालग्रस्त मानव अन्य किसी उपाय से परम प्रेम के अधिकारी नहीं हो सकते। श्रीश्रीमन्महाप्रभु के जो सारे पारिषद बहुविध भक्तिशास्त्र प्रणयन कर प्रेमभक्तिलाभ का पथ सुगम कर गये हैं, उनमें से कोई भी अपण्डित नहीं थे। उनलोगों के विरचित ग्रन्थसमुदाय ही उनके अपार्थिव ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का साक्ष्य प्रदान कर रहे हैं। उनमें श्रीयुक्त कृष्णदास कविराज गोस्वामी अन्यतम हैं। उन्होंने अनर्पित प्रेमभक्ति के अमृत-सागर में निमग्न होकर जिस असमोर्ध्व भगवन्माधुर्य का आस्वादन किया था, वह भावी वंशधरों को उपभोग कराने के लिए उनके लिए सुगम पन्थ का प्रदर्शन कर श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ का प्रणयन किया है। अतएव उस ग्रन्थ के प्रामाणिक महावाक्य को "बांलार कविता" (बंगला की कविता) कहकर उसकी कोई भी उपेक्षा न करें। कुछ लोग वैष्णवशास्त्र का मर्म न समझ पाकर उसे "वैष्णवी हैंयालि (पहेली)" समझकर अपना नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत की हर वाणी दर्शन-विज्ञान की सुदृढ़

भित्तिभूमि पर संस्थापित है; वह डोरलंगोटधारी मुण्डित सम्प्रदाय का अज्ञानविजृम्भित शून्योच्छ्वास नहीं है। पहले हिन्दुओं के तन्त्र, पुराण, स्मृति, श्रुति, दर्शन, उपनिषद् का पाठ करो, तत्पश्चात् उस लंगोटकन्थाधारी वैरागियों की पहेली का पाठ करने का प्रयास करो, तब कहीं कुछ समझ सकोगे। इस भाव के भावुक भिन्न दूसरे को वह तत्त्व बोधगम्य नहीं होगा।

परमदयालु महाप्रभु ने प्रेमभक्ति-प्राप्ति के सुगम पन्थ का प्रचार किया है; उन्होंने प्रभुपाद श्रीमत् सनातन गोस्वामी से कहा है— "सत्सङ्ग, कृष्णसेवा, भागवत, नाम और व्रजवास इन पञ्चविध उपायों से प्रेमभक्ति प्राप्त होती है।" श्रीमत् कविराज गोस्वामी के द्वारा श्रीश्रीगौराङ्गदेव की स्वगत उक्ति से ही यह प्रकाशित है। यथा—

सत्सङ्ग, कृष्णसेवा, भागवत, नाम,
व्रजे वास—एइ पञ्च साधन प्रधान।
एइ पञ्चमध्ये यदि एक स्वल्प हय,
सुबुद्धिजनेर हय कृष्णप्रेमोदय॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

दुरूह और आश्चर्यजनक प्रभावशाली इस पञ्च विषय के प्रति श्रद्धा तो दूर, अत्यल्प मात्रा का भी सम्बन्ध होने पर सुबुद्धिव्यक्तियों में भाव का जन्म हो सकता है।

सत्सङ्ग—हमने पहले ही साधुसङ्ग की महिमा का वर्णन कर दिया है। साधुसंसर्ग के गुण से अस्पृश्या कुलटा भी परम भक्ति की अधिकारिणी हुई है। यथा—

प्रसिद्ध वैष्णवी हइल परम महान्ती।
बड़ बड़ वैष्णव तार दर्शनेते यान्ति॥

—भक्तमालग्रन्थ

नारद भी साधुसङ्ग से नवजीवन प्राप्त किये हुए हैं। वे पूर्वजन्म में एक दासी के पुत्र थे; उन्होंने प्रभु के आदेश से साधुओं की सेवा में नियुक्त होकर साधुसङ्ग के प्रभाव से भक्तिलाभ की थी। यथा—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जेतदपास्तकिल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥

—श्रीमद्भागवत, १/५/२५

—ब्राह्मणसाधुओं की अनुमति लेकर मैं उनका उच्छिष्ट अन्न भोजन करता था, जिसके द्वारा मेरे पाप दूर हुए; इस प्रकार करते-करते मैं विशुद्धचित्त हुआ, जिससे उनके परमेश्वरभजनरूप धर्म में मेरी रुचि जन्मी।

साधुसङ्ग की महिमा असीम है। साधुचरित्र की चर्चा और सद्ग्रन्थपाठ भी सत्सङ्ग के अन्तर्गत हैं। साधुसङ्गद्वारा जीवन भक्तिपथ में उन्नतिलाभ करता है।

कृष्णसेवा—कृष्णसेवा का अर्थ श्रीकृष्ण की प्रतिमूर्ति की परिचर्या, गुरुसेवा और भक्तसेवा समझनी होगी; यह बाह्येन्द्रिय द्वारा सम्पन्न होगी। और अन्तरेन्द्रिय मन द्वारा मनोमयी मूर्ति की सेवा करो। संसार के सभी जीवों को भगवान् समझकर श्रद्धा के साथ सेवा कर सकने पर प्रकृत कृष्णसेवा होती है। एतदपेक्षा भक्तिलाभ का उत्कृष्ट पन्थ और क्या हो सकता है ?

श्रीमद्भागवतग्रन्थ में महाराज अम्बरीष का उपाख्यान में लिखित है, कि उन्होंने श्रीकृष्णपदारविन्द-चिन्तन में मन, वैकुण्ठ-गुणानुवर्णन में वाक्य, हरि के मन्दिर-मार्जनादि में कर, उनके सत्प्रसंग-श्रवण में कर्ण, श्रीमूर्ति के मन्दिर-दर्शन में नयनद्वय, भक्त-गात्रस्पर्श में अङ्ग, श्रीमूर्ति के पादपद्म में अर्पित तुलसी की गन्ध में नासिका, उन्हें निवेदित अन्नादि में रसना, श्रीहरि के क्षेत्र में परिक्रमण के लिए पादद्वय एवं उन्हें प्रणाम करने के लिए मस्तक नियुक्त किया एवं भोग्य विषयों में भोगलिप्सु न बनकर भगवान् के दासभाव से भोग करने लगे। जो भक्ति भगवद्भक्तों को आश्रय करके रहती है, वे उस श्रेष्ठतमा भक्तिलाभ के लिए ऐसा करने लगे। इस प्रकार करते-करते गृह, पत्नी, पुत्र, हस्ती, रथ, अश्व, सैन्य, अक्षय रत्नाभरण, अस्त्रादि, रत्नभण्डार किसी में भी उनकी आसक्ति न रही। क्रम से पराभक्ति ने उनके हृदय पर अधिकार कर लिया, मन एकमात्र हरिपादपद्म में मग्न हुआ रहा। भगवान् ने अपने मुख से ही कहा है—

मन नाम सदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा।
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न तु मुक्तिः कदाचन॥

—आदिपुराण

—जो व्यक्ति सर्वदा मेरा नाम ग्रहण करते हैं एवं मेरी सेवा में ही जिनको प्रीति का अनुभव होता है, मैं उन्हें भक्ति भिन्न मुक्ति कभी भी प्रदान नहीं करूँगा।

भागवत—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" अर्थात् यह भागवतशास्त्र वेदरूप कल्पवृक्ष का अमृत फल है। अमृतरसान्वित रसस्वरूप इस

फल का प्रेमभक्तिलाभ के लिए पुनः पुनः पान करो। भागवत में कितने भक्त एवं उनके चरित्र आख्यात हैं; किस भक्त पर भगवान् ने किस प्रकार कृपा की, किस भक्त ने किस प्रकार भक्तिलाभ की है, विशेषतः उसमें भगवान् के अनन्त गुण, अहेतुक कृपा एवं असमोर्ध्व-लीलामाधुर्य गूँथे हुए हैं, उनका पाठ करते-करते अतिपाषण्डी का हृदय भी द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। भगवान् का स्वरूपवर्णन, लीलाकीर्तन, शक्तिप्रचार और भक्तों की कहानियाँ जिन सारे ग्रन्थों में प्रचुर मिलें, वे ही भागवतशास्त्र हैं। श्रीमद्भागवतग्रन्थ में तत्समस्त ही पर्याप्त परिमाण में हैं; तभी तो चैतन्यदेव ने भागवत को भक्ति का एक प्रधान साधन कहा है। भागवतग्रन्थ अध्ययन और श्रवण करने से मन भक्तिपथ पर अग्रसर होता रहता है। एकमात्र भागवतश्रवण से महाराज परीक्षित ने भगवच्चरणारविन्द को प्राप्त किया था। जिस ब्रह्मलाभ के लिए योगि-ऋषि-ज्ञानिगण आत्महरा हैं, भागवतग्रन्थ ने उसी ब्रह्म को चिद्घनानन्दविग्रह श्रीकृष्ण की तनु की आभा कहकर एकमात्र भक्तिपथ को प्रशस्त कर दिया है। सुतरां भक्तिलाभ के लिए भागवत पाठ ही एकान्त कर्तव्य है। हमारे पुराण, उपपुराण समस्त ही भागवतशास्त्र के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक पुराण ही भगवान् और भक्तों की कहानियों से भरा है। पर हाँ, श्रीमद्भागवत ग्रन्थ उन सब में श्रेष्ठ है; यह किसी के भी द्वारा अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

नाम—कीर्तन, श्रवण और जप, नाम-साधना के अन्तर्गत हैं; सुतरां भक्तिपथ में सहायक हैं। नाम, रूप और गुणादि का उच्च रव से उच्चारण करने को कीर्तन और श्रद्धा के साथ उसे सुनने

को श्रवण एवं नाम या मन्त्रादि के लघु उच्चारण को जप कहते हैं।* हरि का जो नामानुकीर्तन है, वही फलाकाङ्क्षी पुरुषों के तत्तत् फल का साधन है एवं मुमुक्षुओं के लिए भी यही मोक्षसाधन है, अपर यही ज्ञानियों के ज्ञान का फल है; अरएव साधक एवं सिद्ध, किसी के भी लिए एतदपेक्षा अन्य परम मङ्गल और नहीं है। भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से कहा है—

गीत्वा च मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ।
इति व्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन॥
—आदिपुराण

—हे अर्जुन ! मेरा नाम गान करते हुए जो व्यक्ति मेरे निकट विचरण करते हैं, तुम्हें सत्य कह रहा हूँ, मैं उनके निकट क्रीत होकर अवस्थिति किया करता हूँ।

नाम और नामी में भेद नहीं रहने के कारण नाम ही चिन्तामणिस्वरूप है अर्थात् समस्त पुरुषार्थप्रदायक है, वही नाम चैतन्यरसस्वरूप है, अपरिच्छिन्न एवं मायासम्बन्द्धविरहित और माया से अतीत है। इसी कारण भगवन्नाम प्रंकृत ही इन्द्रियों के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता; फिर भी साधारण जनगण को नामादि ग्रहण करते देखा जाता है, उसका कारण यह है, कि भगवन्नामादि के ग्रहण से रसनादि इन्द्रिय उन्मुख होने पर नामादि उसमें स्वयं ही

---

* जप के नियम और कौशलादि विशेषकर मेरे रचित "तान्त्रिकगुरु" पुस्तक में लिखे हुए हैं।

प्रकाशित हुआ करते हैं। श्रीश्रीगौराङ्गदेव ने "हरिनाम के बिना कलिग्रस्त जीव की अन्य गति नहीं है"—इसे त्रिसत्य कर बारम्बार कहा है। यथा—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

वास्तविक दुर्बलाधिकारी कलि के मानवों के लिए नाम के बिना गति नहीं है। अयोध्यापति दशरथ ने अन्धमुनि के पुत्र सिन्धु की अज्ञातसार से हत्या कर प्रायश्चित्तविधान के लिए वशिष्ठाश्रम में गमन किया। ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठदेव के आश्रम में अनुपस्थितिहेतु तदीय पुत्र वामदेव ने पापमोचन के लिए राजा को सङ्कल्पपूर्वक तीन बार रामनाम करने को कहा। बाद में वशिष्ठदेव ने उसी कथा का श्रवण करते हुए क्रोधान्ध होकर कहा था, "एक रामनाम से कोटि ब्रह्महत्या के पाप का विनाश होता है, तूने राजा से तीन बार राम नाम क्यों कराया ? हतभाग्य! ब्राह्मण होकर भी नाम की मर्यादा नहीं जानता, तू चण्डालयोनि में जन्मग्रहण कर।"

नाम की महिमा असाधारण है। वैष्णव सम्प्रदायवाले कहते हैं—एक हरिनाम जितने पापों का विनाश करता है, जीवों के लिए उतने पाप करने का सामर्थ्य ही नहीं है। नाम लेते-लेते प्रेम का सञ्चार हो जाता है।

एक कृष्णनामे करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

पूर्व जन्म में नाम का श्रवण करके ही देवर्षि नारद में भक्ति का सञ्चार हुआ था। यथा—

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोऽपहा॥

—श्रीमद्भागवत, १/५/२८

—इस प्रकार शरत् और वर्षाकाल में महात्मा मुनियों द्वारा सङ्कीर्त्यमान हरि का अमल यशः प्रात में, मध्याह्न में और सायाह्न में सुनते-सुनते मुझमें रजस्तमोनाशिनी भक्ति का उदय हुआ।

नाम जपना आरम्भ करते ही सभी लोगों का अखिल पाप दूर हो जाते हैं, विषय-वासना दूरीभूत होकर चित्तदर्पण मार्जित होता है। नाम जपते-जपते प्रेम का सञ्चार होता है और परम पद को प्राप्त कर कृतार्थ हुआ करते हैं।

व्रजवास—व्रजवास का अर्थ मथुरामण्डल के अन्तर्गत जिस किसी स्थान पर निवास करना समझना होगा। इसी मथुरामण्डल में एक दिन प्रेमभक्ति के प्रबल ज्वार में यमुना उजान प्रवाहित हुई थी, पशु-पक्षी तक भी हरिनाम गाये थे, बिना वसन्त के ही वृक्ष-लताओं ने फल-पुष्प प्रसव किया था। मथुरामण्डल की कथा श्रवण करते ही प्राणों में भक्ति का सञ्चार हो जाया करता है। आज भी मथुरामण्डल के प्रत्येक धूलकण में—प्रत्येक परमाणु में राधा-कृष्ण का प्रेमकण जड़ा हुआ है; सुतरां वहाँपर या वहाँ के रजः सर्वाङ्ग में लेपन करने से ही भक्तों के हृदय में प्रेमसञ्चार होगा, यह

विज्ञानसम्मत तथ्य है। सिर्फ मथुरामण्डल ही नहीं, सभी तीर्थ ही पापनाशक और भक्ति-उद्दीपक हैं।

भूमि का कोई अद्भुत प्रभाव, जल का कोई अद्भुत तेज किंवा मुनियों के अधिष्ठान के कारण तीर्थ पुण्यस्थान माने जाते हैं। प्रत्येक तीर्थस्थान ही भगवान् किंवा भगवच्छदृश किसी महात्मा की लीलाभूमि होती है; सुतरां उसमें उनकी असाधारण शक्ति, ज्ञान और भक्ति पूञ्जीकृत हुई रहती है। किसी व्यक्ति के वहाँ जाने मात्र से ही वह पुञ्जीकृत शक्ति उसे अनुप्राणित कर देती है। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति का तत्तत् वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। विशेषतः रोज ही कितने लोग तीर्थस्थानों पर एक ही मनोवृत्ति लेकर गमन कर रहे हैं, उनकी समष्टि मनोवृत्तियाँ उसमें पुञ्जीभूत इच्छाशक्तिरूप में प्रादुर्भूत होकर तीर्थवासी मानवों के हृदय को अनुप्राणित कर तदुपयोगी कर लेती हैं। सुतरां अपने-अपने भावानुयायी तीर्थों में निवास या भ्रमण करने से हृदय में भक्तिभाव जाग्रत होता है। विशेषतः तीर्थ-भ्रमण के उद्देश्य से नाना देशों का भ्रमण करने से, भगवान् के विश्वसृष्टि-कौशल का विचित्र व्यापार—कितने नद-हृद-सागर, कितने पर्वत-अधित्यका-उपत्यका, कितनी श्वापदसङ्कुल वनभूमि, नानाजाति कुसुमों की सुन्दर सुषमा के सन्दर्शन कर किसके प्राण भक्तिरस से आप्लुत नहीं होते ? और भी एक सुविधा है; तीर्थभ्रमणकाल में अनेक साधु-महात्माओं का सङ्गलाभ कर कृतार्थ हुआ जा सकता है।

फिर भी जो लोग प्रेमभक्ति अथवा गोपीभावनिष्ठ प्रेमरस प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें मथुरामण्डल में ही निवास करना होगा।

कारण प्रेमभक्ति का उत्ताल तरङ्ग एक मथुरामण्डल से भिन्न अन्य कहीं भी नहीं उठता है। पुराणशास्त्रों में व्रजभूमि मथुरामण्डल का माहात्म्य विशेषरूप से वर्णित है। यथा—

श्रुता स्मृता कीर्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता।
स्पृष्टाश्रिता सेविता च मथुराभीष्टदा नृणाम्॥

—ब्रह्माण्डपुराण

—श्रुत, स्मृत, कीर्तित, वाञ्छित, दृष्ट, प्राप्त, स्पृष्ट, आश्रित और सेवित होने से मथुरा मनुष्यमात्र को ही समस्त अभीष्ट प्रदान करता है। तभी तो आधुनिक किसी भक्त ने गाया है—

कतदिने व्रजेर प्रति कुलि कुलि, काँदिया बेड़ाब स्कन्धे लये झुलि;
कण्ठ बले, कबे पिब करे तुलि, अञ्जलि अञ्जलि जल यमुनार॥

परम आनन्दमयी प्रेमलक्षणा सिद्धि त्रैलोक्यदुर्लभा। किन्तु "परमानन्दमयी सिद्धिः मथुरास्पर्शमात्रतः" अर्थात् मथुरास्पर्शमात्र से ही वह प्राप्त हो जाता है। उसी कारण श्रीश्रीगौराङ्गदेव ने व्रजवास को भक्तिलाभ के प्रधानसाधन कहकर उल्लेख किया है।

भक्ति के इन पाँचों अङ्गों की साधना करते ही सर्वसिद्धि हुआ करती है। यहाँ तक कि इन पाँचों में अल्पमात्र श्रद्धा रहने पर भी मनुष्य को परम श्रेयोलाभ होता है। यथा—

दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः, २/२३६

—दुरूह अथच अद्‌भुतवीर्यशाली ये साधनपञ्चक अर्थात् सत्सङ्ग, कृष्णसेवा, भागवत, नाम और व्रजवास ये पाँच प्रकार के अङ्ग हैं,

इनमें श्रद्धा तो दूर, अल्पमात्र सम्बन्ध रहने पर भी भक्तों के अन्तःकरण में अचिरात् भाव का अविर्भाव हुआ करता है।

भाव का उदय होने पर प्रेमलाभ के लिए भाव की साधना करना कर्तव्य है।

पञ्चभावों की साधना

भावना के विषय में अनन्यबुद्धि होकर भक्तगण हृदय में दृढ़संस्कार द्वारा जिनकी भावना करते हैं, उनका नाम है **भाव**। सुतरां भाव कहने पर भगवान् को ही समझा जाता है। तभी साधारण लोगों में प्रचलित है कि "भावरूपी जनार्दन"। सुतरां भगवान् को प्राप्त करने के लिए उसी भाव का ही आश्रय ग्रहण करना कर्तव्य है।

ये भाव पाँच प्रकार के हैं; यथा—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। शान्तादि पाँच भाव प्रधानीभूता भक्ति के एवं दास्यादि चार भाव केवला भक्ति के अन्तर्गत हैं। भक्तों में भेदवशतः भाव इन पाँच प्रकारों में विभक्त होता है। ये पाँच भाव क्रमशः श्रेष्ठ हुए हैं। कारण जिस प्रकार आकाशादि पूर्व पूर्व भूतों के गुण, पर पर भूतों में पर्यवसित होते हैं, तद्रूप दास्य में—शान्त; सख्य में—शान्त और दास्य; वात्सल्य में—शान्त, दास्य और सख्य; मधुर में—शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य ये चारों भाव ही वर्तमान हैं। यथा—

गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाड़े प्रति रसे।
शान्त दास्य सख्य वात्सल्येर गुण मधुरेते वैसे॥
आकाशादिर गुण जेमन पर पर भूते।
दुइ तिन क्रमे बाड़े पञ्च पृथिवीते॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

इस पञ्चविध भाव के भिन्न-भिन्न स्थायी भाव हैं। दास्य में शान्त का स्थायी भाव, सख्य में दास्य का स्थायी भाव, वात्सल्य में सख्य का स्थायी भाव एवं मधुर में भावचतुष्टय ही पर्यवसित हो रहे हैं। किन्तु इसमें एक बात है। आकाशादि भूत एक के बाद एक भूतों में अनुसृत होकर पञ्चीकरण के रूप में इस जगत्प्रपञ्च की एवं उसीसे स्थूल शरीर की उत्पत्ति हुई है। आकाशादि भूत ने जिस प्रकार पञ्चीकरण के समवाय से स्थूल की उत्पत्ति की है—उसी प्रकार शान्तादि भाव भी क्रमशः अनुसृत होकर जीव के हृदय में मधुररसरूप में विद्यमान हैं। यह मधुरभाव सर्वश्रेष्ठ है; कारण इस भाव से भगवत्प्राप्ति हुआ करती है। इसलिए कविराज गोस्वामी ने कहा है—

परिपूर्ण कृष्णप्राप्ति एइ प्रेम हैते।
एइ प्रेमेर वश कृष्ण कहे भागवते॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

शान्तभाव

—आगे कहे जाने वाले विभावादि द्वारा शमतासम्पन्न ऋषिगणकर्तृक जो स्थायी शान्तरति आस्वादनीय होता है, पण्डितगण उसे शान्तभक्तिरस या शान्तभाव कहकर वर्णन करते हैं। यथा—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः।
स्थायी शान्तरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पः विः १/४

योगिगणों में प्रायः ब्रह्मानन्दरूप सुखस्फूर्ति हुआ करती है, किन्तु यह सुख अति-अल्पतर है, और सच्चिदानन्दविग्रहस्फूर्तिरूप जो ईश्वमय सुख है, वही प्रचुरतर है। इस ईशमय सुख में भी श्रीविग्रह का साक्षात्कारता ही गुरुतर हेतु है। दास्यादि के समान मनोज्ञत्व लीलादि के साक्षात्कार में गुरुतर हेतु नहीं होता है, अर्थात् आत्माराम मुनिगण केवल भगवत्साक्षात्कार मात्र से ही कृतार्थ हो जाते हैं, लीलादि में उनमें दासादि के समान रुचि उत्पन्न नहीं होती है। जिसमें सुख नहीं, दुःख नहीं, द्वेष नहीं, मात्सर्य नहीं एवं सकल भूतों में समभाव है, उसी को **शान्तभाव** कहते हैं। सनकादि ब्रह्मर्षिलोग शान्तभाव को प्राप्त हुए हैं।

शान्तभाव में शान्तरति स्थायी भाव है। यह शान्तरति समा और सान्द्राभेद से दो प्रकार की है। असम्प्रज्ञात नामक समाधि में भगवत्साक्षात्कार का नाम **समा** है एवं सर्वप्रकार अविद्याध्वंसहेतु निर्विकल्प समाधि में भगवत्साक्षात्कार होने से सर्वतोभाव से भक्तहृदय में जो आनन्द आविर्भूत होता है, वही **सान्द्रा** है। शान्तभाव में प्रलय के अतिरिक्त अन्यान्य सात्त्विकभाव ज्वलितभाव में अनुभूत हुआ करते हैं, दीप्त नहीं होते।

वैधीभक्तिमार्ग के भक्तगणों को मुक्ति की वाञ्छा नहीं होने पर परिपाकदशा में वे शान्तभाव को प्राप्त हुआ करते हैं। जिस प्रकार

शुकदेव भगवत्करुणा से ज्ञानसंस्कारसमूह को श्लथ कर भक्तिरसानन्द में प्रवीण हुए थे, वैसा कभी भी यदि किसी के भी प्रति भगवान् की अतिशय कृपा हो, तो वह अगर पहले ज्ञाननिष्ठ हो, तब बाद में उसे शान्तभाव प्राप्त होता है। निर्गुणभक्ति की प्रधानीभूता मार्ग के भक्तगण भी पहले शान्तभाव को प्राप्त हुआ करते हैं। भगवान् में निष्ठाप्राप्त बुद्धि का नाम शम है, अतएव यह शान्तभाव व्यतिरेक से भगवान् में बुद्धि की निष्ठा दुर्घट है। शान्तभाव केवलाभक्ति के अन्तर्भुक्त नहीं है।

दास्यभाव

—आकुलहृदय से भगवान् की सेवा करने से **दास्यभाव** की साधना होती है। दास्यभाव प्रीतिभक्तिरस के नाम से शास्त्रों में कथित है। यथा—

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्तिरसो मतः।।

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पः विः २/३

आत्मोचित विभाव द्वारा भक्तलोगों के चित्त में प्रीति आस्वादनीयत्व प्राप्त होती है, इस कारण यह प्रीतिभक्तिरस के रूप में सम्मत है। अनुग्रहपांत्र के सम्बन्ध में दासत्व एवं पालनीयत्वप्रयुक्त यह दास्यभाव दो भागों में विभक्त है;—एक सम्भ्रमदास्य, अपर गौरवदास्य। दास्याभिमानी व्यक्तियों में भगवान् में सम्भ्रमविशिष्टा प्रीति उत्पन्न होकर पुष्ट होने पर इसे **सम्भ्रमदास्य** कहते हैं। और मैं भगवान् का पालनीय हूँ; इस प्रकार के अभिमानी व्यक्तियों में भगवद्विषय में

उत्तरोत्तर गुरुत्व-ज्ञानमय प्रीति के पुष्ट होने पर उसे **गौरवदास्य** कहते हैं। सीधे शब्दों में हनुमानादि के समान प्रभुभाव से भगवद्भजन का नाम सम्भ्रमदास्य और प्रद्युम्नादि के समान पिताभाव से किंवा रामप्रसादादि के समान माताभाव से भगवद्भजन का नाम गौरवदास्य है।

दास्याभिमानी भक्तलोग समझते हैं, कि मैं उनका दास हूँ—मैं उनका विश्वासी भृत्य हूँ। उन्होंने मुझे जगत् में भेजा है—कर्म करने के लिए। यह जगत् उनकी बड़ी पसन्द की कर्मशाला है। सभी उनके हैं—सभी वे स्वयं हैं। मैं उनका भृत्य हूँ, उन्हीं का कार्य कर रहा हूँ। कर्तव्य समझकर नहीं करता—बिना किये रह नहीं सकता, तभी तो आकुल लालसा से कर रहा हूँ। यह दास्यभाव निष्काम सेवा है। प्राणों के आकर्षण से जगद्रूपी जगन्नाथ की सेवा करने से अचिर में ही प्रेमलाभ किया जा सकता है।

प्रधानीभूता भक्तिमार्ग के साधकगण गौरवदास्यभाव एवं केवलाभक्तिमार्ग के साधकगण सम्भ्रमदास्यभाव को प्राप्त हुआ करते हैं।

सख्यभाव

—सखा से, बन्धु से जो प्रेम होता है, उसी प्रकार के प्रेम के साथ जो भगवद्भजन होता है, उसी को **सख्यभाव** कहते हैं। सख्यभाव प्रेमभक्तिरस के नाम से शास्त्र में कथित है। यथा—

स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेमानुदीर्यते॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पः विः ३/१

स्थायी भाव में आत्मोचित विभावादि के द्वारा सत्-सकल के चित्त में सख्यरस को पुष्टिप्राप्त कराने से वही सख्य प्रेमभक्तिरस के नाम से कीर्तित होता है। भगवान् को सखा या बन्धु समझकर उनमें प्रीति या आनन्दविधानार्थ अपने हृदय की आनन्दपूर्ण लालसा को सख्यभाव कहते हैं। प्रथानीभूता भक्तिमार्ग के भक्तगण अर्जुनादि के समान एवं केवला-भक्तिमार्ग के साधकगण व्रज के चरवाहों के समान सख्यभाव को प्राप्त हुआ करते हैं।

सख्यभाव की साधना में कामना दूरीभूत होती है, आसक्ति की अग्नि बुझ जाती है। सख्यभाव में समस्त जगत् एक सखारूप में प्रतीयमान होता है। कारण हम सभी खेलने आये हैं; राजा का भी खेल, प्रजा का भी खेल; धनी का भी खेल, दरिद्र का भी खेल; साधु का भी खेल, असाधु का भी खेल; स्वस्थ का भी खेल, रोगी का भी खेल,—खेल सर्वत्र है। इस खेल के साथी हैं विश्वेश्वर। विश्व उनकी मूर्ति है—विश्व के साथ सख्यता, विश्व के साथ प्रेम—यही सख्यभाव है। सख्यभाव के भक्तगण शान्तभाव के भक्तों के समान भगवान् को महिमामण्डित किंवा दास्यभाव के भक्तों के समान सम्भ्रमयुक्त नहीं समझ सकते; वे समझते हैं भगवान् मेरे ही समान हैं; इसीलिए वे भगवान् के कन्धे पर चढ़ने में—उच्छिष्ट खिलाने में सङ्कुचित नहीं होते। व्रज के चरवाहे श्रीकृष्ण को आत्मसदृश समझते थे। उनके साथ खेलकर, गायें चराकर, कन्धे पर चढ़कर, कन्धे पर चढ़ाकर वे आत्महरा हो जाते थे। कृष्ण के किसी कारण से ऐश्वर्यभाव प्रकट होने पर ये उसे "ठाकुराई"

(प्रभुत्व) समझकर मुख बिचका लेते थे, किन्तु श्रीकृष्ण का मुख म्लान देखकर रो पड़ते थे—अदर्शन से जगत् को शून्य देखते, अतः शास्त्र कहते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

—श्रीमद्भागवत, १०/१२/११

विद्वान् व्यक्ति जिनकी ब्रह्मसुखानुभूति में एवं भक्तगण जिनकी सर्वाराध्यरूप में और मायाश्रित व्यक्तिगण जिनकी नरशिशुज्ञान में प्रतीति करते हैं, मायामुग्ध गोपबालकों ने जिस साधारण नरशिशुबोध से जिनके साथ इस प्रकार की क्रीड़ाएँ की थीं, वह सब उनके राशि-राशि पुण्यों के फल से हुआ था, इसमें सन्देह नहीं है। वास्तविक कितने लंबे लंबे जन्मों तक और कितने लंबे लंबे युगों तक साधना कर, रो कर, चाह कर, प्रतीक्षा कर तभी वह भाग्य प्राप्त हो सकता है।

सख्यभाव से भगवान् की आत्मसदृश भावना करते-करते भक्तगण भी भगवत्सदृश गुणसमूह को प्राप्त हुआ करते हैं।

वात्सल्यभाव

माता-पिता जिस प्रकार प्राण देकर अपने बेटे-बेटियों को प्यार करते हैं, उसी प्रकार भगवान् को बेटे-बेटी की तरह प्यार करना ही **वात्सल्यभाव** है। यही शास्त्र में वत्सलभक्तिरस के नाम से कथित हुआ है, यथा—

विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलनामात्र प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पः विः ४/१

विभावादि द्वारा वात्सल्य पुष्टिप्राप्त होकर स्थायी होता है, पण्डितगण इसी को वत्सलभक्तिरस कहा करते हैं। वात्सल्यभाव निष्कामता की पराकाष्ठा है। माता-पिता सन्तान से क्या चाहेंगे? सर्वस्व देकर भी माता-पिता की साध पूरी नहीं होती है। माता-पिता के निकट सन्तान की सर्वदा ही कुछ-न-कुछ माँग रहती है—सर्वस्व देकर सारी शक्ति लगाकर सन्तान का लालन-पालन करते हैं, तथापि माता-पिता की साध पुरी नहीं होती है। सन्तान के लिए माता-पिता सहस्र बार आत्मत्याग कर सकते हैं। स्वयं उपवास रहकर सन्तान का पेट भरते हैं, स्वयं फटे-पुराने वस्त्र पहनकर सन्तान को नये वस्त्रों से सुसज्जित करते हैं, स्वयं रोगशय्या में पड़े रहकर सन्तान की मङ्गलकामना करते हैं,—आशा नहीं, आकांक्षा नहीं, केवल पुत्र की मङ्गलकामना करते हैं। पुत्र के गुण सुनकर, पुत्र की प्रशंसा सुनकर माता-पिता का हृदय पुलकित होता है,—प्राण देकर भी सन्तान की सुख-साधना सम्पन्न करने में माता-पिता आनन्द बोध करते हैं। ईश्वर को भी इसी प्रकार से प्यार कर सकने पर उसे वात्सल्यभाव कहते हैं।

नन्द, यशोदा और मेनका का वात्सल्यभाव केवलाभक्ति के अन्तर्गत है एवं देवकी-वसुदेव का वात्सल्यभाव प्रधानीभूता मुक्ति के अन्तर्गत है। वात्सल्यभाव के भक्तलोग कहते हैं, विश्वेश्वर मेरा

पुत्र है—मेरी स्नेह-सन्तान है, मैं प्राणों के आकर्षण से—वात्सल्यभाव के आकर्षण से सेवा कर, यत्न कर, प्रतिपालन कर, सुखी होऊँगा; वे पुत्र समझकर जीव और जगत् की सेवा कर कृतार्थ हुआ करते हैं। वात्सल्यभाव में भक्त आत्महरा हो जाते हैं।

मधुरभाव

—पत्नी जिस प्रकार पति से प्रेम करती है, कान्त पर कान्ता का जैसा अनुराग होता है, भगवान् से भी इसी तरह के प्रेम का नाम **मधुरभाव** है। सभी प्रकार के भावों में यही श्रेष्ठ है; यह जगत् के सर्वोच्च भाव के ऊपर स्थापित है।

आत्मोचितैर्विभावाद्यै पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पः विः ५/१

आत्मोचित विभावादि द्वारा मधुरारति सत्-सकल के हृदय में पुष्टता प्राप्त होने पर मधुराख्य भक्तिरस के नाम से कथित होती है। प्रकृत शृङ्गाररस में समता दृष्टि के द्वारा भगवत्सम्बन्धीय मधुराख्य भक्तिरस से विरक्त सभी व्यक्तियों में उक्तभाव अयोग्यत्व, दुरूहत्व एवं रहस्यत्व-प्रयुक्त विस्तृताङ्ग होता है; हम क्रमशः इसे विवृत कर रहे हैं।

राधिकादि गोपीलोग एवं रुक्मिणी प्रभृति महिषीगण इस मधुरभाव की आदर्श हैं, ऐसा शास्त्र में कथित है। **विप्रलम्भ** और **सम्भोगभेदों** से यह मधुराख्य भावभक्ति दो प्रकार की है। पण्डितगण पूर्वराग, मान और प्रणयादि भेदानुसार विप्रलम्भ का बहुविधरूप से एवं

कान्ता और कान्त उभय मिलकर जो भोग करते हैं, उसी का सम्भोग नाम से कीर्तन करते हैं।

यह सम्भोग फिर रति की प्रगाढ़ मृदुता के अनुसार साधारणी, समञ्जसा और समर्था इन त्रिविध रूपों में कथित है। जो रति अतिशय प्रगाढ़ नहीं होती, प्रायः भगवद्दर्शन से ही उत्पन्न होती है एवं जो सम्भोगेच्छा की ही निदान है, उसी को **साधारणी** रति कहते हैं। प्रगाढ़ता के अभावहेतु इस रति की स्पष्ट रूप से सम्भोगेच्छा ही प्रतीयमान होती है। इस सम्भोगेच्छा के ह्रास होने पर रति का भी ह्रास हुआ करता है, अतएव सम्भोगेच्छा ही यहाँ रत्युत्पत्ति का कारण है; सुतरां इसका नाम साधारणी है। जिससे पत्नित्वाभिमान की वृद्धि होती है, जो गुणादि श्रवण से उत्पन्न हुआ करती है एवं जिससे कभी-कभी सम्भोगेच्छा की तृष्णा जन्मती है, उसी रती का नाम **समञ्जसा** है। और साधारणी तथा समञ्जसा से किञ्चित् विशेष सम्भोगेच्छा जिस रति में तादात्म्य अर्थात् नायक-नायिका में एकीभाव प्राप्त होती है, उसका नाम **समर्था** है।

इस साधारणी, समञ्जसा और समर्था-रति के भेदानुसार कुब्जा, महिषी और व्रजसुन्दरी सभी मणि के समान, चिन्तामणि के समान एवं कौस्तुभमणि के समान तीन प्रकार की हैं अर्थात् जिस प्रकार मणि अत्यन्त सुलभ नहीं होती, उसी के समान कुब्जादि के बिना साधारणी रति सुलभा नहीं होती है, तथा चिन्तामणि यद्रूप चतुर्दिक में दुर्लभ है, तद्रूप कृष्णमहिषी के बिना समञ्जसारति अन्यत्र सुलभ नहीं होती। अपर—कौस्तुभमणि जिस प्रकार जगद्दुर्लभ है, श्रीकृष्ण के बिना अन्यत्र प्राप्त नहीं होती, तद्रूप व्रजललना के बिना समर्थारति

कुत्रापि प्राप्त नहीं होती। सर्वापेक्षा अद्भुत अर्थात् भगवत्त्वशीकारित्वरूप में विस्मयप्रकाशक जो विलासलहरी है, तद्द्वारा जिसकी चमत्कारिणी श्री (शोभा) है, उस रति का कभी भी सम्भोगेच्छा से विशेष नहीं होता, इसी कारण समर्थारति में भगवत् सुखार्थ ही उद्यम है।

स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जातो यत्किञ्चिदन्वयात्।
समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता॥

—उज्ज्वलनीलमणिः, स्थाः प्रः ५३

ललनानिष्ठस्वरूपहेतु अथवा कृष्णसम्बन्ध शब्दादि के यत्किञ्चित अन्वयहेतु उत्पन्ना जो समर्थारति है, उसकी गन्धमात्र से समुदाय विस्मरण होता है, अर्थात् समर्थारति उत्पन्न होने पर तद्द्वारा कुल, धर्म, धैर्य, लज्जादि समुदाय विस्मरण हो जाते हैं एवं वह रति सान्द्रा होती है अर्थात् उसे भावान्तर में भेद नहीं कर सकती। यह समर्थारति अगर विरुद्धभाव द्वारा अभेद्या होती है, अर्थात् प्रतिकूलभाव यदि विचलित नहीं कर सके, तो उसे **प्रेम** कहते है। यथा—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

—उज्ज्वलनीलमणिः, स्थाः प्रः ६३

—ध्वंस के कारण सत्त्व में जिसका ध्वंस नहीं होता है, इस प्रकार के युवक-युवतीद्वय के परस्पर भावबन्धन को **प्रेम** कहते हैं।

यह प्रेम के सञ्चार मात्र ही मनुष्य की समुदाय प्रकृति उलट-पलट हो जाती है। यह प्रेम मनुष्य के प्रत्येक परमाणु के मध्य से सञ्चारित होकर उसे पागल कर देता है—अपनी प्रकृति को भी भुला

देता है। प्रकृत सतीनारी का प्रेम, उसके यथार्थ आत्मत्याग ही है। पत्नी अपने पति के प्रेम में विभोर होकर जलती हुई चिता पर सो जाती है,—प्रेम में स्वयं को खो देती है—केवल वाञ्छित की भावना से ही उसका हृदय भर जाता है। वह अपने को भुलाकर, सर्वस्व देकर पति की ही पूजा किया करती है। उस समय उसका जीवन-यौवन, रूप-रस, आहार-विहार सब कुछ ही पति के लिए होता है। उसका हठ, उसका अभिमान, उसका धर्म-कर्म सब कुछ ही पति के लिए होता है। ऐसा हृदय-हृदय का, प्राण-प्राण का, त्वचा-त्वचा का, अणु-अणु का सम्बन्ध और कहाँ होता है? पत्नी पति की छाया की तरह है—काया जिस काम में रत रहती है, छाया भी वही करती है। पति जिसमें खुश रह सके, पत्नी सर्वान्तःकरण से वही किया करती है। उसके पलभर का विरह अनन्त यातना प्रदान करता है,—मानों उसकी मुहँ फिरानारूप थोड़ी-सी अवहेलना, प्राणों में प्रलय की अग्नि सृष्टि कर देती हो। पुकार कर आहट न मिलने से नयनासार से दृष्टिपथ रुद्ध कर बैठती है, गैरों के साथ हास्य-परिहास करते देख अभिमान के अनल में दग्ध हो जाती है। क्षणभर के विरह से जगत् शून्य और अग्निमय प्रतीत होता है, प्राण केवल आकुल होकर—'मेरे वे कहाँ हैं' ऐसा कहकर प्राणों के अन्दर प्राण लुटाकर रोती रहती है। यही स्त्री की प्यार—स्त्री का प्रेम लेकर अगर जीव भगवान् से प्यार करने लगे और इसी तरह का प्रेम भी उनको अर्पण करे, तो अवश्य जीव उन्हें प्राप्त कर सकता है। इस लिए अन्य भावों से मधुरभाव श्रेष्ठ है।

इस मधुरभाव से प्रेमिक-प्रेमिका की एकात्मता सम्पादित होती है, सुतरां अपने आप ही समाधि की अवस्था आ जाती है। क्रमशः गाढ़तर समाधि की अवस्था में चित्त का विक्षेप बिल्कुल ही दूरीभूत हो जाता है; तब त्रिगुणात्मिका बुद्धि के रजः और तम का आवरण प्रायः कट जाता है, सत्त्वगुण अतिप्रबलरूप में आविर्भूत हो उठता है एवं सत्त्वगुण की जितनी ही प्रबल अवस्था होती है, रजः और तमः उतने ही क्षीण हो जाते हैं; क्रमशः इस अवस्था की और भी प्रगाढ़ता प्राप्त होते ही रजस्तमः बिलकुल ही अभिमूत हो उठते हैं, और उनके अस्तित्व की उपलब्धि ही नहीं होती है। तब सत्त्वगुण की अतीव उद्दीपित अवस्था होती है, उस समय बुद्धि और आत्मा का विवेकज्ञान होता है, जीव और बुद्धि दोनों जो पृथक् हैं, उसी की उपलब्धि होती है—साथ ही साथ बुद्धि-ईश्वर का संयोग श्लथ हो जाता है। इस अवस्था में और भी प्रगाढ़ता आने पर, बुद्धि-पुरुष का संयोग बिलकुल ही छिन्न हो जाता है, जिस सत्त्वगुण ने जीव में तादृश विवेकबुद्धि जन्मा दी थी, वह सत्त्वगुण भी एक समय अभिभूत हो उठता है, उस समय फिर गुण-बन्धन नहीं रह जाता। इस प्रकार प्रेमिक जितना ही एकाग्र होगा, उतना ही चित्त की अन्य विषय-वृत्तियाँ निरुद्ध होंगी, उस समय एकमात्र वही प्रेमिक—उसी ध्येय विषय का मात्र ज्ञान रहेगा, ध्येय विषय के साथ लेप कर अपनी स्वरूपोपलब्धि होगी,—सुतरां उपास्य उपासना एवं उपासक, प्रेम प्रेमिक और प्रेमिका नहीं रहेंगे। तब जीव स्वरूप में प्रकाशमान होते हैं,—उस समय वे केवल उसी अवस्थामात्र में ही अवस्थित रहेंगे। तभी तो मुक्ति "**कैवल्य**" नाम से कथित है।

किन्तु यह भाव मानव के प्रेम से सम्यक् साधित नहीं होता है। कारण, जिसका चिन्तन किया जायेगा, चिन्तनतरंग के सञ्चालन द्वारा तत्स्वरूप ही प्राप्त होगा। भगवान् शुद्धसत्त्व हैं—अतः उनका मधुरभाव से चिन्तन करने पर, शुद्धसत्त्व में परिणत हुआ जा सकता है। सखा के प्रति सखा का भाव, पिता के समक्ष पुत्र का हठ, बन्धु के निकट बन्धु की बात—यह सब निकट अवश्य हैं, किन्तु प्राणों का इतना असङ्कोच—ऐसा हृदय-विनिमय और कहीं नहीं है। तभी तो भक्त भगवान् का मधुरभाव से भजन किया करते हैं।

इन पञ्चविध भावानुरागी साधकलोगों में प्रधानीभूता भक्तिमार्ग क भक्त सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति प्राप्त कर ऐश्वर्यसुखोत्तरा गति को प्राप्त हुआ करते हैं, सुतरां भक्त्यङ्ग-साधनावलम्बन करने से ही वे सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। और मात्र केवलाभक्तिमार्ग के दास्यादि चतुर्विध भावाश्रित भक्तलोगों में सभी प्रेमभक्ति को प्राप्त कर प्रेमसेवोत्तरा गति को प्राप्त हुआ करते हैं। दास्यादि चतुर्विध भावों में जिस भाव का जहाँ तक वर्द्धित होने की योग्यता रहती है, वह भाव उस सीमा को प्राप्त होने पर वह 'प्रेम' आख्या को प्राप्त होता है। तब विनाश के कारण के उपस्थित होने पर भी उसका पुनः ध्वंस नहीं होता। तब भक्त परमपुरुष भगवान् के अनन्त नित्यलीला-समुद्र में निमग्न हुआ करते हैं।

रागानुगामार्ग में साधनभक्ति के आश्रय में साधना करते-करते किसी-किसी सौभाग्यशाली व्यक्ति के—जन्मान्तर के भक्तिसंस्कारविशिष्ट कोई कोई व्यक्ति के बिना साधन से भी—साधुशास्त्रमुख से भगवान् का असमोर्ध्व सौन्दर्य एवं प्रेमिक भक्तों का सर्वश्रेष्ठ भावादिमाधुर्य

श्रवण कर, उसे पाने हेतु लोभ का सञ्चार होता है। इस प्रकार के व्रजभावलुब्ध भक्त जब समझ लेते हैं कि, गुणमयी साधनभक्ति द्वारा प्रेमभक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती, उनकी बुद्धि फिर शास्त्रयुक्ति की अपेक्षा नहीं करती; तब भक्त विहिताविहित यावतीय धर्म एवं श्रुत-श्रोतव्य समुदाय विषय परित्यागपूर्वक लोभनीय व्रजभाव के लिए व्याकुल होकर प्रेमिकगुरु की कृपाभिक्षा एवं भगवच्चरणों में आत्मसमर्पण करते हैं। सौभाग्यवशतः सिद्ध प्रेमिकगुरु के दर्शन पाने पर भक्त तब सर्वधर्म विसर्जनपूर्वक तदीय श्रीचरण-कमलों में आत्मनिवेदन करते हैं। यह अवस्था ही केवलाभक्ति का प्रवर्तक कहलाती है। श्रीगुरु भक्त में भावदार्ढ्य और ऐकान्तिकता दर्शन कर उन्हें साक्षाद्भजनक्रिया प्रदान करते हैं। वही ज्ञानकर्मादिशून्य निगूढ़ साधना प्रेममय स्वभावप्राप्ति की एकान्त उपयोगिनी है। तब भक्त श्रीगुरु को ही भगवान् समझ कर अपने-अपने भावानुसार उन्हें आश्रय करते हैं। भावानुसार से प्रभु, माता-पिता, भाई, बन्धु, पुत्र अथवा पति समझ श्रीगुरु की ही सेवा में एकान्त अनुरक्त होते हैं। श्रीगुरु में इस प्रकार का स्वाभाविक अनुराग भाव-साधना का एक प्रधान लक्षण है। व्रजविहारी श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार प्रकट लीला से व्रजवासियों के मन-प्राण अपहरण कर उन्हें अपने में अनुरक्त किया था, प्रेमिकशिरोमणि रागवर्त्मोद्देशी गुरु भी ठीक तदनुरूप भाव से भावलिप्सु शिष्य की चित्तवृत्ति पर अधिकार कर लेते हैं। इसीलिए वे वेद और लोकधर्म परित्याग कर श्रीगुरु के चरणों में आसक्त हुआ करते हैं, निरन्तर अन्तर्मना होकर तदीय श्रीचरणचिन्तन में ही कालातिपात करते हैं। यथा —

कृष्णं स्मरन् जनश्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः २/२९३

श्रीगुरु एकाधार में भक्त और भगवान् दोनों ही हैं; उनके अन्तर में भगवान् हैं, और बाहर भक्तभाव है। तभी भावाश्रित भक्तलोग गुरुदव को ही भगवद्बुद्धि से चिन्तन किया करते हैं। इस प्रकार से गुरुचिन्तन द्वारा भक्तों के मनोमय सिद्ध देहों की क्रमशः परिपुष्टि होती रहती है। जिस प्रकार तैलपायी कीट भ्रमरविशेष के निरन्तर परिचिन्तन से पूर्वरूप का परिहार कर तत्स्वारूप्य को प्राप्त होता है, तद्रूप भावाश्रित भक्त भी नियत श्रीगुरु का स्वरूप चिन्तन कर प्रेमसेवोपयोगी मनोमय देह को प्राप्त करते हैं।

भावाश्रित भक्ति में प्रायः ही महिमज्ञान नहीं रहता है, इसमें प्रीतिममता का आधिक्य रहता है। जिस प्रकार व्रजवासियों ने अपना जानकर निःसङ्कोच श्रीकृष्ण की सेवा करते थे, उसी प्रकार भावाश्रित भक्त भी प्रियबन्धु जानकर अकुण्ठितचित्त से श्रीगुरु की परिचर्यादि किया करते हैं। प्रेमानुरोध से वे गुरु देवता के साथ पान-भोजन या शयन करने में भी कुण्ठा बोध नहीं करते।

भावाश्रित भक्तों की भगवत्सेवा दो प्रकार से सम्पादित होती है; एक बाह्य, अपर मानस। वे यथावस्थित बहिःशरीर से साधकरूप में व्रजलोक में श्रीरूप-सनातनादि की तरह इन्द्रियों की सहायता से श्रीगुरु की साक्षात्सेवा किया करते हैं एवं अन्तश्चिन्तिताभीष्ट (मनोमय) देह में अन्तर्मुखी इन्द्रियवृत्तिसमुह द्वारा सिद्धरूप से व्रजलोक में श्रीरूपमञ्जरी प्रभृतियों के समान श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा करते हैं।

इस प्रकार साधनाक्रम से भक्त-चित्त में रति का उदय होता है। जब रति प्रगाढ़ होकर प्रेमभक्ति में पर्यवसित होती है, तब भक्त स्वकीय भावमय नित्यदेह से नित्य भगवत्सङ्ग को प्राप्त हुआ करते हैं।

भावाश्रित भक्तलोग ज्ञान-कर्मादि भक्तिवाधक विषयसमूह का परित्याग करते हैं। तथापि उस समुदाय ज्ञान-कर्मादि के फल उनके निकट स्वयं ही उपस्थित होते हैं, भक्तिदेवी की दासीस्थानीया सर्वसिद्धि उनकी सेवा करने में अग्रसर होती है, किन्तु व्रजभावलुब्ध भक्त तत्समुदाय के प्रति आदर प्रकट नहीं करते। वे सर्वदा भगवान् के माधुर्यसागर में निमग्न रहते हैं। इस माधुर्यास्वाद-सुख की गन्ध भी यावतीय मुक्तिसुख की अपेक्षा कोटिगुणा श्रेष्ठ है। इसी कारण उनका हृदय मुहूर्तकाल के लिए भी विषयान्तर में अभिनिविष्ट नहीं होता। वे निरन्तर ही भगवान् के अनिर्वचनीय प्रेमरसार्णव के परमानन्द में सन्तरण करते रहते हैं।

जो ऐकान्तिक भाव से भगवान् की आराधना कर परमप्रेमबल से अनुक्षण उनके असमोर्ध्व माधुर्य का आस्वादन कर रहे हैं, वे ही भावाश्रित केवलाभक्ति में सिद्धभक्त के रूप में परिगणित हैं।

गोपीभाव और प्रेम की साधना

प्रेमसेवा में पूर्णतम आनन्दास्वाद हेतु केवला-भक्तिमार्ग के दास्यादि चतुर्विध भावों में पुनः मधुरभाव सर्वश्रेष्ठ है। कारण मधुरभाव में वह भावचतुष्टय ही पर्यवसित हुआ है। तभी किसी प्रेमिका रमणी ने भगवान् से प्रार्थना की है—

प्रेममय ! पतिरूपे देह दरशन;
पूरिबे सकल आशा मिटिबे मनन।
मातारूपे सदा तव आहार योगाब,
पिता-भावे गुरु ह'ये उपदेश दिब।
कन्यारूपे आब्दार कत जे करिब,
मा'र बुके शिशु यथा से भावे थाकिब।
सखीरूपे अकपटे सब कथा कब,
दासी ह'ये चिरदिन चरण सेविब।
पत्नीरूपे प्रेममय बाँधि आलिङ्गने,
अनन्त जीवन रब मिलि तोमा सने।
एकाधारे सब रस मधुरभावेते,
ताइ चाइ एइ भावे तोमारे पूजिते।

पाठक ! मधुरभाव श्रेष्ठ क्यों है, शायद समझ गये हों। मधुरभाव में सभी रसों का समावेशवशतः प्रेमसेवा का पूर्णतम आनन्दस्वाद पाया जाता है। हनुमानादि जिस प्रकार दास्यभाव के, श्रीदामादि जिस प्रकार सख्यभाव के, नन्दयशोदादि जिस प्रकार वात्सल्यभाव के आदर्श हैं; उसी प्रकार व्रजगोपी और महिषी मधुरभाव की आदर्श हैं। यह कामानुगा मधुरभाव दो अंशों में विभक्त है; एक सम्भोगेच्छामयी, अपर तद्भावेच्छामयी। जो रुक्मिणी प्रभृति महिषियों के भावानुगत हैं, उनकी भक्ति को सम्भोगेच्छामयी भक्ति कहते हैं; इस भक्ति में महिषियों की तरह कियत्परिमाण में स्व-सुखवाञ्छा, महिमज्ञान एवं लोकधर्मापेक्षा प्रभृति भाव विद्यमान हैं। अपर जो लोक-वेदादि यावतीय धर्म का परित्याग कर ऐहिक पारत्रिक सकल

सुख-साधनों की जलाञ्जलि देकर निष्कामभाव और परम प्रेममय स्वभाव का अनुसरण करते हैं, उनकी उसी भक्ति को तद्भावेच्छामयी कहते हैं; यह व्रजवासी श्रीराधिकादि गोपीलोगों में नित्य विराजमान रही है। अतएव महिषियों के भाव से साधारणी किंवा समञ्जसा-रति उत्पन्न होती है एवं गोपियों के भाव से ही समर्थारति का उदय होता है; कारण,—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
कृष्णसुखतात्पर्य मात्र प्रेम त प्रबल॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

आत्मेन्द्रिय की परितृप्ति के लिए जो कार्य किया जाता है, उसे काम कहते हैं। और ईश्वरेन्द्रिय की प्रीति के लिए जो किया जाता है, उसे प्रेम कहते हैं। समस्त कार्य निज सम्भोगस्वरूप में प्रयोग न कर कृष्णसुखतात्पर्य में प्रयोग करने से, उससे समर्थारति का उदय हुआ करता है; बाद में वही प्रगाढ़ होकर प्रेम आख्या को प्राप्त होती है। किन्तु महिषियों के कथञ्चित् स्व-सुखवाञ्छा रहने से वह और समर्थारति में पर्यवसित नहीं हो पाती। विशेषतः पति-पत्नी के सम्बन्ध में थोड़ी उच्च-नीचता है, लोकधर्मापेक्षा है एवं वह स्वाभाविकी विधा से वैसा उद्दाम उच्छ्वास नहीं है, किन्तु गोपियों का भाव इसके सम्पूर्ण विपरीत है। वे पति-पुत्र, घर-बार, जाति-कुल वेदविधि, धर्म-कर्म लाज-शरम का परित्याग कर कुलटा के

समान भगवान् में आसक्त हुई रहती हैं। कुलटा रमणी यथार्थरूप से गृहकर्मादि करती है, किन्तु उसका मन सर्वथा उपपति की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। प्रेमभक्ति-प्रचारक चैतन्यदेव ने कहा है—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम्॥

परासक्ता रमणी गृहकार्यों में नियुक्ता रहने पर भी चित्त में जैसा नव-सहवासरस का आस्वासन करती है,—उसी प्रकार विषय-कर्म में लिप्त रहकर नवकिशोर श्रीकृष्ण के प्रेमरस का आस्वादन मन ही मन अनुभव करो। इसी कारण भक्तिमार्ग में इस प्रकार अविधिपूर्वक—शास्त्राचार, समाजनियम प्रभृति विच्छिन्नकारी परकीया भाव गृहीत हुए हैं। सुतरां स्वकीया महिषियों की सम्भोगेच्छामयी मधुरभाव से परकीया गोपियों की तद्भावेच्छामयी मधुरभाव का गोपिकानिष्ठ भाव, सीधे शब्दों में गोपीभाव अधिक श्रेष्ठ है। राधिकादि गोपीगण गोपीभाव की आदर्श हैं; गोदावरी तट पर राय रामानन्द ने श्रीगौराङ्गदेव से कहा है—

इहार मध्ये राधार प्रेम साध्यशिरोमणि।
अनन्त शास्त्रेते जाँर महिमा बाखानि॥
—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

इहार मध्ये अर्थात् इसमें अर्थात् मधुरभाव में राधा का प्रेम ही साध्यशिरोमणि है, इसीलिए गोपीभाव श्रेष्ठ है। वे पति, पुत्र, कुल, मान कुछ भी नहीं चाहतीं—चाहती हैं केवल श्रीकृष्ण को। कविराज गोस्वामी ने लिखा है—

आर एक अद्भुत गोपीभावेर स्वभाव।
बुद्धिर गोचर नहे जाहार प्रभाव॥
गोपीगण करे जबे कृष्णदरशन।
सुखवाञ्छा नाहि सुख हय कोटिगुण॥
गोपिकादर्शने कृष्णेर जे आनन्द हय।
ताहा हइते कोटिगुण गोपी आस्वादय॥
ताँ'सबार नाहि कोन सुख-अनुरोध।
तथापि बाड़ये सुख पड़िल विरोध॥
ए विरोधेर एइ एक देखि समाधान।
गोपिकार सुख कृष्ण-सुखे पर्यवसान॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

गोपियों की कृष्णदरशन में सुख की वाञ्छा नहीं है, किन्तु कोटिगुणा सुख का उदय होता है। बड़ी ही भयानक बात है। इसका भाव अनुभव करना पाण्डित्य-बुद्धि के साध्यायत्त नहीं है; तभी अनेक ही गोपीभाव का नाम सुन कर हास्यविद्रूप किया करते हैं। गोपीगण को देखकर कृष्ण को जो आनन्द होता है, उसकी अपेक्षा गोपियों में कोटिगुणा आनन्द का उदय होता है। क्यों ? कारण गोपियों का सुख कृष्णसुख में पर्यवसित है ! कृष्ण सुखी हुए हैं देखकर गोपियों को सुख होता है; अर्थात् उन्हें स्वकीय इन्द्रियों का सुख नहीं है, कृष्ण के सुख में ही सुख है। कृष्णमय सर्वभूतों के सुख में सुखी होना होगा। मैंने अच्छा काम किया है कहकर आनन्दित होने से काम नहीं चलेगा, मेरे कार्य से विश्वरूप भगवान्

को सुख मिला है, तभी मुझे सुख मिला है। अहो क्या मधुरभाव है ! इसीलिए तो गोपीभाव श्रेष्ठरूप में स्वीकृत हुआ है।

गोपियों का अपना कुछ भी नहीं है; रूप कहो, यौवन कहो, शोभा-सौन्दर्य, लालसा-वासना जो कुछ भी कहो,—समस्त ही उस श्यामसुन्दर के लिए है। वे कार्य करती हैं, सन्तान का पालन करती हैं, घर का काम करती हैं, किन्तु निरन्तर प्राण उसी भगवान् के प्रेमरस में मजे रहती हैं। उन्हीं की कथा, उन्हीं के कार्यों की आलोचना, उन्हीं के नाम-गान में परिपुष्टि—इस प्रकार भाव से जो भक्त साधना करते हैं, वे ही परम मुक्त हैं। स्वयं को स्त्रीरूप में—और परमपुरुष भगवान् को पुरुषभाव में भावना करो,—उन्हीं में चित्त अर्पण कर, उन्हीं के प्रेम में लीन हुए रहो। इसी से निरवच्छिन्न और विशुद्ध आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

इस गोपीभावनिष्ठ मधुररसात्मक भक्ति से मधुरा रति का उदय होता है। इस रति के होने पर भगवान् के साथ भक्त के विलास का सूत्रपात होता है। यथा—

मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, दः विः ५/३६

मधुरा रति ही श्रीकृष्ण और उनकी प्रेयसियों के सम्भोग का आदि कारण है। यह मधुरा रति जब गोपियों के समान सम्पूर्णरूप से स्व-सुखवासनाशून्य होती है एवं सम्भोगवासना श्रीकृष्ण की सम्भोगवाञ्छा के साथ एकताभाव को प्राप्त होती है, तब यह

समर्था नाम से अभिहिता होती है। यह समर्थारति प्रेमविलास से क्रमशः परिपक्क होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव में पर्यवसित होती रहती है। अनन्तर भाव के और उत्कृष्ट दशा प्राप्त होने पर महाभाव के नाम से कथित होती है। यही गोपीभावनिष्ठ समर्थारति का चरम विकास है। सुतरां गोपीभावनिष्ठ समर्थारति प्रौढ़ महाभावदशा को प्राप्त होते ही उसे प्रेम कहते हैं।

कामगन्धशून्य जो अनुरक्ति है, उसका नाम प्रेम है। यह भाव जहाँ है, वहीं पर प्रेम है यह कहा जा सकता है। जो आत्मेन्द्रिय की प्रीति-इच्छा है वही काम है; अतएव आत्मेन्द्रिय की प्रीति-इच्छा-परिशून्य होकर जिसमें अनुरक्ति होती है, उसी में प्रेम होता है। मैं उन्हें प्रेम करता हूँ, उनका जो कार्य है वही मेरे लिए अच्छा है। वे रूप पसन्द करते हैं, हम रूप का उत्कर्ष क्यों नहीं करेंगे ? वे फुलमाला पसन्द करते हैं,—तभी तो वन-वन भ्रमण कर मेरा इतना वनफुल तोड़ना,—तभी यह माला गूँथनी है !

माला ह'ल ज्वाला ना आसिल काला
हृदये बिँधिल शेल,
जाओ, सखि जाओ, माला फेले दाओ
बुझेछि करम-फेर।

माला से तो मेरा कोई प्रयोजन नहीं है; जिसके लिए माला गूँथनी है, वह कहाँ है ? वह यदि नहीं आयेगा, उसके गले में यदि माला नहीं झूलेगी, माला के सुवास से अगर वह पुलकित न होगा, तब यह माला क्यों गूँथनी है ? उसके आनन्दित होने में ही तो मेरा आनन्द

है ! नहीं तो जगत् में मेरा और क्या आनन्द है ? उसके सुखी होने में ही मेरा सुख है। यही प्रेम है। देश का उपकार कर, दश (लोगों) का उपकार कर, समाज का उपकार कर, धनी का उपकार कर, दरिद्र का उपकार कर, सुन्दर का उपकार कर, कुत्सित का उपकार कर—उन्हें जो आनन्द मिलेगा, उसी आनन्द का प्रतिघात ही मेरा आनन्द है—यही व्यष्टिभाव का आनन्द है। और समष्टिभाव का आनन्द है—ईश्वरानन्द। भगवान् की सेवा कर भगवान् को सौन्दर्य का उपभोग कराकर, भगवान् को हृदय में लेकर जिस आनन्द का पूर्णतम भाव है, वही प्रेम है।

भगवान् में इस प्रकार का प्रेम जन्मने पर,—उस समय फूल के खिलने पर, मलय के बहने पर, खुशबू के फैलने पर, कोयल के कूकने पर, भ्रमर के गुञ्जार करने पर, उस मुख की याद आती है। फिर मेघ के गर्जन में, विद्युत की चमक में, अमावस्या के घने अन्धकार में, हताशा के दीर्घश्वास में, दरिद्र के आकुल क्रन्दन में उनकी याद आती है, तो इसीसे समझा जा सकता है,—ये भी उनकी विभूतियाँ हैं। इनकी सेवा में भी उन्हीं की सेवा है। प्रेम जन्मने पर, तब मनुष्य की समुदाय वृत्तियाँ उन्हीं की आश्रिता हो जाती हैं। उस समय भक्त तद्गतचित्त से कहते हैं, मैं ज्ञान नहीं चाहता, शक्ति नहीं चाहता, मुक्ति नहीं चाहता सालोक्यादि कुछ भी नहीं चाहता—सिर्फ तुम्हें चाहता हूँ। तुम मेरे प्राणों के प्राण हो—तुम मेरे विश्व के प्राण हो—तुम आओ, मेरे हृदय-निकुञ्ज में उदित होओ; एकबार मुझे "मेरा" कहकर सम्बोधन करो।

मन की ठीक इसी अवस्था का नाम प्रेम है। किन्तु स्वयं को क्षद्र, हीन, सान्त और ईश्वर को विराट, विपुल और अनन्त—ऐसा समझने पर वे दुर रहते हैं,—परिणामतः उनसे प्रेम नहीं हो पाता है। उनपर भक्त का एकात्मभाव—मान-अभिमान, सुहाग-आदर की छाया प्रभृतियाँ ओतःप्रोत भाव न रहने पर प्रेम की स्फूर्ति नहीं होती। यशोदा का शासन, नन्द का बाधावहन, गोपबालकों का उच्छिष्टभक्षण और कंधों पर वहन एवं गोपबालाओं का पदधारणपूर्वक मानभञ्जन प्रभृति समस्त ही व्रजभावलुब्ध भक्तों के परम आदर्श हैं। महिमज्ञान से प्रेम सङ्कुचित होता है। भावानुसार भगवान् को आत्मसम किंवा अपने से छोटा न समझ सकने पर प्रेम नहीं होगा। तभी गोपीभाव का आदर्श ग्रहण कर प्रेम की साधना करनी होगी। प्रेम की साधना ही श्रेष्ठ साधना है। प्रेम के वश से ही भगवान् आकृष्ट होते हैं; उस आकर्षण से वे स्थिर नहीं रह पाते। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य प्रभृति भावों की साधना से भगवान् उसका प्रतिदान दे सकते हैं, किन्तु गोपीप्रेम का प्रतिदान नहीं दे सकते। तुम्हें प्रेम करता हूँ,—तुम्हीं को छोड़कर और कुछ भी नहीं जानता, इसमें क्या कोई प्रार्थना है ? प्रार्थना नहीं है, तब वे भला क्या पूर्ण करेंगे ? क्या प्रतिदान देंगे ? तुम्हें चाहता हूँ,—देने से स्वयं को देना होता है। इसी कारण भगवान् गोपीप्रेम के पास ऋणी हैं।*

---

* इसी ऋण का परिशोध करने के लिए भगवान् का "गौराङ्ग-अवतार" भक्त-समाज में कीर्तित है।

किन्तु भगवान् के साथ प्रेम करना बड़ी कठिन समस्या है; सबकुछ भूलना होता है। धर्माधर्म, अच्छा-बुरा, जाति-कुल, सुख-दुःख समस्त भूलकर उन्हीं में आत्मसमर्पित होना होगा। किन्तु अच्छा-बुरा त्याग करना होगा इसी कारण से त्याग करने से नहीं चलेगा। अच्छे-बुरे का ज्ञान रहने से प्रेम नहीं हुआ,—किंवा यथार्थ प्रेम होने से वह ज्ञान रह ही नहीं सकता। शास्त्र जो कहते हैं, लोग जो कहते हैं, समाज जो बोलता है,—उसे सुनें तो प्रेमलाभ नहीं होता। भगवान् जिससे सुखी हों, वही करना होगा। विधि-निषेध मानकर क्या प्रेम करना चलेगा ? प्रेमभक्ति तदनुरक्ति का विकास है; स्वयं को भूलकर—धर्म, कर्म, जाति-कुल-मान भूलकर वाञ्छित का अनुसरण करना ही प्रेमभक्ति है। यह भाव गोपियों का था, इसीलिए भगवदाराधना में गोपीभाव ही श्रेष्ठ है।

प्रेमस्वभावलुब्ध साधक गोपीभाव अवलम्बनपूर्वक भगवान् को प्रेमास्पद कर हृदय-निकुञ्ज में प्रेम की फूलशय्या पर शयन कराकर प्रेम के गान से प्रबुद्ध हों; और बाहर से श्रीगुरु को भगवान् का स्वरूप समझ देह-मन समर्पण कर परिचर्या करें। नहीं तो पत्थर या पीतल की मूर्ति गढ़वाकर तुलसी-चन्दन से प्रेमास्पद की पूजा करें; क्रमशः प्रेमसञ्चार के साथ-साथ उनका अनन्त भाव, अनन्त मूर्ति, अनन्त वीर्य, भावना या धारणा में ला सकेंगे। जगत् रात-दिन पाद्य-अर्घ्य से जिनकी पूजा कर रहा है, प्रकृतिरूपा राधा जिनकी प्रेमकामना में सर्वत्यागिनी है, उदासिनी है, योगिनी है—उस नित्यसहचर, नित्यसखा, नित्यप्रेमास्पद का सन्धान मिलेगा। तब

"जहाँ-जहाँ नेत्र पड़ें, तहाँ-तहाँ हरि स्फुरें"—सभी स्थानों पर सभी वस्तुओं में प्रेमास्पद की प्रेममयी मूर्ति देख सकेंगे। तब आत्मदर्शी योगी के समान प्रेमिक भी हर फल में, हर फूल में, हर पत्ते के मर्मर शब्द में, हर पहाड़ पर, हर झरने में, हर नद-नदी में, हर नर-नारी में, हर अणु-परमाणु में उसी सच्चिदानन्द का विकास देखते हैं, उस श्यामसुन्दर चिद्‌घनरूप को और नहीं भूल सकते,—जगत् लेकर, राधा को लेकर राधावल्लभ की उपासना करते हैं। वे प्रेममय हैं,—प्रेम के आकर्षण से वे भूले नहीं रह सकते।

अतएव भावावलम्बन में जितने प्रकार के साधनोपाय हैं, उनमें प्रेमसाध्य गोपीभाव की साधना ही श्रेष्ठ है। कारण यही मानवों की साधारण सम्पत्ति है—यही मानव-जीवन की सारवस्तु है। इस आकर्षण के भगवान् में विन्यस्त होते ही ज्वाला से मनुष्य अव्याहति प्राप्त करता है। उस समय मैं कौन हूँ, वे कौन हैं—इसका ज्ञान होता है। जगत् क्या है, पुत्र-कलत्र क्या हैं, सोने का बन्धन क्या है—लोहे का बन्धन क्या है—यह भ्रम दूर होता है। हृदय दृढ़भक्ति और अहेतुक प्रेमसम्पन्न होता है। तब दिव्यज्ञान होता है,—विशेषरूप से समझा जा सकता है, पुत्र-धनैश्वर्य कुछ भी नहीं है, शरीर कुछ नहीं है, घटपट मैं-मेरा कुछ नहीं है,—सब वे हैं; वे ही आदि-अन्तहीन चराचर-विश्वव्यापी विश्वेश्वर सत्य हैं। सत्यस्वरूप के सत्यज्ञान से असत्य दूर होता है,—अचञ्चल आलोकाधार-मण्डलमध्यवर्ती वे ही नित्य और लीलामय प्रेमास्पद परमपुरुष के असमोर्ध्व प्रेममाधुर्य में प्रेमिक अनन्त काल के लिए डूब जाते हैं, प्रेमिक-प्रेमिका या

भगवान्-भक्त राधाश्याम के महारास के महामञ्च पर आनन्द में मतवाले होकर एक हो जाते हैं।

राधाकृष्ण और अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व

गोपीभाव में जो ईश्वरानुसरण है, उसका नाम **रागमार्ग** है। सन्ध्या-आह्निक, रोजा-नमाज, प्रार्थना-उपासना प्रभृति विहिताविहित कर्म, जाति-कुल, लोक-धर्म, सुख-दुःख, मान-अभिमान, आचार-नियम, विधि-निषेध इत्यादि समस्त बैधीमार्गों का अनुष्ठान कीर्तिनाशा के जल में विसर्जनपूर्वक केवल प्राणों के अनुराग से आनन्द के रस से मत्त होकर, आकुल आकर्षण से आकृष्ट होकर जो ईश्वरोपासना की जाती है, उसी को रागमार्ग कहते हैं। इस रागमार्ग के साधना प्रवर्तनार्थ ही **व्रजलीला** है। व्रजगोपियाँ इस रागमार्ग की साधिका हैं। इस रागमार्ग की साधना का प्रचार करने के लिए ही द्वापर का अवतार हुआ था। जब जिस धर्म के संस्थापन का प्रयोजन होता है, तभी उसके पूर्ण आदर्श का प्रयोजन होता है—आदर्श भिन्न मानव शिक्षालाभ नहीं कर सकता है, तभी तो भगवान् ने योगमायावलम्बन से शरीरी होकर इच्छादेह का धारण कर कृष्णरूप में व्रजधाम में लीला की थी। उस व्रजलीला की प्रधान सहायिका है **राधा**।

हमने भक्तितत्त्व में दिखाया है कि भगवान् की जो शक्ति जीव को सर्वदा अनन्त उन्नति के पथ पर—पूर्ण मङ्गल और आनन्द के

पथ पर आकर्षित करती है, वही **कृष्ण** है। और जिसके द्वारा हम उनकी ओर—अनन्त आनन्द की ओर आकृष्ट होते हैं, वही **भक्ति** है। भक्ति अगर गुणावरण से आवृत रहती है, तब उसके स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है। किन्तु आवरण उन्मुक्त होते ही मेघान्तरित सूर्य की तरह स्व-स्वरूप में प्रकाशित होकर प्रेम आख्या को प्राप्त होती है। यह प्रेम सच्चिदानन्द भगवान् की ह्लादिनीशक्ति का विकास मात्र है। भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं यथा—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।

—विष्णुपुराण, १/१२/६९

"ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित्" ये तीन शक्तियाँ भगवान् को आश्रय की हुई हैं। उनमें ह्लादिनी प्रेमस्वरूपा हैं, ये ही **राधा** नाम से कीर्तिता हैं। यथा—

हरति श्रीकृष्णमनः कृष्णाह्लादस्वरूपिणी।
अतो हरेत्यनेनैव राधिका परिकीर्तिता॥

—साधनतत्त्वसार

—जो श्रीकृष्ण का मन हरण करती हैं, वे ही हरा हैं; कृष्ण-आह्लादस्वरूपिणी राधा ही इस नाम से अभिहिता हुआ करती हैं।

राध् धातु से राधाशब्द निस्पन्न हुआ है। राध् धातु का अर्थ है साधना, पूजा या तुष्ट करना। जो साधना, पूजा या तोषण करते हैं,—वे ही राधा हैं। और इस शक्ति को जो आकर्षित करते हैं—उनका नाम कृष्ण है। कृष् धातु से कृष्णशब्द निस्पन्न हुआ है, कृष् धातु का अर्थ है आकर्षण करना; जो साधनाकारिणी शक्ति को

सर्वेन्द्रिय आकर्षित करती हैं, उन्हीं को कृष्ण कहते हैं। अतएव राधा और कृष्ण एक ही आत्मा हैं। वे अग्नि और दाहिकाशक्ति के समान भेदाभेदरूप में नित्य वर्तमान रहकर समग्र प्रापञ्चिक जीवसमूह के अन्तर्बाह्य में विराज कर रहे हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण ने गोपियों से कहा था—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥

—श्रीमद्भागवत, १०/८२/४६

—जिस प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल और क्षिति ये पञ्चमहाभूत समुदाय भौतिक पदार्थों के कारण और कार्य होकर उनके अन्तर्बहिः वर्तमान हो रहे है; तद्रूप मैं ही एकमात्र सभी प्राणियों के कारण और कार्यरूप में सभी के अन्तर्बाह्य में विराज कर रहा हूँ; सुतरां मेरे साथ तुमलोगों का विच्छेद कदापि सम्भव नहीं है।

राधा और कृष्ण एक ही आत्मा हैं; जीव को प्रेमतत्त्व का आस्वादन कराने के लिए और तत्साधना शिक्षा देने के लिए व्रजधाम में उभय-देह धारण की थी। उसी व्रजलीला को समझने के लिए सबसे पहले व्रजलीला का आध्यात्मिक भाव उपलब्ध करना कर्तव्य है; ऐसा होने पर प्राकृतलीला सहज ही बोधगम्य हो जायेगी।

जीव के साथ भगवान् का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध केवल प्राकृत स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के अतिरिक्त और किसी के ही अनुरूप नहीं हो सकता। इसीलिए योग के उसी घनिष्ठ सम्बन्ध को

हिन्दुऋषि ने व्रजलीला में राधाकृष्णतत्त्व में प्रकाश किया है। आत्माएँ जब संसार की कुटिलता और माया से परिव्राजित होती हैं, तब उनमें व्रजभाव घटित होता है। तृणावर्त, अघासुर, वकासुररूपी हिंसाकुटिलता का नाश न कर पाने पर व्रजभाव की प्राप्ति नहीं होती है। उसी व्रजभाव में प्रकृति व्रजेश्वरी है। व्रजेश्वरी का मिलन आनन्दधाम वृन्दावन में है। जितने दिन जीवों का संसारबीजसमुदाय नष्ट नहीं होता, उतने दिन उसकी मुक्ति नहीं है। सांख्यमत में प्रकृति-पुरुष की घनिष्ठता ही जगत्-संसार है। जगत् में ही प्रकृति-पुरुष घोर आसक्त हैं; उनका विच्छेद ही मुक्ति का सोपान है। राधा के शतवत्सर विच्छेद में—जीवात्माओं को शतवत्सर की अनासक्ति में मुक्तिलाभ है। सौ वर्षों के बाद राधिका के साथ कृष्ण का मिलन होता है। मिलन में जीवात्माओं को मोक्षपद प्राप्त होता है। योग के ये समस्त निगूढ़तत्त्व एक-एककर, हिन्दुओं ने अवयव-कल्पना में मूर्तिमान कर दिखाया है।

योग में जीवात्माएँ परमात्मतत्त्व के साथ जितने भावों से रमण करती हैं, उनके अनुभव और मिलन के जितने प्रकार के स्तर हैं, तत्समुदाय कृष्णलीला में प्रकटित है। प्रजापालनरूप गोचारण (गो अर्थ में प्रजा) में कृष्ण संसार-धामरूप गोष्ठ में क्रीड़ा करते हैं। आनन्दधाम नन्दालय में पिता-पुत्र के सम्बन्ध में कृष्ण दिखाई पड़े थे। माता-पिता का वात्सल्य, भक्ति की अपेक्षा भी प्रगाढ़तर है। हिन्दुओं का ईश्वरानुराग, वात्सल्य की अपेक्षा अधिक जान पड़ता है। यशोदा और नन्द का वात्सल्य एकप्रकार हिन्दुओं के देवानुराग

से तुलनीय हो सकता है। हिन्दू देवता को क्षीर-मक्खन खिलाते हैं, हृदय का उत्कृष्ट उपहार और भक्ति-पुष्प-चन्दन से चर्चित कर अर्चना करते हैं, यशोदा और नन्द के समान स्नेह के शतरज्जु से कृष्ण को बाँधना चाहते हैं।

किन्तु उस स्नेह की अपेक्षा से भी समझता हूँ कि और भी उत्कृष्ट वस्तु है, वह है राधा का कृष्णानुराग। हिन्दुओं का देवानुराग क्रमशः स्फुरित होकर वात्सल्यभाव की अपेक्षा भी प्रगाढ़तर हुआ है, प्रगाढ़तर होकर राधा के प्रेम में उपनीत हुआ है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में मानों कुछ दूरभाव है। पत्नी पति को खूब निकट देखती तो अवश्य है, अथच कुछ उच्च उच्च भाव से देखती है। केवल जो ललनाएँ छिपकर अपर पुरुष के प्रति अनुरागिणी होती हैं, उनके प्रेम में उस प्रभुता का दूरभाव नहीं है। राधा का प्रेम ऐसा ही प्रेम है। संसार ही आयान है एवं धर्मद्वेषी व्यक्तिगण जटिला-कुटिला हैं। तभी तो उनसे छिपाकर गोपनीय प्रेम से राधा कृष्ण से प्रेम करती थीं; उनके साथ क्षणिक मिलन हेतु लालायित रहती थीं। मिलन के होने पर आनन्दसागर में भासती थीं। क्षणिक मिलन से जैसे योगियों को आनन्द मिलता है, राधिका का आनन्द उससे भी अधिक है। राधिका इस प्रकार के अनुराग से कृष्ण-प्रेम में उन्मत्ता थीं। यह योग पति-पत्नी के योग की अपेक्षा से भी प्रगाढ़तर है। यह प्रेम स्त्री-पुरुष का गोपनीय घनिष्ठ अनुराग है। यह अनुराग हिन्दु-योगियों का ईश्वरानुराग है। उसी अनुराग की क्रमस्फूर्ति योगतत्त्व में अनुभवनीय है। उस क्रमस्फूर्ति का बाह्यविकास ही व्रजलीला है।

द्वापरयुग की शेष सन्ध्या में जब जीव कर्म और ज्ञान की कर्कश साधना में ज्वलित-कण्ठ से भगवान् की कृपावारि की आशा में ऊर्ध्वमुखी हो टकटकी लगाये हुए था, वासना-विदग्ध होकर आनन्द के अनुसन्धान में भटक रहा था, उसी समय भगवान् मनुष्य को ऊर्ध्वगति का प्रदान करने के लिए—परमानन्द का प्रदान करने के लिए—पिपासित कण्ठ में मधुर प्रेमरस की पूर्णधारा डाल देने के लिए ह्लादिनीशक्ति के साथ राधाकृष्णरूप में व्रजधाम में अवतीर्ण हुए थे। जगत् का प्रधान भाव है प्रेम —वही प्रेम दान करने, प्रेमशिक्षा प्रदान करने, प्रेम में जगत् को जगाने के लिए भगवान् ने अपनी ह्लादिनीशक्ति के साथ वृन्दावन में माधुर्य की रासलीला की थी। कृष्ण-अवतार का उद्देश्य ही अपूर्ण मानव को प्रेम का आस्वादन देकर भगवान् का क्षरित प्रेमसुधा पान करा कर निवृत्ति के पथ पर ले जाना है। आदर्श के बिना मानव एक पग भी अग्रसर नहीं हो सकता; अपूर्ण जीव क्या कभी पूर्णानन्द की प्रतिष्ठा कर पाता है ? गुणावृत गुणमय जीव क्या कभी भी निर्गुण प्रेम का आदर्श हो सकता है ? अपूर्ण जगत् में पूर्ण और कौन है ? तभी तो भगवान् युग-युग में अवतीर्ण होकर धर्मस्थापन किया करते हैं। यथा—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

—श्रीमद्भागवत, १०/३३/३७

—भगवान् ने भक्तों के प्रति अनुग्रहविकासार्थ मनुष्यदेह का आश्रय कर उसी प्रकार क्रीड़ा की थी, जिसका श्रवण कर भक्तगण—मानवगण वैसा कर सकें।

वह क्रीड़ा ही व्रजलीला है। उस प्रेमलीला की राधा ही प्राण है—क्योंकि राधिका का चित्त, इन्द्रिय, देह प्रभृति सर्वस्व कृष्णप्रेम से भावित हैं एवं वे कृष्ण की अपनी ह्लादिनीशक्ति हैं— रसक्रीड़ा में सहाय हैं। वे स्नेहादि अष्टवृत्तियों को सखीरूप में सङ्ग लेकर व्रजधाम में अवतीर्ण हुई थीं। सुतरां गोपीभाव-साधना में राधा ही प्रधान आदर्श हैं।

वृन्दावन प्राकृतजगत् में अप्राकृत भूमि है। वहाँ सख्यादि प्रेमसाध्य भावों मूर्तिमान् होकर विराज रहे हैं। व्रजलीलाओं में किस प्रकार से इन भावों का स्फुरण हुआ था, हिन्दुमात्र ही उससे अवगत हैं। सुतरां सभी भावों का चित्र अङ्कित कर समय नष्ट नहीं करना चाहता। हम रसिकशिरोमणि चण्डीदास की पदावली से राधा का प्रेमविलास संक्षेप में चित्रित कर रहे हैं। विप्रलम्भ में अधिरूढ़ भाववशतः सम्भोगस्फूर्ति प्रभृति प्रेमविलास ही **विवर्तवाद** हैं। इस विवर्तविलास में प्रेमिका का अभिसार, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्त्तृका और स्वाधीनभर्त्तृका ये आठ प्रकार की अवस्थाएँ हैं। राधाप्रेम में इन सकल प्रकार की अवस्थाओं का ही पूर्णरूप विकास हुआ था।

श्रीमती राधा जब कुलवधूरूप में आयानगृह में निवास कर रही थीं—धर्मकर्म, साधनभजन का विन्दुमात्र भी तोयाक्का करती नहीं थीं, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण को भी नहीं देखा—ऐसे समय में सखीमुख से श्रीकृष्ण की कथा सुनकर राधा का हृदय उत्थलित हो उठा, वे मृणालभुजाओं से सखी का गलदेश वेष्टन करती हुई बोलीं—

सई, केबा शुनाइल श्यामनाम।
काणेर भितर दिया मरमे पशिल गो,
आकुल करिल मोर प्राण॥

कभी भी कृष्ण का नाम नहीं सुना, कभी भी कृष्ण का रूप नहीं देखा, केवल सखी के मुख से कृष्ण का नाम सुन ऐसा भावोद्रेक हुआ था।

नाम-परतापे जार ऐछन करिल गो,
अङ्गेर परशे किबा हय!

नाम सुनकर अङ्गस्पर्शसुख के लिए व्याकुल हो उठीं। यही रागानुगा भक्ति का प्रधान लक्षण है। तत्पश्चात् ही सखियों के साथ यमुना का जल लाने, वन में फूल चुनने जाने, नाना प्रकार के छल-कौशल से श्रीकृष्ण के दर्शन करने लगीं। उसीसे अङ्ग की परशलालसा दिनोंदिन परिवर्द्धित होने लगी। श्रीकृष्ण भी राधिका को देख उन्हें पाने के लिए पागल हो उठे। वे कटाक्षहास्यादि हावभावद्वारा परस्पर उभय ही अनुराग के चिह्न व्यक्त करने लगे। क्रमशः दूती प्रेरित होने लगी; श्रीकृष्ण ने छद्मवेश धारण कर नाना प्रकार के छल द्वारा परस्पर अङ्ग-परश-सुख का भोग करने लगे।

क्रमशः उभय ही अधीर हो उठे, अब मिलन हुए बिना नहीं रहा जा सकता। सुतरां सङ्केत-स्थान निर्दिष्ट हुआ; श्रीकृष्ण के बाँसुरी द्वारा सङ्केत करते ही राधा वहाँ पहुँच जातीं। प्रथमतः श्रीकृष्ण ने उनके वसन चुराकर प्रेमानुराग की परीक्षा की; उस दिन गहन रात्रि में जब पृथ्वी चन्द्रकिरणों से उद्भासित थी, मानवगण घोर निद्रा में अभिभूत थे, उसी समय प्रिय सखियों के सङ्ग राधा वन में प्रवेश

कर श्रीकृष्ण के साथ रासक्रीड़ा में लिप्त हुईं। उस दिन इस कार्य से प्रतिनिवृत्ति के निमित्त श्रीकृष्ण ने राधा को जाति, कुल, धर्म का भय दिखाकर कितना समझाया; किन्तु राधा अपने सङ्कल्प से थोड़ा भी विच्युत नहीं हुईं। सुतरां उभय का मिलन हुआ। उस दिन से राधिका प्रत्यह रात्रि में कुञ्ज में नायिका-वेश में आकर शय्यादि और वनफूलमाला प्रस्तुत करती हुई श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करतीं। कैसे रहतीं?

दु'काण पातिया छिल एतक्षणे
बँधु-पथ-पाने चाइ;
परभात निशि देखिया अमनि
चमकि उठिल राइ।
(बँधु एल ना बले)
पाताय पाताय पड़िछे शिशिर
सखीरे कहिछे धनी;
बाहिर हइया देख लो सजनि
बँधुर शबद शुनि।
पुन कहे राइ ना आसल बँधु
मरमे रहिल व्यथा,
ताम्बुलेर राग मुछि कर दूर
नयन-काजल-रेखा।

सारी रात कृष्ण के लिए राधा जागी थीं,—थीं किन्तु अपना अस्तित्व भूलकर, समस्त वृत्तियाँ प्रणयभाजन में समाश्रित थीं, बाह्यज्ञानविरहित थीं। प्रेम की बाढ़ ज्ञान की बालुका इस प्रकार

बहा ली जाती है। समस्त वृत्तियों को एकमुखी कर प्रेमिका बँधु के आने के पथ की ओर ताकी थीं—किन्तु आने का समय उत्तीर्ण हो गया,—रात्रि प्रभात हो गई। तब तो और नहीं आयेगा, शायद उसका आना नहीं हो सका। किन्तु मन क्या मानता है ? प्रति पत्र कम्पन से उनके पदशब्द मालुम हो रहे हैं—तभी सखी से अनुरोध कर रही हैं—सखि ! बाहर झाँक कर देखो, शायद बँधु आ रहा है। शायद बँधु का पदचाँप सुनाई पड़ रहा है। पलभर में आशा निराशा में बदल गई। हताशा की दीर्घश्वास छोड़ती हुई बोलीं,—नहीं नहीं वह नहीं आया। उसे आने का अवसर नहीं मिला, आने के लिए उनका मन नहीं चाहा है। किन्तु उसके सुख के लिए—उसके उपभोग के लिए ही तो मेरा साज-शृङ्गार है; यदि वही नहीं आया, तो इन सबका क्या प्रयोजन ? अतएव इन्हें धो-पोंछकर दुर कर दो।

अचिर में ही राधा की गुप्त प्रणय कहानी सर्वत्र प्रकट हो गई। पति, सास, ननद प्रभृति राधा को तरह-तरह से यातना देने लगे। राधा का नाम "कलङ्किनी" पड़ गयी। पाड़ा की परिहासरसिका रमणियाँ नानारूप श्लेषवाक्यों से मर्म को पीड़ा पहुँचाने लगीं। राधा श्यामप्रेम में विभोर होकर समस्त अक्लेश से सहन करने लगीं। किन्तु श्याम की निन्दा सुन अधीर हो उठती थीं। अगर कोई श्याम के काले रङ्ग, बाँका शरीर या शठ-कपटता का उल्लेख कर उनके साथ प्रेम की अयोग्यता प्रमाणित करती, तो राधा उसे अनुरोधपूर्वक कहतीं कि मेरी आँखों से श्यामरूप देखो। अत्याचार, उत्पीड़न,

निन्दा, कलङ्क इन सब कुछ से ही राधा का अनुराग थोड़ा भी ह्रास नहीं हुआ,—विनाश के कारण के होते हुए भी प्रेम विनष्ट नहीं हुआ; वरन् दिनोंदिन अनुराग में वृद्धि ही होती गई। क्रमशः राधा को जगन्मय कृष्णमूर्ति की स्फूर्ति होने लगी। मेघ देखने से, तमालवृक्ष देखने से कृष्ण की याद कर व्याकुल हो उठतीं। हृदय फटकर रुलाई निकल पड़ती, जिससे कि गुरुजनों के भय से भींगा काठ चूल्हे में डालकर धुएँ के छल से रोती थीं। बाद में लज्जा, भयादि दूर हुआ। इस समय राधिका की फिर अन्य कोई चिन्ता, अन्य किसी वस्तु में सुख या अन्य किसी वस्तु के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा।

राधार कि हलो अन्तर-व्यथा।

बसिया विरले थाकये एकले ना शुने काहांरो कथा॥
सदाइ धेयाने चाहे मेघ पाने ना चले नयनेर तारा।
विरति आहारे राङा बास परे जेमन योगिनी पारा॥
एलाइया वेणी फूलेर गाँथनि देखये खसये चुलि।
हसित बयाने चाहे मेघ पाने कि कहे दुहात तुलि॥
एक दिठ करि मयूर मयूरी कण्ठ करे निरीक्षणे।
चण्डीदास कय नव परिचय कालिया बँधुर सने॥

राधा क्रमशः योगिनी—उदासिनी हो उठीं। कृष्ण की याद आते ही वे मूर्च्छित हो जातीं।

कालिया वरण हिरण पिधन जखन पड़ये मने।
मुरछि पड़िया काँदये धरिया सब सखि जने जने॥

राधा सिर्फ योगिनी नहीं, उन्मादिनी—पागलिनी हो गईं।

तरुण मुरली करिल पागली रहिते नारिनु घरे।
सबारे बलिया विदाय लइनु कि करिबे दोसर परे॥

राधिका प्रेम में क्रन्दनमयी हैं,—उन्हें पूर्वानुराग का सुख नहीं, प्रेम में सुख नहीं, मिलन में सुख नहीं। मिलन में भी वे आशङ्कामयी—यातनामयी—

दुँहू कोरे दुँहू काँदे विच्छेद भाबिया।

मिलन में भी राधा को देहबोध नहीं—प्रियसम्भोगरसास्वाद नहीं—

ए काल मन्दिरे आछिला सुन्दरी कोरहि श्यामेर चन्द।
तबहूँ ताँहार परश ना भेल ए बड़ि मरम धन्द।

राधा के प्रेम में केवल ही आकुलता—केवल ही मर्मज्वाला—

एके कुलवती धनी ताहे से अबला।
ठेकिल विषम प्रेमे कत स'बे ज्वाला॥
अकथ बेयाधि ए कहा नाहि जाय।
जे करे कानुर नाम धरे तार पाय॥
पाये धरि काँदे चिकुर गड़ि जाय।
सोनार पुतलि हेन धुलाते लोटाय॥

आग्नेयगिरि जिस प्रकार द्रवमयी ज्वाला प्रसव करता है—श्रीराधिका का हृदय भी उसी प्रकार पूर्वराग में, मिलन में, सम्भोग के रसोद्गार में सभी समय एक अनिर्वचनीय अविच्छिन्न सर्वविनाशिनी सर्वग्रासिनी ज्वाला उद्गीरण कर रहा है। उनके सुख

में यन्त्रणा, यन्त्रणा में सुख, प्रेम में यन्त्रणा, यन्त्रणा में प्रेम; प्रेम की धारा ही ऐसी है—

सुखेर लागिया जे करे पीरिति दुख जाय तार ठाँइ॥

राधिका के दुःख की प्रीति, तभी तो उनको अविरत—

हिया दगदगि पराण पोड़ानि।

ज्वालामुखिसङ्कुल हिमालय से पवित्र मन्दाकिनी का सलिल प्रवाहित होकर जगज्जन को जिस प्रकार पवित्र और शीतल कर रहा है, उसी प्रकार राधा के प्रेम ज्वालामुखी से शत-शत भावप्रवाह निकलकर भक्तों को पवित्र और कृतार्थ कर रहे हैं।

प्रेम में प्रतिद्वन्द्वी न रहने पर चरम विकास नहीं होता, तभी तो कृष्णप्रेम में चन्द्रावली राधा की प्रतिवादिनी है। राधा अभिसार में आकर उत्कण्ठित चित्त से श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा कर रही हैं। समस्त रात्रि उद्वेलित हृदय से कट गई है—भोर में कृष्ण आये; वे अन्य नायिकाओं के पास होकर आ रहे हैं सोचकर श्रीमती राग, दुःख, अभिमान से मुख फेर बैठीं। एकबार आँखें उठाकर अपनी बड़ी साध के बँधु को देखा तक नहीं। श्रीकृष्ण ने अपना दोष स्वीकार किया—उनके पैर पकड़ कर अनुनय किया—क्षमा याचना की; जिनकी दर्शनाकाङ्क्षा में हृदय की समस्त वृत्तियों को एकमुखी कर सारी रात जागी हैं, वही बँधु आकर कातर—आकुल क्रन्दन से मानभिक्षा याचना कर रहे हैं; किन्तु राधा की दया न हुई, उन्होंने सखियों द्वारा श्याम को कुञ्ज के बाहर निकलवा दिया। श्याम के

जाते ही वे "बँधु, बँधु" कहकर मूर्च्छित हो पड़ीं। सखियों ने बड़ा प्रयत्न कर उन्हें होश में लाकर कहा—

तप वरत कत करि दिन यामिनी जो कानुको नाहि पाय।
हेन अमूल्य धन मञ्जु पाद गड़ायल कोपे मुञि ठेलिनु पाय॥

तब राधा सिर पर कराघात कर हाहाकार स्वर में रुदन करने लगीं। सखियों ने पुनः श्याम को लाकर मिला दिया। सारे दुःख भूलकर राधा फिर प्रेम-सागर में तैरने लगीं। श्याम की छाती पर सिर रखकर आँखों में आँखें डाल कर बार-बार क्षमा माँगकर बोलीं,—बँधु, मैं जो राग करती हूँ, वह सिर्फ दुम्हारे बल पर। मैं अबोधिनी ग्वाले की बेटी ठहरी, तुम्हारी मर्यादा भला कैसे समझूँगी ? तुमने दया कर मुझे प्रेम करके ही न मेरा मान बढ़ाया है ? नहीं तो मुझे कौन पूछता है ? तुम्हारे गर्व में मेरा गर्व है, तुम्हारे मान में मेरा मान है।

तुँहार गरबे हाम गरबिनी तुँहार रूपेते रूपसी राइ॥

इस प्रकार नित्य नूतन प्रेम में बड़े सुख से—बड़े आनन्द से राधा के दिन गुजर रहे थे। सहसा अक्रूर आकर श्रीकृष्ण को मथुरा ले गये; वे आऊँगा कहकर आशा देकर गये तो ठीक, किन्तु और नहीं आ पाये। वृन्दावन श्मशान में बदल गया, सखियों के साथ राधा वन में जीवन्मृता होकर पड़ी रहीं। अधिकांश समय श्यामप्रेम में विभोर रहतीं। उस समाधि के भाव एवं स्वप्नावस्था में श्यामसङ्गसुख का अनुभव करतीं। चेतना का सञ्चार होते ही "बँधु बँधु" शब्द कर मर्मभेदी क्रन्दन से दिगन्त आकुलित कर देतीं। शायद उस आकुल क्रन्दन से पशु-पक्षी, वृक्ष-लताएँ तक स्तम्भित

हो जातीं। धैर्यलाभ करने पर उस समय को सखीसङ्ग श्यामप्रसङ्ग में बिता देतीं। इस समय की अवस्था प्रेमिक भक्त श्रीमत् कृष्णकमल गोस्वामी रचित दो गीतों के माध्यम से आलोचना की जाय।

यमुना-तट पर कृष्णवियोगिनी उन्मादिनी राधिका, ललिता को गले से लगाती हुईं कह रही हैं : हाय, मैंने यह क्या किया सखि ! वह मेरा अमूल्य निधि है—वह मेरे आँचल से बँधा ही था, मैं अभागिनी पाई हुई निधि भी खो दी। सखि, वह क्या मेरा कम दुःख की निधि है ? मैंने दुःख का सागर सुखाकर वह निधि पाई थी। वही दिन आज मुझे याद आ रही है, वही नव अनुराग का दिन !

सखि ! जखन नव अनुरागे हृदये लागिल दागे विचारिलाम आगे पाछेर काजे।
(जा' जा' करते जे हबे गो, सखि आमार बँधुर लागि)
प्रेम क'रे राखालेर सने, आमाय फिरते हबे वने वने, भुजङ्ग-कण्टक-पथमाझे।
(सखि आमाय जेते जे हबे गो, राइ बले बाजले बाँशी)

सखि ! जब कान्हा के नव अनुराग ने मेरे निर्मल हृदय में दाग दिया, तब एक बार मन ही मन विचार कर देखा, अपने बँधु के लिए जो-जो करना होगा; बाद के उन कामों को पहले ही सोचकर स्थिर कर लिया। सखि, मैंने तो सुख के लिए श्याम से प्रेम नहीं किया, यदि सुख की लालसा से प्रेम करती, तो एक चरवाहे से प्रेम क्यों करती ? मैंने जिस दिन से कान्हा से प्रेम किया है, उसी दिन से दुःख को अपने मस्तक का भूषण कर लिया है। चरवाहे से प्रेम कर मुझे तो वन-वन में भटकना होगा, मैं उस समय भी यह जानती थी। वनपथ तो कण्टकमय होता है, वन में भीषण भुजङ्ग

रहते हैं, अन्धेरी रात में पथ चलते-चलते भुजङ्ग के सिर पर पैर दे सकती हूँ, कीचड़ के गर्त में गिर सकती हूँ, यह सब तो मैं जानती थी। सखि, मैं यह भी जानती थी कि, राइ कहकर वंशी बजते ही मुझे जाना ही होगा। तभी—

अंगने ढालिया जल, करिया अति पिछल, चलाचल ताहाते करिताम।
(सखि ! आमाय चलते जे हबे गो, बँधुर लागि पिछल पथे)

सखि ! वर्षा की अन्धेरी रजनी में जब मूषलधारा से वर्षा होगी, जब दुर्दान्त झञ्झावात से यमुना के हृदय में प्रबल तरंगें उठेंगी, निविड़ अन्धकार में विद्युत् की विकट हँसी भिन्न और कोई आलोक की रेखा न दिखेगी; वज्र के विकट गर्जन से जब पृथ्वी काँप उठेगी, उस दुर्योग की रात्रि में यदि सुन लूँ कि वन के बीच मेरा नाम लेकर वंशी बज रही है, ऐसी स्थिति में क्या मैं घर में बैठी रह सकती हूँ। उस घोर रजनी में मुझे निरापद गृहाश्रय त्याग कर बँधु जिस पथ में पुकार रहे हैं, उसी पथ में जाना होगा—यह मैंने पहले ही सोच लिया था, तभी तो आँगन में जल गिराकर फिसलन बनाकर उसी फिसलन भरे पथ पर चलना सीखती थी; ताकि अन्धेरी रात में वर्षाती फिसलन पथ पर चलती हुई पदस्खलित होकर गिर न पड़ूँ; तभी तो सखि—

हइले आँधार राति पथ माझे काँटा पाति गतागति करिते शिखिताम।
(सदाइ आमाय फिरते जे हबे गो, कत कण्टक-कानन-माझे)
एने विष-वैद्यगणे बसिये निर्जन स्थाने तन्त्र-मन्त्र शखेछिलेम कत।
(भुजङ्ग दमन लागि गो)

सखि ! मेरे इस कृष्ण-प्रेम के न जाने कितने शत्रु हैं, बँधु के उद्देश्य से चलने के पथ में वे भुजङ्गरूप धारण किये रहते हैं। पता नहीं, कब अवसर मिलते ही डंस लेंगे, विष से जर्जर होकर अङ्गों के अचल होने पर फिर तो मैं प्राणनाथ के आह्वान पर नहीं जा सकूँगी। तभी तो विषवैद्यों को बुलाकर निर्जन स्थान पर कितनी साधनाएँ कर भुजङ्ग-दमन के तन्त्र-मन्त्रों का अभ्यास किया था। किन्तु—

बँधुर लागि कैलाम जत एक मुखे कैब कत हतविधि सब कैल हत।
(हाय ! से सब वृथा जे ह'ल गो, सखि आमार करम दोषे)

बँधु के लिए मैंने क्या किया है या क्या ही भला नहीं किया है, किन्तु फिर भी मेरे कर्मों के दोष से सभी विफल हो गये। हतविधि ने मेरे इतने आयोजन हत कर दिये। फिर क्षण में ही बोल उठीं,—

नहीं नहीं सखि, यह तो मेरा पागल का प्रलाप है। बँधु के लिए मैंने जो इतने दुःख सहे हैं, वे क्या मेरे दुःख हैं ? वे अगर दुःख होंगे, तो जगत् में सुख ही भला क्या है ? वह दुःख जो मेरे बँधु के लिए है, मैं उस दुःख-रत्न को हार बनाकर गले में पहनी हूँ। सखि !—

बँधुर सरस परश लालसे (जखन) जाइताम निकुञ्ज निवासे
तखन चरणे बेड़ित विषधर कत, नूपुर हइत ज्ञान गो।
से दुःख जानि नाइ बँधुर सुखे सदा निशिदिन भासिताम सुखे
गेछे सेइ एकदिन आर एइ एकदिन, अभागिनी राधार।
(एखन) बिने से त्रिभङ्ग, श्रीअङ्गेर सङ्ग, भूषणे भुजङ्ग मानि गो !

जब बँधु की परश-लालसा में कुञ्ज-पथ में चलती, तब क्या मैं रास्ते की ओर देखती ? तब कितने काल-फणी मेरे पैरों से लिपट जाते, उन्हें मैं नूपुर समझ बैठती थी।

आमि आसिताम बाँशीर टाने, तखन केबा चाइत पथपाने।

प्राणबँधु से तिल भर का भी व्यवधान मुझे सहन न होता था। मेरा—

एकदिन कुञ्जे मिलने दोँहार गले छिल आमार नीलमणि-हार।
विच्छेदभये त्यजिये से हार, आमि तुले निलाम श्यामचन्द्र-हार।

सखि ! जो मणिहार मेरे और मेरे प्राणकान्त के हृदय-हृदय में मिलन में व्याघात करता है, उस हार से मुझे क्या काम ? विशेषतः—

ओ—जे अन्तरे परेछे श्याम-प्रेमेर हार, तार कि काज आर,—
तार कि काज आर मणि-मुक्ता-हेमेर हार ?
तबे ए सब हार करतेम जे व्यवहार,
तखन ओइ हार छिल, बँधुर सुखेर उपहार।

सखि ! मैंने अपने उस "प्राणरत्न" को खो दिया है, जीवन में फिर उस रत्न को तो न पा सकी—

एखन परिणामेर हार हरिनामेर हार
त्वरा परा तोरा अङ्गे सइ।
आमि परिये से हार मरिये ताहार
चरणयुगले पुनः दासी हइ।

विरहाग्नि में राधा का प्रेम झुलस कर सोने जैसा हो गया था। मिलन में जो ढका था, विरह में वह प्रकाशित हुआ। अब उनका

मान नहीं, गर्व नहीं, सुख नहीं—देह विफल, शायद प्राण भी विफल। सभी प्रेमिकाओं को ऐसा लगता है,—

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।

उनके शरीर का सौन्दर्य—उनका भरा यौवन यदि प्रियसम्भुक्त न हुआ, तो वह विफल है। मुहूर्त में मृत्युकवलित होकर भी राधा श्यामसुन्दर पर क्रोध न कर सकीं। श्रीकृष्ण यदि प्रवास में जाकर दुःख में रहते, तब तो कोई बात न थी। किन्तु वे तो वहीं राजा होकर महिषी लेकर परम सुख से समय व्यतीत कर रहे हैं। अथच एक मुख की बात बोलकर भी सान्त्वना देने नहीं आ रहे हैं, एक आदमी भेजकर भी तत्त्व नहीं करते। वे राजा हैं, चाहने पर सब कुछ भी कर सकते हैं, फिर करते क्यों नहीं। भूल गये हैं; जिस राधा को सदा हृदय में रख आँखों ही आँख पहरा देत थे, जो पति, घर, कलङ्क, निन्दा, कुल, मान तुच्छ कर श्याम के प्रेम में कूद पड़ीं, आज अक्लेश से उस राधा को भूलकर अन्य नारी के सङ्ग कितने रङ्गों में काल यापन कर रहे हैं। इतनी घृणा—इतनी अवज्ञा—इतनी अवहेलना कौन प्रेमिका सहेगी? साधारण रमणी होने पर छाती फट मरती; किन्तु राधा कृष्ण की स्वरूपशक्ति हैं तभी कृष्ण-विरह-बड़वानल से किसी प्रकार प्राणों की रक्षा की थी।

कृष्ण के सुख से ईर्ष्या न कर वे बोल रही हैं,—

युग युग जीवमु वसमु लख कोश।
हमर अभाग हुनक कोन दोष॥

वह जहाँ इच्छा हो, लाख वर्ष सुख से जीवित रहे, मेरा दुर्भाग्य है, उसका क्या दोष ? अदोष-परित्यक्ता राधा का कैसा निःस्वार्थ

प्रेम है ! राधा की उस समय की अवस्था देखकर शायद पाषाण भी पिछल गया होगा ! फिर भी उन्होंने कृष्ण पर क्रोध नहीं किया; वरं किसी के निन्दा करने पर सहन नहीं कर पाती थीं। इस समय राधा महाभाव में सुध-बुध खोयी रहतीं, अष्टसात्त्विकभाव उद्दीप्त अवस्था में अनुभव होता था। कभी शरीर रोमाञ्च होकर रोमकूपें सेमर के कँाटों की तरह दीखते—तो कभी शीत के प्रभाव से थरथर कँपतीं, और फिर मुहूर्त में ही इतनी तापवृद्धि होती कि, नव किशलय-दल भी उस ताप से सूख जाते। शरीर की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ जातीं—चक्षु से पिचकारी के समान अश्रुजल निकलते। क्षण-क्षण में मूर्च्छा जातीं—श्वास और हृदय स्पन्दनरहित होकर मृत जैसी पड़ी रहतीं। सखियों द्वारा कानों में अविराम कृष्णनाम सुनाये जाने पर चैतन्यावस्था फिरते ही हुहूंकार कर उठतीं। जिन्हें पकड़े बिना स्वयं उठ बैठने की शक्ति नहीं थी, वही राधिका भावावेश में समय-समय पर सिंहनी के समान कृष्णान्वेषण में बाहर निकलतीं। क्रमशः स्वयं को भूलकर उन्होंने दिव्योन्माद प्राप्त किया था; उन्हें विश्वमय कृष्णस्फूर्ति और कृष्णानुभव हुआ था;—वे अपना अस्तित्व सम्पूर्णरूपेण प्रियतम के अस्तित्व में निमज्जित कर कृष्णतन्मयत्व प्राप्त हुई थीं। अन्त में सौ वर्षों बाद प्रभास के महायज्ञ में कृष्ण-अङ्ग में मिलित होकर स्व-स्वरूप में लीन हो गईं।

यह राधा ही गोपीभावनिष्ठ प्रेममय-स्वभावलुब्ध भक्तों की एकमात्र आदर्श हैं। जीवों की यह आदर्श दिखलाकर प्रेमभक्ति के पथ पर पूर्णानन्द प्रदान के लिए ही तो व्रजलीला—भगवान् के

"राधाकृष्ण" का अवतार है। अतएव व्रजलीला या राधा-कृष्ण को रतिरस कदर्य या घृण्य नहीं है। भगवान् स्व-स्वरूप में ही रममाण हैं; तभी उनका नाम आत्माराम ईश्वर है। वह रमणीलीला ही व्रजलीला है। जीव और शक्ति को लेकर ही उनका सब कुछ है। जीव और शक्ति के नहीं रहने से वे निर्गुण—निष्क्रिय हैं। जीव जब साधनाबल से निष्कामभाव से प्रकृति के बाहु-बन्धन से मुक्त होकर भगवान् को आत्मसमर्पण करता है—तब भगवान् को स्वरूप-शक्ति प्राप्त होती है। किन्तु जीब तब निष्काम होता है—वह शक्ति लेकर क्या करेगा ? उसकी कामना गयी, कर्म गये, शक्ति का उसे क्या प्रयोजन है ? तभी तो जीव वह शक्ति उन्हीं को प्रत्यर्पण कर देता है। उस शक्ति को अपनी शक्ति होने के कारण—आनन्दमयी ह्लादिनीशक्ति के रूप में, भगवान् उसको ग्रहण कर मधुरभाव से आलिङ्गन करते हुए मिलते हैं। इस प्रकार का भगवान् और भक्त के स्वरूपगत अभेदात्मक मिलन का नाम रमण है;—योगी की यही समाधि है। भगवान् भक्त के साथ रमण करेंगे, भक्त भी भगवान् के साथ रमण करेंगे। यह रमण या मिलन परस्पर की इच्छा से नहीं, स्वाभाविक है। भगवान् इस प्रकार जो अपनी शक्ति या प्रकृति के साथ रमण करते हैं,—यह रमण मायिक जगत् में कोई नहीं जान सकता,—यही व्रज की अमानुषी गूढ़लीला है। यह स्वरूपशक्ति की शीर्षस्थानीया ह्लादिनीशक्ति—उसी आनन्ददायिनी ह्लादिनी भगवान् को आनन्दास्वादन कराती हैं। ह्लादिनीशक्ति द्वारा भक्त का पोषण होता है, इसीलिए उनका अपर नाम है **गोपी**। श्रीमती राधा ही

गोपीकुल-शिरोमणि हैं, अतः राधा का प्रेम भी साध्य की शिरोमणि है। निरवच्छिन्न आनन्ददायिनी ह्लादिनीशक्ति राधा के साथ परमपुरुष श्रीकृष्ण का जो मिलन है, वही रमण या रासक्रीड़ा के नाम से अभिहित है। तभी गोपीभाव की साधना में शृङ्गाररस को मध्यगत कर प्रेमिक-प्रेमिका उभय के चित्त द्रवीभूत होकर सम्भोग-मिलन संघटित होता है, उससे समस्त प्रकार के भेद-भ्रम दूर हो जाते हैं; उसी से ही कभी श्रीकृष्ण राधा के भाव में विभोर होकर राधा-प्रकृति का अवलम्बन और राधा के स्वरूप का आचरण करते हैं, तो कभी राधिका श्रीकृष्ण का स्वरूपाचरण कर लीलानन्द सुख का अनुभव करती हैं। इसका नाम है **विवर्तविलास**। भक्तावतार गौराङ्गदेव में यह भाव सम्यक् प्रकाशित हुआ था।

राधाकृष्णलीला में जीव प्रेमभक्ति का आदर्श पा सका अवश्य, किन्तु किस प्रकार की साधना से वह प्राप्त होगा, वह नहीं जान सका। सुतरां उनके प्रेमरस की प्यास नहीं मिटी। जयदेव, चण्डीदास प्रभृति दो-चार भक्त के भगवत्कृपा से प्रेम की साधना में सिद्धिलाभ करने पर भी साधारण जीव उस गूढ़ उपाय को नहीं जान सके। इसीलिए साधना के आदर्श को दिखाने के लिए भगवान् को फिर अवतीर्ण होना पड़ा। पूर्ण भगवान् के अतिरिक्त अपूर्ण जीव को और कौन वह शिक्षा देगा ? तभी तो श्रीकृष्ण ने कहा है,—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३/२१

समाज के श्रेष्ठ लोग जिस प्रकार का आचरण किया करते हैं, साधारण लोग भी उसका अनुसरण करते हैं। इसी कारण भगवान् का कोई कर्म नहीं रहने पर भी "आपनि आचरि धर्म जीवेरे शिखाय"—मनुष्यदेह धारण कर स्वयं कर्म आचरण के द्वारा जीव-शिक्षा दिया करते हैं। राधाकृष्ण के आदर्श से प्रेमभक्ति की प्राप्ति के लिए जब जीव व्याकुल हो उठे, तब दया के सागर भगवान् राधाभाव से अर्थात् ह्लादिनीशक्ति से अनुप्राणित होकर श्रीगौराङ्ग के रूप में नवद्वीप में अवतीर्ण हए। तभी वैष्णवसम्प्रदाय के लोग कहा करते हैं कि, राधाकृष्ण एकदेह में गौराङ्ग हुए हैं,—गौराङ्ग के बाहर राधा, अन्तर में कृष्ण अर्थात् कृष्ण ही राधाभाव-कान्ति से आच्छादित होकर गौराङ्गरूप में अवतीर्ण हुए हैं। यह तत्त्व शास्त्र-पण्डितों को बोधगम्य न होने पर भी साधना-पण्डितों को समझने में विलम्ब नहीं होगा। श्रीस्वरूपगोस्वामिकड़चा में यथा—

राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मनावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तदद्वयञ्चैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुबलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥

श्रीराधाकृष्ण एक आत्मा होकर भी द्वापर के अन्त में भिन्न-भिन्न मूर्तियों में आविर्भूत हुए थे, बाद में उन उभय मूर्तियों ने ही फिर से एकतालाभ के लिए कलि की प्रथम सन्ध्या में प्रकट होकर श्रीचैतन्य नामक राधाभावद्युतिसुवलित कृष्णरूप में प्रेमरस आस्वादन किया था। कारण यह कि, राधा और कृष्ण उभय ही जड़प्रतियोगी

चिद्घनमूर्ति हैं, सुतरां उभय स्वरूपों में ही प्रायः एकविध उपादान है, केवल कान्ति और भाव मात्र विभिन्न है। इसी हेतु लीला के अन्त में राधाकृष्ण के स्वरूप के महामिलन में उनके केवल कान्ति और भाव का ही परिवर्तन सङ्गत है, अन्यथा अन्य किसी रूप से अवस्थान्तर सम्भव नहीं है; पक्षान्तर में शक्ति की अपेक्षा शक्तिमान् के प्राधान्यवशतः उभय के सम्मिलन से कृष्णस्वरूप ही राधाभावद्युतिसुवलित हुए हैं, किन्तु राधास्वरूप कृष्णभावद्युतिसुवलित नहीं हुए। दलभुक्त अन्धविश्वासी और घमण्डी शास्त्रपण्डितगण गौराङ्ग को लेकर बड़ा ही आन्दोलन-आलोचना करते हैं। गौराङ्गदेव को अवतार मानने पर भी राधाकृष्णमिलन से गौर हो गया है,—राधाभावकान्ति से कृष्ण-अङ्ग आच्छादित हुआ है, शास्त्र-पण्डित इस बात को स्वीकार नहीं करते; अर्थात् समझ नहीं पाते। फिर अन्धविश्वास की मूढ़ता से ज्ञान आच्छन्न होने के कारण अन्धविश्वासी गौरभक्त यह तत्त्व समझा नहीं सकते,—अथच बेकार बातों से विराट् तर्कजाल कर बैठते हैं। किन्तु योगियों, ज्ञानियों या साधकों को यह तत्त्व समझने में कोई परेशानी नहीं होती।

भगवान् ने राधाकृष्ण-अवतार में जिस तत्त्व का विकास किया है, उसी साध्यतत्त्व की साधना-प्रणाली गौराङ्ग-अवतार से प्रचारित हुई थी। राधाकृष्णतत्त्व—साध्य अर्थात् भगवान् का भाव है; और गौराङ्गतत्त्व—साधना अर्थात् भक्त का भाव है। सुतरां जिन्होंने भगवद्भाव से राधाकृष्ण-लीला की थी, उन्होंने ही भक्तभाव से उसी लीलारस-माधुर्य का आस्वादन कर जीव को वह पथ दिखा

दिया है। यही राधाकृष्ण और गौराङ्ग-अवतार में अन्तर है, अन्यथा उनमें उपादानगत कोई भी पार्थक्य नहीं है। यही वैष्णवीय दर्शन का **अचिन्त्य-भेदाभेदतत्त्व** है।

भगवान् की ह्लादिनीशक्ति ही राधा है; सुतरां शक्तिमान् श्रीकृष्ण के साथ शक्ति राधा का वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं है। यथा—

शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन।

—स्मृति

जिस प्रकार मृगमद और उसकी गन्ध में गुणगत कोई पार्थक्य नहीं है एवं अग्नि और उसकी ज्वाला में रूपगत कोई पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार कृष्ण और राधा में रूपगुणगत कोई प्रभेद नहीं है; सुतरां वे सदा अभिन्न और एकमूर्ति हैं। शक्ति ही जीव और जगत् का कारण है, सुतरां जीव और जगत् कार्य हैं। कार्य कारण में लय हो जायेगा, फिर कारण ब्रह्म में विलीन होता है। इसी कारण ज्ञानवादी सन्न्यासियों का अद्वैत तत्त्व ही चरम लक्ष्य है। वे जीव-जगत् से गरज नहीं रखते। किन्तु भक्तगण लीलारस-आस्वादन में लुब्ध रहते हैं, अतः लीला अर्थात् जीव और जगत् को अग्राह्य नहीं कर पाते; इसी कारण भेदभाव की भी रक्षा करनी पड़ती है। किन्तु तदीय शक्ति या शक्ति का कार्य जीवजगत् भिन्नवत् प्रतीयमान होने पर भी वस्तुतः उनसे अभिन्न है। परन्तु यह अभेद जैसे अचिन्त्य है, उसी तरह भेद-प्रतीति भी अचिन्तनीय है; अन्यान्य दर्शनों से वैष्णव-दर्शन की यही विशेषता है। पक्षपाती भक्त यह कारण और उद्देश्य न समझकर अन्यान्य वैदान्तिक मतों की निन्दा कर अपने-अपने

मतों का प्राधान्य प्रतिपन्न करते हैं। अपने-अपने लक्ष्यों को स्पष्टरूप से प्रकट करना ही विचार-शास्त्र का उद्देश्य है। सुतरां उस उद्देश्य को लेकर सम्प्रदायभेद से वेदान्तों के भाष्य और टीका रचित होती हैं। तभी, भक्त-वैदान्तिक कहते हैं, भगवान् से तदीय शक्ति की भेद-कल्पना भी जिस प्रकार हमारे समर्थ्यातीत हैं, अभेद-कल्पना भी उसी प्रकार हमारे सामर्थ्यातीत हैं। अथवा भेदाभेदवाद अवश्य ही स्वीकार्य है। शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न होने पर भी वह भेद अचिन्त्य है, वह अभेद भी अचिन्त्य है। अर्थात् स्पष्टरूप से उसकी विकल्पना असम्भव है—वह चिन्तन का आयत्त नहीं है, इसी कारण वह भेदाभेद अचिन्त्य है।

गौराङ्गदेव अभेदतत्त्व और राधाकृष्ण भेदतत्त्व हैं; साधना में गौराङ्गत्व प्राप्त कर राधाकृष्ण के असमोर्ध्व लीला-रसमाधुर्य का आस्वादन करना ही प्रेमिक भक्त का चरम लक्ष्य होता है। यही सुनिश्चित साध्यावधि है। तभी तो वैष्णवसम्प्रदाय ने अचिन्त्यभेदा-भेद मत ही वेदान्त से ग्रहण किया है। सुतरां उनके मत से साधना में अद्वैततत्त्व अर्थात् गौराङ्गत्व को प्राप्त कर भेदतत्त्व का अर्थात् राधाकृष्ण के लीलामाधुर्य का आस्वादन करना ही परमपुरुषार्थ है। किस प्रकार गौराङ्गत्व अर्थात् प्रेममय-स्वभाव को प्राप्त कर राधाकृष्ण के लीलारस आस्वादनपूर्वक पूर्णानन्द का अधिकारी हुआ जाय, परवर्ती प्रबन्ध में वही वर्णित हो रहा है।

रसतत्त्व और साध्य-साधन

राधाकृष्ण ही रसतत्त्व हैं—सुतरां जीवों के ये ही साध्य हैं; जिस साधना का अवलम्बन कर राधाकृष्ण की रस-रति का ज्ञान होता है, वही साध्य-साधन है।

रस की पिपासा जीव के प्राणोंप्राण में है। केवल जीव क्यों, कुसुम खिलकर रूप-रसों से फट पड़ते हैं; वृक्ष के नवीन श्याम-पत्रकुञ्ज में रूप और रस है। पृथ्वीमय रूप और रस की विचित्र लीला है। स्वर्ग, मर्त्य इन्हीं रूप और रसों के अच्छेद्य बन्धनों से बँधे हैं। कोयल का सुर इस रूप और रस का पञ्चम है, शिशिर रूप-रस का अश्रु है, मलयानिल उस रूप-रस का स्निग्धश्वास है, नैशगगन में दिगन्तव्यापी संगीतमय माधुर्य उसी रूप और रस की जीवन्त मर्त्यलीला है। रूप शक्तिक्रीड़ा—रस सुख का नामान्तर है। इसी कारण तत्त्वविदों का विश्लेषण—धार्मिकों के प्राणों का अनुसन्धान उसी शक्ति और रस की ओर है। क्योंकि, ब्रह्म ही रस-स्वरूप हैं। यथा—

रसो वै सः।—श्रुति

रस हैं वे। वे कौन ? ऋषिगण कहते हैं,—"यतो बाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"* जो वाणी और मन के अगोचर हैं, वे ब्रह्म हैं; ब्रह्म ही आनन्दामृतरूप रस हैं। इसी रस के आस्वादनार्थ भगवान् का सृष्टिकार्य है;—जीव वासनाविदग्ध होकर, उसी रस का पिपासु

---

* तैत्तिरीयोपनिषद्, २/४/१

होकर—भंटककर मर रहा है। गोपीभाव की साधना में उसी रस-रति का ज्ञान होता है,—हृदय में वह प्रकाशित होता है। भगवान् की जो रसप्राप्तिकामना है, वही रस पूर्णरूप से राधा में विराजित है; सुतरां रस का विकास राधातत्त्व में है। राधा के साथ श्रीकृष्ण की जो व्रजलीला है; वही रस का आश्रय या **रस-साधना** है।

राधा और कृष्ण एक ही आत्मा हैं; जीव को रसतत्त्व का आस्वादन कराने के लिए व्रजधाम में उभयों ने देहधारण किया था। वही राधाकृष्ण आत्मस्वरूप में अर्थात् आत्मरूप में प्रेत्येक जीव-हृदय में अधिष्ठित हैं। इसलिए जीव उसी आनन्द या सुख के अन्वेषण में जलभ्रान्त मृग की मरीचिका की ओर दौड़ लगाने के समान इस संसार-मरु-भूखण्ड पर इतनी व्यर्थ की दौड़धूप किया करता है। किन्तु अपूर्ण जगत् में पूर्ण सुख की आशा करनी विडम्बना मात्र है। मायामुग्ध जीव जान नहीं पाता है कि, पूर्णानन्द—पूर्ण सुख उसकी आत्मा में ही अवस्थित है। मृग जिस प्रकार अपनी नाभिस्थित कस्तूरी की गन्ध से उद्भ्रान्त होकर वन में व्याकुल होकर दौड़ता फिरता है, तद्रूप जीव भी आनन्द की अनुभूति से पार्थिव विषयों से प्रभावित होकर भटक रहा है। जन्मजन्मान्तरों की सुकृतिवशतः एवं साधुशास्त्रों की कृपा से जीव जब जान पाता है कि, उसका चिर आकाङ्क्षित पदार्थ उसकी आत्मा में ही अवस्थित है, तब विषयवैराग्य उपस्थित हो जाता है,—वह उस समय आत्मानुसन्धान में नियुक्त होता है। अनन्तर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर, आत्मा में राधाकृष्णतत्त्व का विकास कर पाने से ही पूर्ण रस

और आनन्द का अधिकारी हुआ जाता है। वह साधनासापेक्ष है। जगत् में अतिसामान्य एक तत्त्व के अनुसन्धान में जीवनव्यापी अध्यवसाय का प्रयोजन होता है। किन्तु भारत के स्वर्णयुग में देवकल्प ऋषिलोगों ने योगरूपी सुमहान् पर्वतशृङ्ग पर आरोहणपूर्वक ज्ञान की दीप्तवह्नि प्रज्वालित कर जिस तत्त्व का सन्धान पाया था, उनके कथित शास्त्रों के आश्रय लेकर, हम अभी भी उस तत्त्व का अनुसन्धान प्राप्त करते हैं। किन्तु वह भी किञ्चित् साधनासापेक्ष है,—वह साधना किस प्रकार की जाती है, किस प्रकार से शक्तिमान् की शक्ति को सहज ही आयत्त किया जाता है, किस प्रकार प्रकृति की वासना-बाहु के बन्धन से मुक्ति पायी जाती है,—और किस प्रकार रस के तत्त्वों से सम्यक् अवगत होकर रस के भाण्ड से निःसृत दरधारा से ज्वलितकण्ठ जीव के प्राण सुशीतल होते हैं,—उसके साधना-तत्त्व युगावतार महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव और उनके भक्तगण द्वारा प्रचारित हुए थे।

जब तक जीव आत्मतत्त्व को भूलकर प्राकृत-विषयभोगों में आसक्त रहता है, माया के सम्मोहनमन्त्र से भूलकर भव के बाजार में दौड़ता फिरता है, तब तक उसकी बद्धावस्था रहती है,—सुतरां उसे बद्धजीव कहा जा सकता है। तत्पश्चात् भगवान् की कृपा से आत्मतत्त्व परिज्ञात होकर जीव रसानुसन्धान में नियुक्त होता है। प्रथमतः मायामुक्त होने के लिए चेष्टा कर, अन्तिम रस की संप्राप्ति तक जीव की जो साधना है, उसी अवस्था में साधकगण हिन्दु-ऋषिगणकर्तृक—

शाक्त और वैष्णव

इन दो नामों से अभिहित हुए हैं। किन्तु हमारे देश में शाक्त और वैष्णव में बहुत दिनों तक विवाद-विसंवाद, द्वन्द्व-कोलाहल हुए हैं और हो रहे हैं। उभय वादी ही अपने-अपने मतों के प्राधान्य संस्थापन के लिए बहु युक्ति-प्रमाण दिखा चुके हैं। शाक्तगण कहते हैं, ''शक्तिज्ञानं विना देवि मुक्तिर्हास्याय कल्पते'' अर्थात् शक्तिज्ञान भिन्न मुक्ति की आशा हास्यजनक और वृथा है। फिर वैष्णवगण शास्त्रप्रमाणद्वारा दिखलाएँगे कि, वैष्णव ही एकमात्र मुक्ति के अधिकारी हैं। पृथ्वी के नाना देश, नाना सम्प्रदाय अपने-अपने धर्मभाव में विभोर हैं, दुःख का विषय है, कि उनके वैष्णव या शाक्त न होने पर वे मुक्तिलाभ नहीं कर सकेंगे—लगता है, निरपेक्ष व्यक्तिमात्र अगर इन साम्प्रदायिक अन्धविश्वासियों की ऐसी प्रलापोक्ति सुनें, तो हास्य संवरण नहीं कर सकेंगे। परिधि के सभी स्थानों से ही वृत्त का केन्द्र समदूरवर्ती होता है—जितने मत, उतने पथ—प्रत्येक व्यासार्ध समान है, परिधि या व्यासार्धस्थित व्यक्ति यह किस प्रकार जान सकेगा ? इसीलिए तो जगत् में धर्मसम्प्रदायों में परस्पर विद्वेष-कोलाहल है। अन्यथा प्रकृत साधु के निकट कोई हिंसाद्वेष नहीं है; वे जानते हैं, जिस किसी मत की चरम साधना से सभी एक ही लक्ष्य पर उपस्थित होंगे। सुतरां वैयाकरणिक-अर्थानुसार शाक्त या वैष्णव शक्ति-उपासक या विष्णु-उपासक हो सकता है, किन्तु प्रकृत मर्म वह नहीं है; वे सब धर्म के साधन-पथ के ही स्तरविभाग मात्र हैं। जीव जितने दिन माया के अधीन रहता है,—रूप, रस, गन्ध,

शब्द, स्पर्श से मोहित रहता है—वासना-कामना का दास हुआ रहता है, उतने दिन वह बद्ध रहता है। वही बद्धजीव साधु-शास्त्रों की कृपा से उद्‌बुद्ध होकर जब प्रकृति के बाहुमुक्त होने के लिए साधना करता है, तब वह **शाक्त** है; और जब मायामुक्त होकर आत्मा के असमोर्ध्व प्रेमरसमाधुर्य का आस्वादन करता है, तब वह **वैष्णव** है। अतएव साधक, शक्ति या विष्णु—जिनके भी उपासक क्यों न हों, साधना के स्तरभेद से शाक्त-वैष्णव नाम से अभिहित होंगे। इस प्रकार जिस मन्त्र से भी उपासना क्यों न की जाय, जीव जिस किसी सम्प्रदायभुक्त क्यों न हो, साधना के स्तरभेद से—शाक्तादि नामों से अभिहित होता है। शिव के दृष्टान्त से हम इस विषय को परिस्फुट करने की चेष्टा करेंगे।

शिव दाक्षायणी से विवाह कर जब पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब वे बद्धजीव मात्र थे। तत्पश्चात् जब दक्षयज्ञ उपस्थित हुआ, शिव तब सती को बिना निमन्त्रण के पित्रालय जाना निषेध किया; किन्तु सती ने शिववाक्य को ग्राह्य न कर दक्षालय जाकर प्राणत्याग किया। तब शिव समझें,—प्रकृति तो उनकी वशीभूता नहीं हैं, कर्तव्य उपस्थित होने पर वे अपने सारे सम्बन्ध छिन्न कर सकते हैं। तब वे शक्ति को प्रकृत पहचान सके—शक्तिज्ञान हुआ,—तत्क्षणात् वे महायोग में बैठ गये। शिव शाक्त हुए। इधर दाक्षायणी हिमालय के गृह में गौरीरूप में जन्मग्रहण कर शिव को पतिरूप में पाने के लिए उनकी सेवा करने लगीं। शिव ने भ्रूक्षेप भी नहीं किया। जिन्होंने एक दिन सती की मृतदेह कन्धे पर लेकर त्रिलोक भ्रमण किया था, उन्होंने ही आज वही सती—उसी खोयी हुई सम्पत्ति के पुनः प्राप्त

होने पर भी उनकी ओर दृकपात् नहीं किया। तब गौरी ने देवगणों की सहायता से मदनद्वारा शिव के ध्यानभङ्ग की चेष्टा की; किन्तु शिव के कटाक्ष से मदन मुहूर्त में भस्म हो गया। शिव शक्ति के पत्नीरूप में दासी के समान ग्रहण कर ब्रह्मरसानन्द में निमग्न हो गये। इतने दिनों बाद शिव वैष्णव हुए। इसीलिए महादेव परमवैष्णव के रूप में कीर्तित हैं। शाक्त माया को वशीभूत करने का साधना कर रहे हैं, और वैष्णव ने शक्ति जय की है; वैष्णव के निकट प्रकृति मायाजाल का विस्तार नहीं करतीं, वरन् लज्जावनतमुखी हो पलायन करती हैं। शाक्त जब माया को साधना द्वारा वशीभूत करते हैं किंवा उनकी कृपा प्राप्त करते हैं, काम को वशीभूत करते हैं, तब वैष्णव-पदवाच्य होते हैं। इसी कारण रामप्रसाद, रामकृष्ण शक्तिसाधक होकर भी परम वैष्णव थे। और जो सारे बिष्णु-उपासक विषय-विष-विदग्धचित्त से संसार-प्रलोभन में डुबकी लगा रहे हैं, वे शाक्ताधम हैं। जिस व्यक्ति ने—अनलबाहु प्रकृति के हाथ से निष्कृतिलाभ किया है, वह शक्ति-उपासक होकर भी वैष्णव है। शक्ति-उपासक किंवा किसी स्त्री-देवता का उपासक यदि शाक्त होता, तो राधा-उपासक परम भागवत शुकदेव गोस्वामी भी शाक्त हैं; किन्तु सभी उन्हें परम वैष्णव के रूप में जानते हैं। इस हेतुवाद से रामप्रसाद भी परम वैष्णव हैं। रामप्रसाद ने जिस दिन गाया,—

भवे रे सब मागीर खेला।
मागीर आप्तभावे गुप्त लीला।
सगुणे निर्गुणे बाधिये विवाद, ढेला दिये भाङ्छे ढेला।
(से जे) सकल काजे समान राजी नाराज हय से काजेर बेला॥

तब समझा रामप्रसाद शाक्त हैं, वे माया को जान चुके हैं; और माया उन्हें बाँध नहीं सकेगी। उसके बाद सुना—

से जे भावेर विषय भाव व्यतीत अभावे कि धर्ते पारे।

तब रामप्रसाद के वैष्णव होने का सन्देह हुआ। उसके बाद—

षड़दर्शने दर्शन मिले ना आगम-निगम-तन्त्रसारे।
भक्तिरसेर रसिक से जे सदानन्दे विराज करे॥

तब और सन्देह मात्र नहीं रह गया,—हम रामप्रसाद को वैष्णव जान सके। जिस किसी देवता का उपासक क्यों न हो, यहाँ तक कि मुसलमान, ईसाई आदि को भी शाक्त या वैष्णव कहा जा सकता है। अतएव केवल विष्णु-उपासक ही वैष्णव नहीं—पृथ्वी की जो भी कोई जाति क्यों न हो, जो साधना के उच्चस्तर पर अधिरोहण कर माया के बन्धन—आकर्षण की आकुलता विनाशपूर्वक ब्रह्मरसानन्द में डूब गये हैं, हम उन्हें उच्चकण्ठ से "वैष्णव" कहकर घोषणा करेंगे। और वासनाविदग्ध जीव के कौपीनकन्थाधारी होने पर भी उन्हें शाक्ताधम किंवा बद्धजीव कहने में द्विधा बोध नहीं करेंगे। सुतरां सभी जान रखें कि, शाक्त नहीं होने पर किसी को भी वैष्णव होने का अधिकार नहीं है।

पाठक ! अपना-अपना साम्प्रदायिक अन्धविश्वास भूलकर एकबार समाहित चित्त से चिन्तन करो देखें, ऐसा होने पर ही उपरोक्त वाक्य की सत्यता की उपलब्धि कर सकोगे। तुम क्या सोचते हो कि, चोर, बदमाश, लम्पटलोग भी शक्ति या विष्णुमन्त्र की दीक्षा ग्रहण करते ही मुक्त हो जायेंगे ? किन्तु थोड़ा सोचते ही तुमलोगों की बात की

असारता को समझ सकोगे। और शाक्त या वैष्णव शब्दों से उपरोक्त अर्थ का ग्रहण करो, सारे विवाद मिट जायेंगे—शास्त्रवाक्यों की मर्यादा की रक्षा होगी। वास्तविक वैष्णव ही मुक्ति के अधिकारी हैं,—वैष्णव भिन्न अन्य कोई मुक्तिलाभ नहीं कर सकता। किन्तु विष्णु-उपासक के अर्थ में वैष्णव शब्द के ग्रहण करने पर, उस प्रलापोक्ति से कौन मुक्ति पायेगा किंवा कौन व्यक्ति उसमें अनुरक्ति प्रकट करेगा ? और शक्ति को जो जानकर—उनका बाहुमुक्त होकर भगवान् के प्रेममाधुर्य में डूब गये हैं, वे ही वैष्णव हैं। जो कोई जाति—जो कोई सम्प्रदायभुक्त क्यों न हो, एवम्भूत वैष्णव ही मुक्ति के अधिकारी हैं,—हम भी उसी वैष्णव के पदरजभिखारी हैं।

अतएव रसतत्त्व और साध्य-साधना के प्रथमांश के अधिकारी शाक्त एवं उत्तरांश के अधिकारी वैष्णव-पदवाच्य हैं। अर्थात् इस तत्त्व के साधक को ही शाक्त एवं सिद्ध को वैष्णव कहा जा सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं, आत्मस्थ होकर, आत्मा में राधाकृष्ण तत्त्व का विकास करना ही रसतत्त्व एवं उसकी साधना ही साध्य-साधना है। गुणमयी मायाने, इन्द्रियपथ से जीव को आकर्षित कर विषयानुरक्त कर रखा है। विषयानुराग काम से उत्पन्न होता है,* सुतरां काम ही जीव के ज्ञान को—आत्मस्वरूप को आच्छन्न कर रखा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २/६२

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ३/३९

—जिस प्रकार अग्नि धूमद्वारा, दर्पण मलद्वारा, गर्भ जरायुद्वारा आवृत होते हैं, उसी प्रकार है कौन्तेय! ज्ञानी का चिरशत्रु इस कामरूप अपूरणीय अग्निद्वारा ज्ञान आच्छन्न रहता है।

सुतरां काम दमन करते ही अर्थात् काम के नष्ट होने पर आत्मस्वरूप प्रकाशित होता है, तब आनन्दलाभ होता है। काम का दमन करना ही साध्य-प्रेमरस की साधना है। सर्वापेक्षा काम का आकर्षण कहाँ है? इस प्रश्न के उत्तर में अवश्य ही सभी बोलेंगे, कामिनी में। शास्त्रकारगणों ने भी यही कहा है—

स्त्रीसङ्गाज्जायते पुंसां सुतागारादिसङ्गमः।
यथा बीजाङ्कुराद् वृक्षो जायते फलपत्रवान्
—पुराणवचन

बीज के अङ्कुर से फल-पत्रादियुक्त वृक्ष के समान, संसार में कामिनीसङ्ग से पुत्र, गृह प्रभृति समस्त विषयों में पुरुषों की आसक्ति जन्मती है;* कारण रमणी प्रकृति की कठिन शृङ्खल है,—माया की मोहिनी शक्ति है। इसी रमणी को आत्मशक्ति में मिला सके, तो वह शक्ति आत्मभूता हो जाती है,—तब जीव सम्पूर्ण हो जाता है।

* क्यों जन्मती है अर्थात् स्त्री-पुरुष की सम्मिलन-इच्छा और उद्देश्य, विन्दुजय, प्रकृति के आकर्षण की आकुलता को नष्ट करने के उपाय प्रभृतियाँ जटिल विषय सकल मत्प्रणीत "ज्ञानी गुरु" ग्रन्थ में विस्तृत आलोचित हुए हैं, अतः यहाँ पुनरुल्लिखित नहीं हुए।

आनन्दानुभूता वासना रमणी में वर्तमान है,—उस वासना के निवृत्त्यर्थ ही तन्त्र के पञ्च म-कार की साधना या कुलाचारपद्धति एवं चण्डीदासादि की रस-साधना है। वर्तमान ग्रन्थकारप्रणीत "तान्त्रिकगुरु" नामधेय ग्रन्थ में पञ्च म-कार की साधना या कुलाचार-पद्धति वर्णित हुई है। अतएव रस-साधना ही इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रेमरसलुब्ध साधक प्रथमतः रागवर्त्मोद्देशी प्रेमिकगुरु की कृपालाभ करते हुए उनसे रसतत्त्व या राधाकृष्ण का युगलमन्त्र कामबीज (क्लीं) और कामगायत्री† का आगमोक्त विधान से ग्रहण करेगा। कारण, कलियुग में तन्त्रशास्त्र के मतानुसार दीक्षा और साधनाकार्य सम्पन्न करने की विधि है। यथा—

आगमोक्तविधानेन कलौ मन्त्रं जपेत् सुधीः।
न हि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥

—तन्त्रसार

—सुबुद्धिजन कलि में तन्त्रविधान से मन्त्र जप करेंगे, कारण इस युग में अन्य विधान से देवतागण प्रसन्न नहीं होते।

यही कामबीज और कामगायत्री आगमसम्मत राधाकृष्ण के युगलमन्त्र हैं। रसमाधुर्यलिप्सु साधकगण ही उक्त मन्त्र के अधिकारी हैं। समष्टि आनन्द या पूर्णानन्द का मूलीभूत बीज ही काममन्त्र है। सुतरां कामबीज और कामगायत्री ही व्रजभाव में माधुर्यरस-साधना के महामन्त्र हैं। इन मन्त्रों से प्राकृत काम का ध्वंस और पूर्णानन्द प्राप्त होता है। यथा—

---

† कामदेवाय विद्महे, पुष्पवाणाय धीमहि, तन्नोऽङ्गः प्रचोदयात्।

कामबीज सह मन्त्र गायत्री भजिले।
राधाकृष्ण लभे गिया श्रीरासमण्डले॥

—भजन-निर्णय

कामबीज के साधक स्वयं श्रीकृष्ण हैं और साध्य श्रीमती राधिका हैं। इसलिए श्रीराधा इसके विषय हैं और श्रीकृष्ण आश्रय हैं। सुतरां राधाकृष्ण ही कामबीज है और गायत्री सखियाँ हैं। यथा—

कामबीज राधाकृष्ण गायत्री से सखी।
अतएव गायत्रीबीज पुराणेते लिखि॥

—भजन-निर्णय

कामबीज और कामगायत्री प्रदान कर श्रीगुरु माधुर्यतत्त्वलिप्सु भक्त के सम्मुख रसमार्गद्वार को उद्घाटित कर देते हैं। मञ्जरी सखी प्रभृति भजनाङ्ग का निर्णय कर श्रीगुरु भक्त को व्रज की निगूढ़ साधना में नियुक्त करते हैं। उस समय साधक अन्तश्चिन्तिताभीष्टदेह से अन्तर्मुखी इन्द्रियवृत्तिसमूह द्वारा सिद्धरूप व्रजलोक में—श्रीरूपमञ्जरी प्रभृति के समान श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा करते हैं। नित्यवृन्दावन ही सिद्ध व्रजलोक है। नित्यवृन्दावन कैसा है ?—

सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्॥
कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
प्रोज्ज्वलप्रभया युक्तं कामबीजसमन्वितम्॥
षड़ङ्गषट्पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च।
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत्॥

ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम्।
तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि॥

—ब्रह्मसंहिता ५/२-४

भगवान् श्रीकृष्ण का जो महद्धाम है, उसका नाम है गोकुल। यह सहस्रदलविशिष्ट कमल के समान है। इस कमल की कर्णिका में—अनन्तदेव का अंशसम्भूत जो स्थान है—वही है गोकुलाख्य। यही गोकुलरूप कमलकर्णिका एक षट्कोणविशिष्ट महद् यन्त्र है। यह वज्रकीलक अर्थात् प्रोज्ज्वल हीरककीलक के समान उज्ज्वलप्रभाविशिष्ट एवं कामबीजसमन्वित है। इसके षट्कोण में षट्पदी महामन्त्र (कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा) वेष्टित है। इस कर्णिका के ऊपर ही प्रकृति-पुरुष अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण नित्य रस-रास-विहार करते हैं। यह चित्धाम—यह रस-रासमण्डल पूर्णतम सुखरस में अवस्थित एवं ज्योतिःस्वरूप और कामबीज महामन्त्र में सम्मिलित है। इस कमल के अष्टदल में अष्टसखी एवं किञ्जल्क और केशरसमूह में असंख्य गोपियाँ विराजिता हैं; इसी स्थल पर रसिकशेखर पूर्णतम रस-रासविहारी श्रीकृष्ण स्वकीया पूर्णतमा ह्लादिनीशक्ति राधिकासह नित्य-लीला कर रहे हैं।

इस अप्राकृत वृन्दावन में अप्राकृत-मदन श्रीकृष्ण की कामबीज और कामगायत्री के द्वारा उपासना करनी चाहिए। यथा—

वृन्दावने अप्राकृत नवीन मदन।
कामबीज कामगायत्री जाँर उपासन॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

श्रीवृन्दावन का ये अभिनव कन्दर्प, निखिल कन्दर्पों के निदान हैं अर्थात् सकल काम ही इस काम के द्वारा सृष्टि, स्थिति और विलय को प्राप्त हुआ करते हैं। इस अप्राकृत काम के द्वारा ही मादनीशक्ति श्रीराधा के साथ आनन्दमय प्रेमलीला-विलास संघटित होता है। ये साक्षान्मन्मथ-मन्मथ हैं, अर्थात् प्राकृत मन्मथ या मदन के भी मदन हैं। सखीभाव से इन राधाकृष्ण का सेवाधिकारलाभ ही साध्य-साधना है। जिस हेतु—

सखी बिनु एइ लीलाय नाहि अन्येर गति।
सखीभावे ताँरे जेइ करे अनुगति॥
राधाकृष्ण कुञ्जसेवा साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

सखीभाव से कुञ्जसेवाधिकार प्राप्त होता है,—सखियों से ही श्रीराधाकृष्ण की गूढ़लीला प्रकाशित और युगलसेवा का अधिकार है। अतएव श्रीगुरु के आज्ञानुसार इन सकल सखियों में जिस किसी एक का स्थान पूरण कर अर्थात् स्वयं को उनका स्वरूप समझ कर—उनके समान होकर राधामाधव की नित्यसेवा करनी चाहिए। सखियों का राधाकृष्ण का सेवानन्द ही एकमात्र सुख है।

व्रजलीला की पूर्वावधि यही उज्ज्वलरसात्मक प्रेम के विषय श्रीकृष्ण एवं आश्रय श्रीराधा थीं,—जीव में उनकी अनुभूति थी। यह रसास्वाद जीव को प्रदान करने के लिए उनकी प्रकटलीला है। जीव का गोपीभाव-ग्रहण कर, राधाकृष्ण का मिलनात्मक आनन्दानुभव

करना ही विधेय है। यह श्रीकृष्ण और श्रीराधा का मिलनानन्द ही कहो, और तान्त्रिकों के लिए हर-गौरी का मिलनसुख ही कहो,—सब परमात्मा और जीवात्मा का ही मिलन है। फिर भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम, ये प्रभेद हैं। प्रकृति की अतीत श्रीराधाकृष्ण की प्रेममयी शृङ्गारलीला अपरिच्छिन्न और नित्य है; और प्राकृत रतिकन्दर्प की कलुषमयी कामक्रीड़ा परिच्छिन्न और अनित्य है। यही प्राकृताप्राकृत उभयलीला प्रत्येक प्रापञ्चिक नर-नारी के बाह्यान्तर में वर्तमान रहने पर भी वे अप्राकृत नित्यलीला की उपलब्धि नहीं कर पा रहे हैं—प्राकृत अनित्यलीला में ही तन्मय हैं। जिस प्रकार व्रज की गोपियाँ महामन्मथ श्रीकृष्ण की नित्य-शृङ्गार-लीला में तन्मय रहकर प्राकृत कन्दर्प की अनित्य कामलीला को विस्मृत हुई हैं, उसी प्रकार प्राकृत नर-नारियाँ भी अनित्य कामक्रीड़ा में अभिनिविष्ट होकर नित्य-शृङ्गार-लीला भूली हुई हैं। यदि इस समुदाय के प्राकृत कामक्रीड़ापरायण नरनारीगण साधुशास्त्रमुख से राधाकृष्ण की रासादि शृङ्गार-लीला का श्रवण कर तदनुसन्धान में सविशेष यत्नवान् हों, तो श्रीराधाकृष्ण के प्रसाद से गोप्यनुगतिमयी भक्तिलाभ कर अनायास ही प्राकृत कन्दर्पक्रीड़ा के हाथ से मुक्तिलाभ कर सकते हैं एवं परिणाम में गोपीदेह के अधिकारी होकर, श्रीकृष्ण में रासादि अनन्त शृङ्गार-लीला को प्राप्त हुआ करते हैं।

अरएव साधक सखीभाव से अपने हृदय-वृन्दावन में श्रीराधाकृष्ण की कुञ्ज-सेवा करेगा। मनोमय देह में आश्रित नित्यसखी के समान उनका चरणसेवन, चामरव्यजन, माल्यग्रन्थन, शय्यारचना एवं

शृङ्गाररसात्मक मिलनादि करेगा। सर्वदा सेवा-परिचर्या करना होगा। प्रतिदिन, मास, तिथ्यनुसार व्रजलीला के अनुकरण से लीलादि सम्पन्न करेगा। यह केवल मनद्वारा ध्येय नहीं है, मनश्चेष्टा और इन्द्रियचेष्टा यह उभयविधा गोप्यनुगतिमयी भक्तिद्वारा सेव्य है। इसी कारण गुरुकृपाप्राप्त भक्त, गोपीजनोचित भाव और इन्द्रियचेष्टा द्वारा राधाकृष्ण की युगलसेवा करेगा। इस प्रकार साधना से क्रमशः साधक की मनोमय सिद्धदेह परिपुष्ट हुआ करती है।

अन्तश्चिन्तिताभीष्ट तत्साक्षात्सेवोपयोगी देह अर्थात् स्वाभीष्ट गोपीमूर्ति के निरन्तर परिचिन्तन से साधक के हृदय में तत्स्वरूप जिस चिन्तामयी मूर्ति का उदय होता है, वही सिद्धगोपीदेह है। इस सिद्धदेह का सञ्चार न होने से भक्त राधाकृष्ण के साक्षात्कारलाभ में समर्थ नहीं होता है, उनकी साक्षात्सेवा का भी अधिकारी नहीं होता है। अतएव भक्त को प्रथमतः सिद्धदेह प्राप्त के लिए ही चेष्टा करनी होगी। सुतरां बाह्यासक्ति का परित्याग कर नित्यव्रजलोक में— श्रीरूपमञ्जरी प्रभृति नित्यसखी के समान साक्षात् श्रीवृन्दावनस्थ फल-पुष्प-पत्र-शय्यासनादि द्वारा राधाकृष्ण की सेवा करेगा।

प्रथमतः गोपीभावलिप्सु भक्त मन ही मन गोपीमूर्ति की कल्पना कर नियत उनके ही अनुध्यान में कालातिपात करेंगे, सर्वदा उनकी साक्षात् कृपाप्रार्थना करेंगे। भक्त का इष्टचिन्तन बलशाली होने पर स्वाभीष्ट गोपीमूर्ति की स्फूर्ति होगी। उनके अतुलनीय रूपमाधुरी के दर्शन से साधक आत्महारा होंगे। स्वतः ही ग्रहाविष्ट के समान उनके मूर्तिचिन्तन में सर्वदा तन्मय रहेंगे। इस गोपीमूर्ति के नियत

अनुध्यान से साधक के हृदय में अभिनव मूर्ति का सञ्चार होगा, सिद्धगोपीदेह का उदय होगा। यह प्रत्यक्ष विज्ञानसम्मत है। कारण—

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेशाद् भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥

—श्रीमद्भागवत ११/९/२२-२३

—जिस प्रकार गह्वर में तैलपायिका (तेलचट्टा) पेशस्कृत नामक भ्रमर (कँाचकीड़ा या कुमारिका कीड़ा)-विशेष के निरन्तर परिचिन्तन से पूर्वरूप (पूर्वदेह) परित्याग न कर तत्सारूप्य प्राप्त होता है, तद्रूप स्नेह, द्वेष, भय या अनुरागवशतः जो व्यक्ति जिस विषय का चिन्तन करता है, वह अचिरकाल में ही पूर्वदेह का परित्याग न कर तदीय ध्येयस्वरूप को प्राप्त करता है।

इस कारण गुणमय साधक अनुरागवश उसी गोपीस्वरूप का चिन्तन कर स्वकीय हृदय में भगवत्सेवोपयोगी गोपीस्वरूप प्राप्त होते हैं। यह अन्तश्चिन्तित गोपीदेह ही सिद्धदेह है। हृदय में इसके सञ्चारित होने पर, साधक अभीष्ट गोपी को फिर स्वयं से पृथक् नहीं समझते; स्वकीय आत्मस्वरूप तदनुगत तत्बिम्बस्वरूप में प्रतीयमान होता है। उसी गापीदेह में आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। इस समय गोपी के प्रेममय स्वभाव में साधक का गुणमय प्राकृत स्वभाव लय हो जाता है। तब भक्त की उद्दीपना का विभाव

होता है,—भक्त राधाकृष्णानन्द का अनुभव कर सकता है, उनकी शृङ्गारात्मक रासक्रीड़ा में भक्त को उनकी अपेक्षा कोटिगुणा सुख मिलता है; अर्थात् भक्त पूर्णसुख का अनुभव कर सकता है। उसी से भक्त श्रीगौराङ्गदेव के समान कभी श्रीकृष्णरूप में राधा के भाव में विभोर होकर राधा-प्रकृति का अवलम्बन और राधा के स्वरूप का आचरण करते हैं, तो कभी-कभी श्रीराधिकारूप में कृष्ण के स्वरूप आचरण करके लीलानन्दसुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् भक्तों में कभी अन्तःकृष्ण बहिःराधा; तो फिर कभी अन्तःराधा, बहिःकृष्ण—इस प्रकार के भाव का उदय होने के कारण, वे उभय का ही प्रेम-रसास्वादन कर पूर्णानन्द को प्राप्त होते हैं।

तदनन्तर प्रारब्धकर्मक्षय से साधक प्राकृत गुणमय देह का परित्यागपूर्वक मनोमय सूक्ष्मदेह में, अर्थात् सिद्ध गोपीदेह में नित्यवृन्दावन में राधाकृष्ण की प्रेमसेवोत्तरा गति को प्राप्त कर, उनके असमोर्ध्व लीलारस-माधुर्य में अनन्तकाल के लिए निमग्न हो जाया करते हैं।

सहज-साधन रहस्य

हमने रसतत्त्व और साध्य-साधन की जैसी प्रणाली विवृत की, वह प्रकृत वैष्णव (शक्तिजयी अर्थात् मायामुक्त) के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के साध्यायत्त नहीं है। बाह्यविषय में अनुराग रहने पर अन्तश्चिन्तिताभीष्ट देह की स्फूर्ति नहीं होती,—बाह्यविषय में चित्त

विक्षिप्त होने के कारण स्वाभीष्ट गोपीमूर्ति के निरन्तर परिचिन्तन में बाधा पड़ती है; अतः नित्यसिद्ध व्रजलोक में श्रीरूपमञ्जरी प्रभृति सखियों की तरह साक्षात् राधाकृष्णसेवा कदापि सम्भव नहीं है। फिर अन्य किसी साधनभक्ति के सहारे प्रेममय-स्वभावप्राप्ति का उपाय नहीं है; तद्द्वारा सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्तिलाभ करके ऐश्वर्यसुखोत्तरागति की प्राप्ति होती है, किन्तु सखियों के समान प्रेमसेवोत्तरागति की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतएव शृङ्गाररसात्मक गोपीभावलिप्सु साधक की गोप्यनुगतिमयी भक्ति के अतिरिक्त अन्य उपायों से अभीष्टसिद्धि नहीं होगी। यथा—

कर्म तप योग ज्ञान, विधि-भक्ति जप ध्यान,
इहा हैते माधुर्य दुर्लभ।
केवल जे रागमार्गे, भजे कृष्णे अनुरागे,
तारे कृष्णमाधुर्य सुलभ॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

तब उसका उपाय क्या है ? —शास्त्रकारों ने उसका उपाय कर दिया है। रामानन्द, चण्डीदास प्रभृति रसिक भक्तों की साधना ही उनके लिए अनुकरणीय है। मैंने पहले ही कहा है, काम से ही जीव को बहिर्विषयों में अनुराग होता है; उस काम का आकर्षण सर्वापेक्षा कामिनी में अधिक होता है। यद्यपि शास्त्रों ने कहा है,—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्, ५/१०

—आत्मा स्त्री, पुरुष किंवा नपुंसक नहीं हैं। जब जैसा शरीर आश्रय करती हैं, तदनुसार स्त्री या पुरुषरूप में उल्लिखित होती हैं।

वास्तविक स्त्री और पुरुष एक चैतन्य का ही विकास है; आधारभेद से—गुणभेद से विभिन्न मात्र है। तब परस्पर के प्रति ऐसा प्रवल आकर्षण क्यों है ?* नर और नारी की आत्मा एक होने पर भी नर में चित्शक्ति एवं नारी में आनन्दशक्ति के विकासाधिक्यवशतः नर—नारी के प्रति, नारी—नर के प्रति स्वभाव के द्वारा आकृष्ट होते हैं। उद्देश्य यह है कि, उभय ही आत्मसम्मिश्रण कर अपना-अपना अभाव को पूर्ण कर पूर्णत्वलाभ करेंगे। इसीलिए सर्वापेक्षा कामिनी में काम का आकर्षण अत्यधिक है। सुतरां कामिनी में आत्मसम्मिश्रण कर पाने से, जीव आत्मसम्पूर्ति को प्राप्त कर जगत् के प्रधान आकर्षण को नष्ट कर सहज ही अन्तर-राज्य को गमन कर सकता है। इसी कारण तन्त्रशास्त्र में कुलाचार की व्यवस्था है। वस्तुतः कुलसाधना भिन्न मायामय जीव को काम की अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण होने का अन्य उपाय नहीं है। तन्त्रकार समझे थे, वेदपुराणों के उपदेशानुसार रमणी की आसङ्गलिप्सा का परित्याग करना जीव के लिए दुःसाध्य है। प्रवृत्तिपूर्ण मानव स्थूल रूप-रसादि का थोड़ा-बहुत भोग करेगा ही करेगा, किन्तु यदि किसी कारण उसकी प्रिय भोग्य वस्तु के भीतर ठीक-ठीक आन्तरिक श्रद्धा जगा

---

* नर-नारी के परस्पर आकर्षण के कारण और उसके निवारणोपाय मत्प्रणीत "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थ में विशदरूप से लिखित हैं। सुतरां यहाँ संक्षेप से कारण प्रदर्शित हुए।

दी जाय, तो वह कितना भोग करेगा उसे करने दो—उस तीव्र श्रद्धा के बल से स्वयं ही स्वल्प काल में संयमादि आध्यात्मिक भावों का अधिकारी हो उठेगा, इसमें सन्देह नहीं है। इसी कारण से गोपीभावलुब्ध भक्त, भगवत्शास्त्राविरोधी तन्त्रसम्मत कुलाचार के अनुष्ठान से राधा-कृष्ण की उपासना करते हैं। वे कुलसाधनबल से काममुक्त होकर भावराज्य में प्रवेश करते हैं एवं गोप्यनुगतिमयी भक्तिलाभ करके श्रीवृन्दावन में महामन्मथ श्रीकृष्ण की श्रीचरणकमल-सुधा को प्राप्त करते हैं।

अतएव गोपीभावलिप्सु प्रवर्तक भक्त अर्थात् बाह्यानुरक्त साधक बाहर से शाक्तभाव से और अन्तर में वैष्णवभाव से भगवान् की उपासना करेगा। तन्त्रशास्त्रानुसार शाक्त की कुलाचार-साधना वर्तमान ग्रन्थकार प्रणीत "तान्त्रिकगुरु" नामधेय ग्रन्थ में लिखित है। सुतरां भक्तिशास्त्रानुसार शाक्तभाव अर्थात् कुलाचार की साधना ही हमने नीचे विवृत की।

पूर्व में जैसे साधक अन्तश्चिन्तिताभीष्ट देह में सिद्धव्रजलोक में साक्षाद्भजन की प्रणाली लिखित हुई है, वैसे ही साधक की गुणमय प्राकृत देह द्वारा राधाकृष्ण के साक्षात्-भजन का उपाय ही कुलाचार प्रथा है। सखीभावलुब्ध साधक श्रीगुरु को वृन्दावनेश्वर, अभिलषित जिस किसी रमणी को वृन्दावनेश्वरी एवं यथाविहित स्थान को श्रीवृन्दावन समझ कर सखीरूप में प्राकृत देह द्वारा साक्षात्-भजन करेगा। अपनी विवाहिता स्त्री की राधारूप में कल्पना की जा सकती है; किन्तु स्वकीया रमणी को ऊँच-नीच का ज्ञान रहने से

एवं लोकधर्म की अपेक्षा रहने से तदीय प्रेम तरल होता है; और समाजविरुद्ध होने के कारण परकीया नारी में प्रेम का उद्दाम उच्छ्वास सहज ही विकसित होता है एवं लोक-लज्जा, भय-घृणा, वेद-विधि अत्यल्पकाल में ही विनष्ट होती है। विशेषतः जिन्हें प्रेम के गुरु राधारूप में ग्रहण करना होगा, उनमें भी गोपीस्वभावप्राप्ति के लिए एकान्त अनुराग होना चाहिए; सुतरां साधिका रमणी का प्रयोजन होता है। अन्यथा प्राकृत कामासक्त नारी के साथ पुरुष की अधोगति ही होती है। अतएव अपने स्वभावानुरूप नारी का अनुसन्धान कर लेना होगा। चण्डीदास की आश्रिता साधकगोपी श्रीमती राममणि रजकिनी हैं। चण्डीदास ने कहा है—

रजकिनीरूप, किशोरी स्वरूप
कामगन्ध नाहि ताय।
रजकिनी प्रेम, निकषित हेम,
बड़ु चण्डीदासे गाय॥

इस प्रकार लक्षणाक्रान्त साधिका-रमणी का श्रीराधारूप में आश्रय करो। ऐसा होने से क्या होगा ?—

जे जन युवती, कुलवती सती,
सुशील सुमति जार।
हृदय-माझारे, नायक लुकाये,
भवनदी हय पार॥

इस प्रकार गोप्यनुगता रमणी व्यतिरेक पुरुषान्तररता समुदाय रमणी ही व्यभिचारिणी है। व्यभिचारदुष्टा रमणी स्वयं घोरतर अधर्म के

पङ्क में निमग्न होती है एवं स्वसङ्गी को भी आत्मवत् कलुषित करती है। इस हेतु एतादृश रमणी संसर्ग से पुरुष का मुक्तिमार्ग उद्घाटित नहीं होता है, बल्कि नरक का पथ ही प्रशस्त होता है। चण्डीदास कहे हैं—

व्यभिचारी नारी, ना हय काण्डारी,
नायिका बाछिया लबे।
तार आबछाया, परश करिले
पुरुष-धरम जाबे॥

कृष्णकार्य के अतिरिक्त जिस रमणी को देह-इन्द्रियों से और अन्य कार्य-साधना का अवसर नहीं होता, कृष्णलीला-चिन्तन के अतिरिक्त जिस रमणी के हृदय में और विषयान्तर चिन्ताओं का अवकाश नहीं होता, जिस रमणी के देह-मन-प्राण श्यामसुन्दर के परम प्रेम में विभावित हैं, वही रमणी गोपीभावलाभेच्छु साधक की उपयुक्ता सहचरी होती है। सुतरां गोपीत्वलाभ करने के लिए, इस प्रकार की रमणी को जिस प्रकार के गोपीजनोचित भाव और आचरण का अनुकरण करना होगा, पुरुषसमूह को भी उसी प्रकार के भावादि का अवलम्बन करना होगा।

इस भाव-साधना के लिए बंगाल के बाबाजी लोगों के गृहों में एकाधिक वैष्णवियों का समावेश देखा जाता है। ये वैष्णवियाँ बाबाजी की सेवादासियाँ नहीं, उनके प्रेमशिक्षादाता गुरु—श्रीमती राधिका होती हैं। कामकामनासक्त बर्बर, उच्चाधिकारी के कार्य में हस्तक्षेप करने पर परिणाम में इसी दशा को प्राप्त हुआ करते हैं।

जो हो, गोपीत्वलाभ करने के लिए भक्तगणों को शास्त्रीय लक्षणाक्रान्त और स्वकीय भावानुगता नायिका का चयन करना होगा। बाद में वे उन्हें श्रीमती राधा समझकर उन्हें लेकर सखी के समान श्रीगुरु की साक्षात् सेवा करेंगे। वे जिस प्रकार साधकरूप से बहिर्देह से समुचित द्रव्यादि द्वारा उनकी बहिरङ्ग सेवा करते हैं, उसी प्रकार अन्तश्चिन्तितगोपीदेह से, तदुपयोगी द्रव्यादि के सहयोग से नित्यसखी के समान स्फूर्तिप्राप्त राधाकृष्ण की सेवा करते हैं। इस प्रकार साधनभक्ति के अनुष्ठान से, भक्त का क्रमशः गुणमयभाव क्षय होकर अन्तश्चिन्तित गोपीदेह की पुष्टि होती रहती है। प्रेम की परिपाकदशा में जब अनुगम्यमान भक्त और तदाश्रिता साधकगोपी अन्तर्जगत् में सिद्धदेह से सम्पूर्ण एकताभाव को प्राप्त होते हैं, तब श्रीकृष्ण को हृदयमन्दिर में प्रेमशृङ्खल द्वारा चिरबन्दी बना कर, उनकी रासासि नित्यलीलापारावार में चिरनिमग्न होते हैं। इस प्रकार भक्त गोपी-अनुगति द्वारा गुणमयदेह के अवसान से, प्रेममय गोपीदेह से नित्यवृन्दावन की रासलीला में श्रीकृष्णसङ्ग को प्राप्त होते हैं। चण्डीदास को बाशुली देवी ने यही कहा है—

बाशुली कहिछे कहिब कि। मरिया हइबे रजक झि॥
पुरुष छाड़िया प्रकृति हबे। एक देह ह'ये नित्येते जाबे॥
सेवाते सन्तुष्ट करिल जे। श्रीरूपमञ्जरी पाइल से॥
कभु जल कभु ताम्बुल ताय। कभु श्रीअङ्गे वसन पराय॥
सखीदेह धरि सेवाते गेल। राधाकृष्ण दोंहे व्रजेते पेल॥

इस प्रकार साधना से भक्त की सिद्ध-गोपीदेह का प्रकाश होने से तब उनके प्रेमनेत्रों से वही आश्रिता साधकगोपी ही वृन्दावनेश्वरी के

रूप में प्रतीयमान होती हैं एवं स्वकीय आत्मस्वरूप भी तदनुगत तत्प्रतिबिम्बित रूप में प्रतीत होता है।

नित्यसखियाँ जिस प्रकार राधा-ध्यान, राधा-ज्ञान, राधा-प्राण और राधा-अनुगत होकर व्रजेश्वरी की सेवा की रहती हैं, तद्रूप भक्त भी आश्रितानायिकानिष्ठ होकर राधा-ज्ञान से कायमनोप्राण से उनकी सेवा करेंगे। नायिकानिष्ठ होकर इस प्रकार की साधना को अस्मद्देश के लोक—

किशोरी-भजन

ख्या दिया करते हैं। किस प्रकार किशोरी-भजन करोगे ?

चण्डीदास ने कहा है—

उठिते किशोरी, बसिते किशोरी, किशोरी गलार हार।
किशोरी भजन, किशोरी पूजन, किशोरी चरणसार॥
शयने स्वपने, गमने भोजने, किशोरी नयनतारा।
जे दिके निरखि किशोरीरे देखि, किशोरी जगत्भरा॥

रमणी के द्वितीय पुरुषसंसर्ग से जो दोष होता है, पुरुष के द्वितीय रमणीसंसर्ग से भी वही दोष उत्पन्न होता है। सुतरां पुरुषान्तररता व्यभिचारिणी रमणी जिस प्रकार साधना की योग्या नहीं होती, द्वितीय रमणी में आसक्त व्यभिचारी पुरुष भी उसी प्रकार उपयुक्त नहीं होता है। सुतरां गुरुकृपापात्र नायक-नायिका परस्पर अनुरक्त होकर श्रीराधाकृष्ण के अनुध्यान में और उनकी मधुर-लीला के कथोपकथन में रत रहकर नियत आनन्द-सागर में अवस्थिति करते हैं। वे स्व-स्व हृदय में अभीष्ट गोपी-स्वरूप की कल्पना कर साक्षात् श्रीकृष्णज्ञान

से व्रजदेवी के समान परस्पर की मधुर सेवा-परिचर्या भी करते हैं। किन्तु सर्वदा रमणीनिष्ठ हुए रहने से आसङ्गलिप्सा अवश्यम्भावी है। प्राकृत नायक-नायिका की काम-कलुषित आसक्ति का परिणाम इन्द्रिय-सुख भोग करना है; सुतरां इन्द्रियपरितर्पणमय मायिक कार्यद्वारा कामासक्ति कदापि पवित्र भगवत्प्रेम में परिणत नहीं हो सकती। इस प्रकार नायक-नायिका, इन्द्रिय-परितर्पण की आशा से केवल इन्द्रियसुखदातृज्ञान से परस्पर आसक्त होकर, कामानल में आत्माहुति प्रदान करते हैं—नरक के पथ प्रसारित करते हैं। इसमें जीव का सर्वनाश संघटित होता है—आध्यात्मिक श्री नष्ट होती है एवं देह-मन अकर्मण्य एवं भक्ति विनष्ट होती है। अतएव नायिकानिष्ठ भक्त संयत होकर साधकगोपी की सेवा करेंगे। किस प्रकार सेवा करनी होगी ?

स्नान जे करिब, जल ना छुँइब, एलाइया माथार केश।
समुद्रे पशिब, नीरे ना तितिब, नाहि दुःख शोक क्लेश॥
रजनी दिवसे, हब परवशे, स्वपने राखिब लेहा।
एकत्र थाकिब, नाहि परशिव, भाविनी भावेर देहा॥

परन्तु जो रामानन्द राय के समान संयत हैं, प्रेम की साधना से काम को भस्मीभूत कर चुके हैं, वे ही नायिका के साथ यथेच्छाभाव से व्यवहार कर सकेंगे। रामानन्द राय—

एके देवदासी, आरे सुन्दरी तरुणी।
तार सब अङ्गसेवा करेन आपनि॥
स्नानादि कराय, पराय वास-विभूषण।
गुह्य अङ्गेर हय ताँहा दर्शन-स्पर्शन॥

तबु निर्विकार राय रामानन्देर मन।
नानाभावोद्गम तारे कराय शिक्षण॥
निर्विकार देह-मन काष्ठ पाषाण सम।
आश्चर्य तरुणी-स्पर्शे निर्विकार मन॥

इसी प्रकार से सेवा करके भी इन्द्रियविकार से किञ्चिन्मात्र चञ्चल नहीं होते थे। उसी प्रकार के निर्विकार भक्त यथेच्छाभाव से आश्रिता साधकगोपी की सेवा कर सकते हैं। और जो—

रस परिपाटी, सुवर्णेर घटी, सम्मुखे पुरिया राखे।
खाइते खाइते, पेट ना भरिबे, ताहाते डुबिया थाके॥
सेइ रस पान, रजनी दिवसे, अञ्जलि पुरिया खाय।
खरच करिले, द्विगुण बाड़ये, उछलिया बहि जाय॥

इस प्रकार से प्रेममयभाव से सम्भोग कर सकते हैं, वे शृङ्गारादि के द्वारा भी गोपी की सेवा-परिचर्या करेंगे। जो साधकगोपी के साथ शृङ्गाररसात्मक साधनावलम्बन से शुक्र का अधःस्रोत रुद्ध कर सके हैं, उनके रतिरस में मत्त होने पर भी क्षति का कोई कारण नहीं होता; किन्तु वह साधनासापेक्ष है। पाठक! मैंने "ज्ञानी गुरु" ग्रन्थ के साधनाकल्प में "नादविन्दुयोग" शीर्षक प्रबन्ध में जिस साधन-प्रणाली को व्यक्त किया है, उसका नाम विन्दुसाधना है। किन्तु यह—

शृङ्गार-साधना

वैसी नहीं है, यह शुक्र-परिपाकरूप धातव साधना का ताप-प्रयोग मात्र है। जिस प्रकार इक्षुरस अग्निसन्ताप में क्रमशः प्रगाढ़ होकर गुड़-शर्करादि अवस्था अतिक्रमणपूर्वक अन्त में निर्मल एवं प्रगाढ़तम

ओला में परिणत होता है, उसी प्रकार चरम धातु भी शृङ्गार के प्रेम-सन्ताप में क्रमशः प्रगाढ़ और कामसम्बन्धशून्य होकर अन्त में निर्मल और प्रगाढ़तम भगवत्प्रकाशक विशुद्ध सत्त्व में पर्यवसित होता है; यह साधना-प्रणाली अत्यंन्त गुरुतर एवं अतिशय भयङ्कर है। सुतरां शृङ्गार-साधन में अधिकार प्राप्त न कर कोई कभी उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं होगा। साधना का क्रम ऐसा है—

पाठक ! सुषुम्नानाड़ी के छः स्थानों में भिन्न-भिन्न कार्योपयोगी छः स्नायुकेन्द्र हैं। ये छः स्नायुकेन्द्र ही शास्त्रोक्त षट्चक्र* हैं।

सुषुम्ना का अधोमुखस्थित सर्वाधः स्नायुकेन्द्र ही मूलाधार है एवं ऊर्ध्वप्रान्तस्थ सर्वोर्ध्व स्नायुकेन्द्र ही आज्ञाचक्र है। यह आज्ञाचक्र ही बुद्धि या चेतना-शक्ति का वासस्थान है। ऊपर महाकाश में चिदानन्दमय सहस्रकमल अवस्थित है। यह समुदायदेहव्यापक होते हुए भी, मस्तिष्कस्थित चेतना-शक्ति का आश्रयत्व-निबन्धन केवल ऊर्ध्वता मात्र की अपेक्षा कर सर्वोपरि कल्पित हुआ रहता है।

मस्तिष्क और मेरुमज्जा का सारभूत रस ही शुक्र है; इसी कारण शुक्र को मज्जारस कहते हैं। इड़ानाड़ी के अन्तर्गत ज्ञानात्मक स्नायुसमूह जिस प्रकार रस-रक्तादि शारीरिक उपादानों से नियत शुक्रकणसमूह संग्रहपूर्वक तत्समूदाय मस्तिष्क में लाकर उसका

* षट्चक्र, नाड़ी और वायु आदि के सम्बन्ध में साधकों के अवश्यज्ञातव्य विषय मत्प्रणीत "योगी गुरु" ग्रन्थ में, विन्दुसाधना का उपाय "ज्ञानी गुरु" ग्रन्थ में एवं विन्दुधारण की उपकारिता या प्रयोजनीयता सम्बन्ध में उन उभय ग्रन्थों और "ब्रह्मचर्य-साधन" ग्रन्थ में विस्तृतरूप से वर्णित हैं।

पुष्टिसाधन कर रहा है; पिङ्गला नाड़ी के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायुसमूह भी उसी प्रकार मस्तिष्क से शुक्रकणा ग्रहणपूर्वक नियत तत्समुदाय देहेन्द्रियकार्य में व्यय कर, उसका क्षयसाधन कर रहा है। किन्तु साधारण देहेन्द्रियव्यापार में शुक्र अणुपरिमाण में धीरे-धीरे क्षयित होता है जो स्पष्ट समझ में नहीं आ पाता है, केवल शृङ्गार-क्रीड़ा में ही इसके अधिक परिमाण में सत्त्वर व्यय होने से स्पष्टरूप से समझा जा सकता है। नर-नारी के मस्तिष्क शृङ्गार से विक्षुब्ध होने पर, उसीसे शुक्रसमूह निःसृत होकर पिङ्गलानाड़ी के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायुसमूह के द्वारा प्रथमतः सुषुम्नामुख पर उपस्थित होता है, बाद में तत्रत्य काम-वायु की प्रतिकूलता से वह अधोगामिनी नाड़ी का अवलम्बन कर मूत्र-नालीपथ से बहिर्गत होता है। यदि उस समय पिङ्गलानाड़ी वहमान रहती है, तो शुक्र के इस अधःप्रवाह का वेग अधिकतर वर्द्धित होता है। शुक्रराशि अनुकूल वायु पाकर प्रबल वेग से बहिर्गत होती है। सुतरां दक्षिणदेशस्थित पिङ्गलानाड़ी से वहमानवायु प्रेमसाधना के अनुकूल नहीं होती।* शृङ्गार में जब पिङ्गलानाड़ी के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायुसमूह के द्वारा शुक्रराशि बाहर होकर सुषुम्नासुख पर उपस्थित होती है, तब गुरूपदिष्ट उपाय से अधोगति का पथ अवरुद्ध होने पर वह इड़ामुख से प्रविष्ट होकर, तन्मध्यस्थ ज्ञानात्मक स्नायुसमूह के द्वारा फिर से मस्तिष्क में उपनीत होती है।

---

* दक्षिण देशेते, ना जाबे कदाचिते, जाइले प्रमाद हबे।
एइ कथा मने, भाब रात्रि दिने, सहज पाइबे तबे॥

गुरूपदिष्ट प्रणाली और कुछ नहीं, प्राणायाम है। हाँ, योगशास्त्रोक्त प्राणायाम की तुलना में इसकी कुछ विशेषताएँ हैं। इसमें पहले रेचन, फिर पूरण एवं अन्त में कुम्भक करना होता है। शृङ्गारासक्त होकर, प्रथमतः अनामिका और कनिष्ठाङ्गुलि द्वारा वाम नासापुट रुद्ध कर सोलह बार मूल मन्त्र का जप करते-करते दक्षिण नासापुट से वायु रेचन कर दक्षिण नासापुट वृद्धाङ्गुलि द्वारा रुद्ध कर बत्तीस बार मूलमन्त्र का जप करते हुए वाम नासापुट से वायु पूरण करो। तत्पश्चात् उभय नासापुट रुद्ध कर चौंसठ बार मूलमन्त्र का जप करते हुए वायुस्तम्भन करने से सुषुम्नामार्ग प्रच्छन्न नहीं रहता, वह उद्घाटित होकर चिज्जगत् को प्रकाशित करता है। इसकी द्वारा शृङ्गार के समय धातुरक्षा में समर्थ हुआ जा सकता है। पहले सम्यक्रूप से प्राणायाम का अभ्यास कर उसमें परिपक्व हो जाने के बाद शृङ्गार-साधना आरम्भ करनी होती है।*

शृङ्गार-साधना में पूरणकाल में शुक्र इड़ानाड़ीपथ से फिर मस्तिष्क में उपनीत हुआ रहता है। उस समय इड़ानाड़ी के वहमान रहने के कारण शुक्र के इस ऊर्ध्वप्रवाह का वेग अधिकतर वर्द्धित होता है, शुक्रराशि अनुकूल वायु पाकर अनायास ही मस्तिष्क में उपस्थित होती है। सुतरां इड़ानाड़ी से श्वासवहन काल में शृङ्गारसाधना करोगे, कारण इड़ानाड़ी में वहमान वायु प्रेम-साधना

---

* मत्प्रणीत ''योगी गुरु'' और ''ज्ञानी गुरु'' ग्रन्थद्वय में प्राणायाम और उसकी साधना-प्रणाली विस्तृतरूप से लिखी हुई है। प्रवर्तक साधक पहले उक्त दोनों पुस्तकें देख कर प्राणायाम का अभ्यास करे।

में अनुकूलता करती है।† जो लोग शृङ्गार-साधना में प्रथम प्रवृत्त हुए हैं, शृङ्गार में मस्तिष्क से शुक्रराशि पिङ्गलामार्ग से सुषुम्ना के मुख पर उपस्थित होने पर जब चेष्टा के साथ उसे इड़ामार्ग से पुनः मस्तिष्क में प्रेरण करना होता है, उस समय वे प्रकृत शृङ्गाररस आस्वादन करने में समर्थ नहीं होते। क्रमशः गुरूपदिष्ट साधना-प्रभाव से सुषुम्नाद्वारस्थ काम-वायु को सम्पूर्ण आयत्त कर शुक्र का अधोगतिपथ अवरुद्ध करना होता है; तब प्रेममय शृङ्गार में मस्तिष्क से शुक्रराशि पिङ्गलापथ से सुषुम्ना के मुख पर उपस्थित होकर बिना आयास स्वतः ही इड़ापथ से पुनः मस्तिष्क में उपनीत होती है, उस समय प्रकृत शृङ्गाररस का आस्वादन किया जा सकता है।

इस प्रकार नायक-नायिका जब प्रेममय शृङ्गार के अनुष्ठान में धातुराशि मन्थन कर, उससे चिदानन्दमय सहस्रदलकमल को प्रकाशित करते हैं, तब उनके उसी धातु-सरोवर में युगपत् दो प्रवाहों का उदय होता है। उनके धातुमय मस्तिष्क से धातुराशि निःसृत होकर जिस प्रकार एक तरफ पिङ्गलामार्ग के अन्तर्गत कर्मात्मक स्नायुसमूहद्वारा सुषुम्नामुख पर उपस्थित होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर वही सुषुम्नामुखस्थित शुक्रराशि इड़ामार्ग में प्रविष्ट होकर तदन्तर्गत ज्ञानात्मक स्नायुसमूहद्वारा पुनः मस्तिष्क में उपनीत होती है। सुतरां उस समय साधक नर-नारी की इड़ा और पिङ्गला एवं तदन्तर्गत ऊर्ध्वगामी और अधोगामी धातुप्रवाहद्वय सम्मिलित होकर एकाकार

† जखन साधन, करिबा तखन, इड़ाय टानिबा श्वास।
ताह'ले कखन, ना हबे पतन, जगत् घोषिबे यश॥

होते हैं। इड़ा और पिङ्गला के सम्मिलित होते ही तदुभयात्मक सुषुम्नामार्ग उद्घाटित होता है, सहस्रार से मूलाधार में चिच्छक्ति प्रकटित होकर अष्टदलकमल पर श्रीराधाकृष्ण का स्वरूप प्रकाश करती हैं। तभी तो रसिकशिरोमणि चण्डीदास ने कहा है—

दुइ धारा जखन एकत्र थाके।
तखन रसिक युगल देखे॥

इसी हेतु उस समय प्रेमिक नरनारी नित्यप्रेमविलास-विवर्तनशील श्रीराधाकृष्ण के भेदाभेदस्वरूप का अवलोकन कर प्रेमानन्द में मूर्च्छित हो जाते हैं—उनके अनुरूप दशा को प्राप्त करते हैं। निष्काम भक्त-नरनारी प्रेममय शृङ्गार में चिच्छक्ति का सारसर्वस्व को हृदयकमल में प्राप्त होकर यावतीय भेदज्ञान विसर्जन करते हैं, किसी एक अनिर्वचनीय आनन्दसागर में निमग्न होते हैं। उनका यह प्रेमविलाससुख लौकिक ज्ञानबुद्धि के अतीत है, शास्त्रयुक्ति के भी बहिर्भूत है। नित्यप्रेमविलास-विवर्तनशील श्रीराधाकृष्ण का प्रेमानन्दमय भाव कैसा व्यापक और महान् है, यह केवल वे लोग ही जान सकते हैं। इसी हेतु केवल वे लोग ही अनुरूप प्रेममय शृङ्गार से उस अनिर्वचनीय आनन्दमय वस्तु को हृदयकमल में लाकर सर्वेन्द्रिय-द्वारा आस्वादन करते हैं। इस प्रकार यावतीय देहेन्द्रियसाध्य प्रेमसाधना से उनके समुदाय देहेन्द्रिय ही उज्ज्वल प्रेमानन्दमय गोपीस्वरूप में पर्यवसित होते हैं। जिस प्रकार काठ के दो टुकड़े परस्पर संघर्षित होने पर, तन्मध्यस्थ प्रच्छन्न अग्नि आत्मप्रकाश कर तदुभय को अग्निमय करते हैं, उसी प्रकार शृङ्गारसाधनापरायण नर-नारी की मस्तिष्कगुप्त चिच्छक्ति

प्रेममय शृङ्गार से समुदाय स्नायुमय केन्द्र में प्रकटित होकर उन्हें चिदानन्दमयस्वरूप का प्रदान करती हैं।

सुषुम्नामुखागत शुक्रराशि अधोमार्ग से निःसृत होना ही साधारण मनुष्यों का स्वाभाविक धर्म है। इस स्वाभाविक धर्म का परिवर्तन ही शृङ्गाररस का प्रथम सोपान है। इस हेतु जो लोग शृङ्गारसाधना में प्रथम प्रवर्तित होते हैं, वे लोग सर्वाग्र में सुषुम्नामुख में सञ्चित शुक्रराशि को इड़ामार्ग से मस्तिष्क में प्रेरण करने की चेष्टा करते हैं एवं इसमें अल्पायास से ही कृतकार्य भी होते हैं। शुक्र का ऊर्ध्वप्रवाह सिद्ध हो जाने पर भक्त अनर्थ के हाथों से निष्कृति प्राप्त होकर, निष्ठागुण को प्राप्त करते हैं—प्रेमभक्तिदेवी का करुणारूप अमृतधारा से अभिषिक्त होता है। इसी हेतु इसे प्रवर्तकभक्त की **कारुण्यामृतधारा में स्नान** कहते हैं। शृङ्गार में रति स्थिर होते ही, साधक की ऊर्ध्वगत मस्तिष्कस्थित शुक्रराशि सहज से पिङ्गलापथ अवलम्बन कर सुषुम्नामुख पर अवतीर्ण नहीं होती; अथच उसे अवतारित नहीं कर पाने पर भी प्रेमानन्दलाभ का उपाय नहीं है। इस हेतु साधकगण बड़े यत्न से मस्तिष्कस्थित साधनापक्व शुक्रराशि को पिङ्गलामार्ग-योग से सुषुम्नामुख पर ला देते हैं। उनके आज्ञाचक्र से मूलाधार तक यावतीय स्नायुकेन्द्र ही सहस्रारस्थित प्रेमानन्द-प्रवाह से प्लावित होते हैं; उनकी समुदाय देहेन्द्रियों ही प्रेमरस से पुष्ट होकर श्रीकृष्णभोग्य तारुण्य को प्राप्त होती हैं। इसी हेतु इसको साधक-भक्त का **तारुण्यामृतधारा में स्नान** कहते हैं। इस साधकावस्था की साधना से ही साधक-नरनारी के शुक्रसरोवर में

ऊर्ध्वाधःप्रवाह स्वाभाविक होता है, इड़ा और पिङ्गलानाड़ियों के मुख संयुक्त होते हैं एवं सुषुम्नामार्ग उद्घाटित होता है। इसीलिए वे लोग प्रेममय राज्य में प्रवेश कर सहज प्रेम से सिद्ध शृङ्गाररस का आस्वादन करते हैं, इस समय सिद्धभक्त **लावण्यामृतधारा से** अभिषिक्त होकर श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीला को प्राप्त होते हैं।

सहजभाव से सहज प्रेम-रस का आस्वादन सिद्धभक्त की सिद्धदशा की सहज-साधना है। इसी हेतु नायक-नायिका की शृङ्गार-साधना को "सहज-भजन" कह सकते हैं। स्वभावानुगत साधना को "**सहज-साधना**" कहा जा सकता है। एक भोग पसन्द करता है, उसे योगपन्था प्रदान करने पर उसका स्वभावविरुद्ध होता है; किन्तु भोग के अन्दर से होकर योगपथ पर उन्नीत कर पाने से ही वह स्वभावानुगत होने के कारण "**सहज**" आख्या को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण मनुष्य हैं, प्राकृत नरनारी भी मनुष्य हैं, किन्तु प्राकृत नरनारी जिस प्रकार माया के गुणराग से रञ्जित विकृत मनुष्य हैं, श्रीकृष्ण उस प्रकार के विकृत मनुष्य नहीं हैं, वे शुद्ध और नित्य-मनुष्यमण्डली के भी आराध्य स्वतःसिद्ध मनुष्य हैं। इसीलिए उन्हें **सहजमानुषरूप** में आख्या दी जाती है। आदिपुरुष श्रीकृष्ण सहजमानुष थे, तदीय नित्यपारिषद गोपगोपियाँ भी सहजमानुष थे। मानुषधाम नित्यवृन्दावन में सहज-मानुष **श्रीकृष्ण** सहजमानुष गोपगोपियों के सहज-प्रेम के चिरऋणी होकर उनके साथ नित्य मानुषलीला कर रहे हैं। चण्डीदास ने लिखा है,—

गोलोक उपरे मानुष बसति ताहार उपरे नाइ।
मानुष भावेते, बसति करिले तबे से मानुष पाइ॥

इस मानुषधाम की मानुषलीला (मनुष्यलीला) पर मनुष्य के अतिरिक्त और किसी का भी अधिकार नहीं है। जो लोग मनुष्य का अनुगत होकर, नियत मानुषाचार करते हैं, केवल वे ही मनुष्य होकर इस मनुष्यलीला के अधिकारी होते हैं। सहजमानुष श्रीकृष्ण मनुष्यरूप में मनुष्यमन्त्र प्रदान करते हैं, मानुषरूप में मानुषाचार की शिक्षा देते हैं, और फिर मनुष्यरूप में मनप्राण भी हरण करते हैं। इसीलिए प्राकृतमानुष सहजमानुष के सहजभाव के अधिकारी होकर स्वरूप में सहजमानुष का भजन करते हैं। सहजभाव से सहजमानुष की ऐसी साक्षात् उपासना को ही **सहज-भजन** कहते हैं।

नित्यवृन्दावन में दास, सखा, गुरु (मातापितादि), कान्ता ये चतुर्विध मानुष, सहजमानुष श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध सेवक हैं। जगत् में भी उनके इस प्रकार के चार भाव के चार प्रकार के साधकमनुष्य वर्तमान हैं। यह चतुर्बिध साधक-मानुष के चतुर्विध साक्षात् उपासना ही सहज-भजन है; किन्तु रसिक भक्तों ने मधुररस के अन्तरङ्ग साधक होने के कारण मधुररस की साक्षात् उपासना को ही "सहज-भजन" कहकर निर्देश किया है। चण्डीदास की इष्टदेवी ने उन्हें तप, जप छुड़ाकर सर्वसाध्य श्रेष्ठ सहजभजन में नियुक्त किया था। यथा—

बाशुली आसिया, चापड़ मारिया, चण्डीदासे किछु कय।
सजह भजन, करह याजन, इहा छाड़ा किछु नय॥
छाड़ि जपतप, करह आरोप, एकता करिया मने।
जाहा कहि आमि, ताहा शुन तुमि, शुनह चौषट्टि सने॥

अतएव नायक-नायिका का शृङ्गाररसात्मक साधना ही सहज-भजन है। प्रापञ्चिक नर-नारियाँ भी गोपियों के समान सहजमानुष हैं। वे भी गोपियों के समान सहजमानुष श्रीकृष्ण के साथ भेदाभेद से वर्तमान हैं। केवल आवरिका मायाशक्ति के आवरणवश वे आत्मस्वरूप और श्रीकृष्णस्वरूप का भेदाभेद उपलब्धि करने में समर्थ नहीं है; किन्तु शृङ्गार की चरमावस्था में जब सहजमानुष श्रीकृष्ण रममाण नरनारी के हृदयकमल में विद्युद्विलासवत् प्रकाशमान होते हैं, तब सूर्योदय में अन्धकार के समान उनकी स्वरूपाच्छादिका माया को अन्तर्हित होना पड़ता है। फलस्वरूप तत्काल वे निमेषमात्र श्रीकृष्ण के साथ भेदाभेद-अन्वित निज स्वरूप को प्राप्त होते हैं—मुहूर्तमात्र अभेदांश में "त्वमहं" ज्ञान विसर्जन कर, विभेदांश में आनन्दमय-मूर्ति में कृष्णस्वरूप का आस्वादन करते हैं। प्राकृत नरनारी काममय शृङ्गार की चरमावस्था में निमेषमात्र जिस सहजमानुष श्रीकृष्ण को हृदयकमल में प्राप्त होकर निमेषमात्र स्वयं सहजमानुष हो जाते हैं, प्रेममय शृङ्गार-साधना से उसी सहजमानुष श्रीकृष्ण को हृदयकमल में चिरबन्दी बना कर भक्त स्वयं सहजमानुष हो जाते हैं। इसी कारण सहज-भजनशील रसिक नायक-नायिका नियत अटल सिंहासन पर अधिष्ठित होकर प्रेममय शृङ्गार के अनुष्ठान से नियत हृदयकमल में सहजमानुष श्रीकृष्ण का प्रकटन करते हैं। तभी तो रसिक भक्त ने गाया है,—

जे रस-रति करेछे साध्य।
रयेछे तार जगत् वाध्य॥

प्राकृत नरनारी शृङ्गार की चरमावस्था में धातु-विसर्जनकाल में जिस अनिर्वचनीय आनन्द का मुहूर्तकाल भोग करते हैं, साधक नायक़-नायिका सिद्धावस्था में उससे कोटिगुणा अधिक आनन्द सदासर्वदा ही भोग किया करते हैं। सङजमानुष श्रीकृष्ण केवल गोपीप्रेम में ऋणी हैं, केवल गोपीहृदय में प्रेमशृङ्खल से बन्दी हैं। तभी सहज-भजनपरायण नर-नारी सहज-भजन से गोपी की दशा को प्राप्त करते ही प्रेमशृङ्खल से सहजमानुष श्रीकृष्ण को बन्दी बना कर एवं स्वयं सहजमानुष होकर नित्यवृन्दावन में गमन करते हैं।

शृङ्गार-साधना में साधकदम्पति अनायास ही विन्दुसाधना के द्वारा आत्मरक्षा तो कर सकते हैं, किन्तु शृङ्गार में आत्मरक्षणमात्र ही से गोपीत्वलाभ नहीं होता। परमपावन भगवत्‌यशःकीर्तन से क्रमशः उनका मनोमालिन्य तिरोहित होकर पवित्रता का उदय होता है। वे परस्पर के प्रति आसक्ति कर, परस्पर के निकट से निर्मल भक्तसङ्गोत्थ सुख को प्राप्त होते हैं। सुतरां उनमें भक्तिप्रतिकूल इन्द्रियसुखभोग से स्वतः ही विरति जन्म होकर आ जाती है। यथा—

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥

—श्रीमद्भागवत ११/३/३०

नायक-नायिका इस प्रकार शृङ्गाररसात्मक साधनभक्ति का अनुष्ठान कर भक्तिप्रतिकूल अनर्थ के हाथों मुक्तिलाभ करते हैं, शृङ्गाररसात्मक सेवा से चरमधातु की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। अनर्थ-निवृत्ति होते ही प्राकृत काम वशीभूत होता है, चित्त का स्थैर्य संघटित

होता है। तदवस्था में प्रियजनसंसर्ग का परित्याग कर अन्तःकरण को फिर पात्रान्तर में अनुरक्त होने की आशङ्का नहीं रह जाती है। सुतरां अनर्थ-निवृत्ति से प्रेमिकदम्पति परिणाम में परस्पर के श्रीचरणों में निष्ठा-भक्ति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के निष्ठावान् नायक-नायिका परस्पर को अत्यधिक रूपगुणसम्पन्न के रूप में अनुभव करते हैं—परस्पर को सर्वोत्तम कान्त के रूप में प्रतीत होते हैं। तब वे सर्वदा परस्पर के संसर्ग की वाञ्छा करते हैं, अनुक्षण दर्शनादि की अभिलाषा करते हैं। सुतरां निष्ठा से कालक्रम में उनके हृदय में रुचि का सञ्चार होता है। रुचि के पैदा होते ही वे परस्पर के गुण-दोषों के प्रति फिर लक्ष्य नहीं करते, केवल परस्पर के सुखमय संसर्ग की ही अभिलाषा करते हैं। स्वाभिलाष-संसर्ग ही आसक्ति का एकमात्र जनक है, सर्वत्र रुचिकर संसर्ग से ही आसक्ति-सञ्चार दृष्ट होता है। इसी कारण रुचिसम्पन्न रागानुगीय भक्तदम्पति परस्पर के अभिलाषमय संसर्ग से कालक्रम में अत्यासक्ति के अधिकारी होते हैं। आसक्ति के पैदा होने पर वे परस्पर को कोई एक अतुलनीय सुमधुर पदार्थ समझकर अनुभव करते हैं; प्रियजन का दोष 'गुण' समझकर उपलब्धि करते हैं। इस अवस्था में वे कुलधर्म-लज्जा-धैर्यादि समुदाय भूलकर परस्पर को भजते हैं—प्रियजन के सुखसाधन के लिए समस्त प्रकार आत्मसुख का विसर्जन देते हैं। इस प्रकार के अत्यासक्त नायक-नायिका में कालक्रम से प्रीति का सञ्चार होता है। यही गोपिकानिष्ठ समर्थारति है; जातरति नायक-नायिका परस्पर को मूर्तिमान् आनन्द के रूप में अनुभव करते हैं,

परस्पर के स्मरण-मनन में आनन्द-सागर में निमग्न होते हैं। इस अवस्था में उनका देहेन्द्रिय-सुख मानों परस्पर के देहेन्द्रिय-सुख से मिल जाता है; अथच उभय ही नियत उभय के सुख-सम्पादन में रत रहकर प्रियजन से कोटिगुणा सुख उपभोग करते हैं। यह प्रीति ही उनके प्रेम-विलास से क्रमशः परिपुष्ट होकर परिणाम में प्रेमस्वरूप में पर्यवसित होती है। शास्त्र में भी यह उक्त है। यथा—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिर्वृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः ४/१५-१६

रागानुगीय श्रद्धावान् साधकदम्पति की भक्ति ही साधना से इस प्रकार क्रमानुसार परिपुष्ट होकर गोपिकानिष्ठ निर्मल प्रेम में पर्यवसित होती है। अङ्गार में शर्करा है, अथच उसे सैकड़ों बार धोने पर भी वह शर्करा में परिणत नहीं होती। किन्तु वैज्ञानिक उपाय से अङ्गार के परिष्कृत होने पर वह अन्त में मिष्टतम शर्करा में पर्यवसित हो सकती है। उसी प्रकार प्राकृत नर-नारी के कलुषमय शृङ्गार में और पङ्किल काम में भगवान् के प्रेमानन्द का स्वाद रहने पर भी, वे उसका अनुभव नहीं कर सकते, इसी से वे कदापि भगवत्प्रेमलाभ करने में सक्षम नहीं होते; केवल एकमात्र प्रेमिकदम्पति के गुरूपदिष्ट शृङ्गाररसात्मक साधनभक्तिबल से ही प्रेमलाभ हुआ करता है। यह प्रेम परिपाकदशा में स्वकीय उज्ज्वलप्रेमरसवृत्ति

प्रकाश करता है। साधकदम्पति इसके प्रभाव से श्रीकृष्णस्वरूप का अनुभव करते हैं, उनके उज्ज्वलप्रेमरस का आस्वादन करते हैं। इस समय उनकी मनश्चिन्तिताभीष्ट गोपी ही सिद्धदेहरूप में आत्मप्रकाश करती हैं। सुतरां उनके बाहर से मायामयस्वरूप में वर्तमान रहने पर भी आभ्यन्तर में गोपीस्वरूप को प्राप्त होते हैं। यह मायामय देह से भिन्न होकर भी अभिन्न है। उनके चित्तगत भाव के परिपाकानुसार जिस प्रकार क्रमशः सिद्धगोपीदेह पुष्ट होती है, उसी प्रकार क्रमशः मायामय देह का भी अवसान होता है। अन्त में मायिक देह के अवसान से साधकदम्पति केवल आनन्दघनस्वरूप में विराज करते हैं।

यह साधनलभ्य गापीदेह गुणमयी मूर्तिविशेष नहीं है, वह आनन्दघनविग्रह है। जड़देह का जिस प्रकार स्वगतभेद है, चिदानन्दघनविग्रह का उसी प्रकार स्वगतभेद नहीं है। साधक की हृदयाभ्यन्तरस्थ गोपीदेह जड़मूर्ति के समान भिन्न-भिन्न वृत्तिसम्पन्न और भिन्न-भिन्न अङ्गप्रत्यङ्गविशिष्ट नहीं है, वह सर्वेन्द्रियवृत्तिसम्पन्न और स्वगतभेदवर्जित केवलानन्दमयी मूर्ति है।* इसी कारण गोपी-कृष्ण का सम्मिलन प्राकृत नरनारी का सम्मिलन नहीं है, वह सर्वाङ्गीण सम्भोग है। साधकदम्पति इस प्रकार की गोपीदेह प्राप्त करने पर अपने को केवल आनन्दमयी कृष्णप्रिया के रूप में ही अनुभव करते हैं, नचेत् कोई अभिनव देहधारी के समान प्रतीति

* "अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमस्ति" और "आनन्दमात्रकरपादनखोदरादि सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा"—गोपीस्वरूप भी तद्रूप है।

नहीं करते। फलतः जातरति भक्त गोपीजनोचित मनोवृत्तिसमूह प्राप्त करते हैं, गोपियों के समान सर्वाङ्गीण सम्भोगरसाभास उपलब्धि करते हैं। इसीलिए वे गोपी हैं। एतद्व्यतिरेक से भक्त-हृदय में कोई परिच्छिन्न मूर्तिविशेष उदित नहीं होती है।

जातरति रसिकदम्पति जिस प्रकार स्व स्व आत्मस्वरूप को नवगोपी के रूप में उपलब्धि करते हैं, तद्रूप परस्पर को भी प्रेमानन्दमयी गोपी के रूप में अनुभव करते हैं। वे परस्पर की गोपीजनोचित भाव-चेष्टा-मुद्रा देखकर दोनों ही दोनों को नित्यसिद्ध सखी के रूप में निरूपण करते हैं। उनका चित्तगत भाव प्रेमविलास से क्रमशः पुष्ट होकर उज्ज्वलाख्य प्रेमस्वरूप में पर्यवसित होता है। इस प्रकार प्रेमोदय होने पर जब उनकी सिद्धगोपीदेह सम्यक् परिपुष्ट हो जाती है—उन्मुखयौवना कान्ता के समान पतिसंसर्ग की योग्यता पैदा होती है, तभी उनकी उसी प्रेमपुष्ट देह में स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, महाभाव प्रभृति उज्ज्वलरसात्मक प्रेमविलास का सञ्चार होना आरम्भ होता है। चिच्छक्ति इस समय उनके प्रेमनेत्रसम्मुख श्रीकृष्ण के महान्तःपुर का द्वार उद्घाटित करती हैं, उन्हें समग्र वृन्दावन का सम्पद प्रदान करती हैं।

अतएव उज्ज्वल प्रेम का अधिकारी होने पर ही भक्त सिद्धिलाभ करते हैं—श्रीगोपीरूप में श्रीवृन्दावन में प्रवेश करते हैं। वहाँ पर स्वकीय गुरुरूपा नित्यसखी के साथ अभिन्न होते हैं, तब स्वयं नित्यसखी होकर श्रीराधाकृष्णलीलारस में चिरनिमग्न होते हैं। यथा—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्,
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे,
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती॥

—उज्ज्वलनीलमणिः, स्थाः प्रः १५५

जिस प्रकार दो खण्ड जतु (लाक्षा) परस्पर संयोगपूर्वक हिङ्गुलवर्ण से अनुरञ्जित कर अग्निसन्तप्त करने पर वह अभिन्न होकर बाह्याभन्तर में हिङ्गुलाकार धारण करता है, तद्रूप शृङ्गाररसात्मक नायक-नायिकाएँ भी आश्रयविषयभावापन्न उज्ज्वलरसमय चित्तद्वयप्रदीप्त प्रेमसन्ताप से नित्यसखीभावमयी अभिन्नचित्तता को प्राप्त होते हैं। वे अविद्यायोगरहित आनन्दघनमूर्ति को प्राप्त होकर नित्यसखीरूप में श्रीराधाकृष्ण के अनन्तविलाससागर में अनन्तकाल के लिए निमग्न होते हैं एवं उनके असमोर्ध्व प्रेमरसमाधुर्य का आस्वादन करते हैं।

शृङ्गाररसात्मक साधनाभक्ति के अनुष्ठान से गोपीभावलुब्ध साधक इस प्रकार आश्रित गुरुरूपा नित्यसखी के साथ अभिन्न होकर श्रीवृन्दावन में गमन करते हैं।

साधना के स्तर और सिद्धलक्षण

प्रेमभक्ति-प्रचारक महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव के अन्तर्धान के पश्चात् तदीय भक्तमण्डली ने जिस सम्प्रदाय का गठन किया था, वही "गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय" नाम से विख्यात है। उज्ज्वलाख्य

मधुररस की साधना ही उनका प्रधान लक्ष्य है; दास्यादि रसों के साधक उक्त सम्प्रदाय में दृष्ट नहीं होते, ऐसी बात नहीं। वैसे उक्त सम्प्रदाय प्रधानतः मधुररस का ही प्रवर्तक है। तन्मूल में गोस्वामिगण के द्वारा शास्त्रादि भी रचित हुए हैं, वे ही अस्मद्देश में भक्तिशास्त्र के नाम से ख्यात हैं। काम-कामनामुक्त निर्विकार साधक के अतिरिक्त अन्य कोई रसतत्त्व और साध्यसाधना का अधिकारी नहीं है, इसी कारण वैष्णवसम्प्रदायों में अधिकांश व्यक्ति निर्मल रागमार्ग में लक्ष्य रखकर सहज-भजन-पन्था का अवलम्बन किये हुए हैं। फिर भी यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि, वैष्णवधर्म के अभ्युदयकाल में वैष्णवाचार्यों ने जहाँ तक सम्भव है तन्त्रोक्त पशुभाव का ही प्राधान्य स्थापन कर बाह्यिक शौचाचार के पक्षपाती हुए हैं। आहार में शौच, विहार में शौच, सभी विषयों में शुचि-शुद्ध रहकर नाम-ब्रह्मज्ञान से केवलमात्र श्रीभगवान् के नाम-जप द्वारा ही जीव सिद्धकाम होगा, यही अपने मत के रूप में उन्होंने प्रचार किया था। किन्तु उनलोगों के तिरोभाव के स्वल्प काल के बाद ही प्रवृत्ति-पूर्ण मानव-मन ने उनलोगों के प्रवर्तित शुद्धमार्ग में भी कलुषित समस्त भावों का प्रवेश करा दिया। सूक्ष्मभाव को छोड़ स्थूलविषय ग्रहण कर बैठा—परकीया नायिका के उपपति के प्रति आन्तरिक आकर्षण का ग्रहण करते हुए ईश्वर में उसका आरोप न कर परकीया स्त्री को लेकर साधना का आरम्भ कर दिया। इस प्रकार उनके द्वारा प्रवर्तित शुद्ध योगमार्ग के भीतर भी कुछ-कुछ भोग प्रवेश कराकर उसे कुछ हद तक अपनी प्रवृत्ति के समान कर लिया। और ऐसा नहीं करे भी वह करे क्या ? इतना शुद्धभाव से

चलने में तो वह अक्षम है। वह तो भोग और योग के मिश्रित भाव का ही ग्रहण कर सकता है। वह धर्मलाभ चाहता है; किन्तु उसके साथ थोड़ा-बहुत रूपरसादि भोग की भी लालसा रखता है। इसीलिए वैष्णवसम्प्रदाय के भीतर कर्ताभजा, आउल, बाउल, साँइ, दरवेश, सहजिया, आलेखिया प्रभृति मतों की उपासना और गुप्तसाधनाप्रणालियों की उत्पत्ति है। वे तन्त्रोक्त पश्वाचार के बदले कुलाचारप्रथा का अवलम्बन कर बैठे।

बंगाल के प्रत्येक नगर में—प्रत्येक ग्राम में—प्रत्येक पल्ली में इस प्रकार के वैष्णवों की स्वतन्त्र पल्ली वस गई है। उन्होंने फिर योग छोड़कर भोग ही ग्रहण कर धर्मजगत् में ध्वजा फहरायी है। साधारण लोग उक्त धर्म के योगरहस्य से अवगत न होकर केवल बाह्यभोग देखते ही प्रलुब्ध होकर धर्ममार्ग को कलुषित कर डालते हैं। धर्मराज्य का श्रेष्ठ सिंहासन भूत-प्रेतों द्वारा अधिकृत हुआ रहा है। दुःख का विषय है कि दिनोंदिन इनका दल पुष्ट हो रहा है। तान्त्रिक साधकलोग जिस प्रकार पञ्च म-कार की साधना के नाम पर बिना क्लेश की बोतल बोतल शराब उदरस्थ एवं मांसलोभ से पशु-पक्षी-वंश का ध्वंस कर रहे हैं, उसी प्रकार ये भी मधुररस की साधना के नाम पर,—सहज भजन के नाम पर, सीधे शब्दों में—सहजभाव से ही व्यभिचार कर रहे हैं। तभी समाज के शिक्षित व्यक्तिगण वैष्णव के मधुररस के नाम से ही घृणा से नासिका कुञ्चित कर लिया करते हैं। ठाकुर के ठाकुर मेरे वैष्णवगोसाईं को वे लम्पट, बदमाश की अपेक्षा से भी घृणा की दृष्टि से देखा करते हैं। उस प्रकार के वैष्णव उपेक्षास्पद होने पर भी उनका पन्था कभी

भी घृण्य नहीं है। धर्मराज्य के अधिकांश स्थान ही चिर दिन भूत-प्रेत और वानरों के द्वारा अधिकृत रहे हैं। तथापि उनके भीतर भी समय समय नन्दी या हनुमान् का दर्शनलाभ हुआ करता है। मैं धर्म के नाम पर अधर्म का अनुष्ठान कर तो सकता हूँ, किन्तु उससे साधनापन्था दूषित नहीं हो सकता। मैं विनष्ट हो जाऊँगा, किन्तु धर्म नष्ट क्यों होगा ? तभी इन सबके मूल में दीखता है वही बहु प्राचीन वैदिक कर्मकाण्ड का प्रवाह, वही योग-भोग का सम्मिलन; और देखा जाता है उन्हीं तान्त्रिक कुलाचार्यगणों द्वारा प्रवर्तित अद्वैत-ज्ञान के साथ प्रतिक्रिया के सम्मिलन का कुछ-कुछ भाव। तन्त्र-शास्त्र के मतानुसार सर्वोच्च सहस्रार—अकुलस्थान है, और सर्वनिम्न मूलाधार—कुलस्थान है; इस स्थान पर शुक्रसम्बन्धीय साधना का अनुष्ठान करना होता है, जिससे इस साधना को कुलाचार कहा जाता है। योगेश्वर महादेव ने कहा है—

कुलाचारं विना देवि कलौ मन्त्रं न सिध्यति।

—निरुत्तरतन्त्र, १/१२

कुलाचार व्यरिरेक कलि में कोई मन्त्र सिद्ध नहीं होगा। वास्तविक कलि का भोगपरायण जीव काम के कवल से उद्धार नहीं हो पाने से किस प्रकार धर्मराज्य में प्रवेश करेगा ? तभी वह कुलसाधनबल से काममुक्त होकर भावराज्य में प्रवेश करता है। कर्ताभजा प्रभृतियाँ वैष्णव शाखासम्प्रदायों के ईश्वर, मुक्ति, संयम, त्याग, प्रेम प्रभृति विषयक कई बातों का उल्लेख करते ही पाठक हमारी पूर्वोक्त बातों को सहज ही समझ सकेंगे। इन समस्त

सम्प्रदायों के लोग ईश्वर को "आलेक्लता" कहकर निर्देश करते हैं। लगता है संस्कृत के "अलक्ष्य" से "आलेक्" शब्द की उत्पत्ति हुई है। वही "आलेक्" शुद्धसत्त्व मानव-मन में प्रविष्ट या प्रकाशित होकर "कर्ता" या गुरुरूप में आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार के मानव को वे "सहज" की उपाधि दिया करते हैं। यथार्थ गुरुभाव में भावित मानव ही इस सम्प्रदाय के उपास्य के रूप में निर्दिष्ट होने के कारण उसका नाम कर्ताभजा हुआ है। वे लोग देव-देवियों की मूर्ति आदि अस्वीकार न भी करें, तो भी वे किसी की भी खास एक बड़ी उपासना नहीं करते। सभी ईश्वर के "अरूप रूप" की उपासना करते हैं। देह-मन-प्राण से गुरु की उपासना करनी ही इनका प्रधान साधना है। जब भारत में उस समय भी देवी-देवताओं की उपासना प्रचलित नहीं हुई थी, उसी प्राचीन काल से ही गुरु या आचार्य की उपासना प्रवर्तित थी ऐसा लगता है। क्योंकि शास्त्र में ही है—"आचार्यं मां विजानीयात्", "आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः" इत्यादि। भारत में गुरु या आचार्य की उपासना अति प्राचीन है। सुतरां मानुष-गुरु की पूजा कर वे कोई भी शास्त्रविरुद्ध कार्य नहीं करते। "आलेक्लता" के विशुद्ध मानव में आवेश के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

आलेके आसे आलेके जाय।
आलेकेर देखा केउ ना पाय॥
आलेकके चिनेछे जेइ।
तिन लोकेर ठाकुर सेइ॥

"सहज" मानुष का लक्षण है, वे "अटूट" हुए रहते हैं—अर्थात् रमणी के साथ सर्वदा रहकर भी वे कभी भी कामभाव से धैर्यच्युत नहीं होते—अटल शुक्र रमणी के भाव-तरंग से टल नहीं जाता। तभी तो वे कहते हैं—

"रमणीर सङ्गे थाके, ना करे रमण।"

संसार में काम-काञ्चन के भीतर अनासक्त नहीं रह पाने से साधक आध्यात्मिक उन्नतिलाभ नहीं कर पाता है। इसीलिए ये उपेदश दिया करते हैं कि—

राँधुनी हइबि,	व्यञ्जन बाँटिबि,	हाँड़ि ना छुँइबि ताय।
सापेर मुखेते	भेकेरे नाचाबि,	साप ना गिलिबे ताय॥
अमिय सागरे	सिनान करिबि,	केश ना भिजिबे ताय।
माकड़सार जाले	हातीरे बाँधिबि	पीरिति मिलिबे ताय॥

इनके भीतर भी साधकों की उच्चावच श्रेणी की बात है। यथा—

आउल बाउल दरवेश साँई
साँइयेर परे आर नाइ॥

इस सम्प्रदाय के लोग सिद्ध होने पर, तभी साँई हो सकते हैं। किस प्रकार के नर-नारी इनकी सम्प्रदायोक्त साधना के अधिकारी हैं ?—वे कहते हैं—

मेये हिजूड़े पुरुष खोजा।
तबे हबि कर्ताभजा॥

पाठक ! देख लिया न, इन समस्त सम्प्रदायोक्त साधना-पन्थाएँ किस प्रकार भित्तिमूलक प्रतिष्ठित हैं ? अब पाशव-प्रकृतिविशिष्ट जीव

यदि अनधिकारी होकर उस कार्य में हस्तक्षेप करते हुए उसे कलुषित कर दे, तो उसके लिए उनकी साधना पन्थाओं की कोई भी अवज्ञा करने का साहसी नहीं हो सकेगा। अधिकारी होकर जिस किसी कार्य में हस्तक्षेप करना ही सुधी व्यक्ति का कर्तव्य है।

हम कहते आ रहे हैं कि, जातजीवमात्र ही सुख का अभिलाषी है—कोई भी दुःख नहीं भोगना चाहता—सभी सुख के लिए लालायित हैं; किन्तु इहलोक में सुख कहीं भी नहीं है, इहलोक में सब कुछ अनित्य है। अनित्य पदार्थों में नित्यसुख कहाँ है ? फूल के साथ झड़ जाना और जीवन के साथ मर जाना, हँसी के साथ हाहाकार और प्रकाश के साथ अन्धकार, संयोग के साथ वियोग—यही रूप सर्वत्र है; सुतरां निर्मल निरवच्छिन्न सुख इस अनित्य जगत् में नहीं है। उपासना इसी सुखप्राप्ति के लिए है। श्रीभगवान् के चिन्मय नित्यानन्दधाम से शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये नित्यरसधारायें झलक-झलक कर उत्सारित होकर जगत् में आ रही हैं, उन्हीं की अनुभूति से जीव सुखान्वेषी होता है। मधुर गन्ध से अलिकुल जिस प्रकार आकुल होता है, जीव भी उसी प्रकार उसी सुख की गन्ध से अन्ध और उद्भ्रान्त होता है। अतएव उसी सुख की प्राप्ति जीव की शिक्षा, दीक्षा, साधना, भजना या उपासना का चरम उद्देश्य है। फिर उसी रस की पुनर्प्राप्ति मधुररस में है;—मधुररस में पूर्णानन्द है। मधुर में युगल की उपासना है। अतएव पूर्णानन्द या पूर्णसुखप्राप्ति के लिए प्रथमतः काममुक्त होकर अन्त में कामानुगाभक्तिबल से **युगल की** उपासना करो।

तन्त्रशास्त्र के भीतर जिस प्रकार साधकों की उच्चावच श्रेणियों की बात है, तद्रूप वैष्णवशास्त्रानुसार जीव के चार प्रकार की अवस्थाएँ दृष्ट हैं। तटस्थ, प्रवर्तक, साधक और सिद्ध इन चार प्रकार की अवस्थाओं में तटस्थ देह में क्रियाशून्यता; तटस्थभाव प्राकृत जीवभाव अर्थात् उस अवस्था में जीव कोई उपासना का पथ अवलम्बन नहीं करता है। तन्त्र में साधकों को जिस प्रकार पशु, वीर और दिव्यभाव में श्रेणीबद्ध किया गया है, तद्रूप भक्तिमार्ग के साधकलोगों की भी प्रवर्तक, साधक और सिद्ध इन तीन प्रकार की श्रेणियों की बात हैं। तन्त्र में जिस प्रकार पश्वादिभाव से साधना के प्रकारभेद हैं, तद्रूप भक्तिमार्ग की इन तीन प्रकार की अवस्थाओं में तीन प्रकार की भजन-प्रणालियाँ हैं।

प्रवर्तक अवस्था में आश्रयसिद्ध है। आश्रयसिद्ध का अर्थ है आश्रयावलम्बन से भक्तभावसिद्ध। साधनामार्ग में प्रवेशलाभ करके साधनभक्ति के अङ्गों की साधना करने के काल में उपासक को **प्रवर्तक** कहा जाता है।

प्रवर्तक का भाव सिद्ध होने पर भगवत्-माधुर्यास्वादन के लिए हृदय में जिस तीव्र उत्कण्ठा का आविर्भाव होता है एवं प्रकृत भाव के लिए प्राणों में जो आकुल आवेग उत्तरोत्तर वर्द्धित होता रहता है, इस प्रकार की अवस्था के उपासक को **साधक** कहा जाता है। यथा—

उत्पन्नरतयः सम्यक् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्तिताः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, दः विः १/२७६

जिन्हें भगवद्विषयों में रति उत्पन्न हुई है, किन्तु सम्यक्रूप से विघ्ननिवृत्ति नहीं हुई है एवं जो भगवत्साक्षात्कारविषयों में योग्य हैं, वे ही **साधकरूप** में परिकीर्तित होते हैं। ईश्वर में प्रेम, तदधीन व्यक्ति में मित्रता एवं विद्वेषी के प्रति उपेक्षा करते हैं, इस प्रकार के भेददर्शन के लिए वे साधक हैं। और—

अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सन्ततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, दः विः १/२८०

—जिन्हें थोड़ा भी क्लेश अनुभव नहीं होता, सर्वदा भगवत्सम्बन्धीय कर्म करते हैं एवं जो सर्वतोभाव प्रेम-सौख्यादि के आस्वाद विषय में परायण हैं, वे ही हैं **सिद्ध**।

सिद्ध और साधक का अन्तःकरण भगवद्भाव से भावित होने के कारण उनमें से उभय को ही भगवद्भक्त कहा जाता है। किन्तु प्रवर्तक भक्तों में परिगणित नहीं हैं।

सिद्ध दो प्रकार के हैं; एक—संप्राप्तिसिद्धरूप सिद्ध, अपर—नित्यसिद्ध। साधनाद्वारा एवं भगवत्कृपावशतः संप्राप्तिसिद्धरूप सिद्ध दो प्रकार के हैं। साधनाद्वारा सिद्ध भी दो श्रेणियों में विभक्त हैं; जो मन्त्रादि का साधना कर सिद्ध हुए हैं, वे मन्त्रसिद्ध हैं; और जो योग-यागादि का अनुष्ठान कर सिद्ध हुए हैं, वे साधनासिद्ध हैं। कृपाप्राप्तसिद्ध भी दो श्रेणियों में विभक्त हैं; जिन्होंने स्वप्न में भगवान् के कृपालाभ किया है—वे स्वप्नसिद्ध हैं, और जिन्होंने साक्षात् रूप से भगवान् के कृपालाभ किया है—वे कृपासिद्ध हैं। और—

आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः।
नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत्॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः दः विः १/२९०

जिनके गुण मुकुन्द के समान नित्य और आनन्दरूप हैं और जो अपनी अपेक्षा भगवान् में कोटिगुण प्रेमविधान करते हैं, वे हैं **नित्यसिद्ध**।

ये नित्यसिद्ध व्यक्तिगण भगवान् के किसी कार्यसम्पादनार्थ समय-समय पर नरदेह का धारण कर अवतीर्ण होते हैं। और भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं, तब नित्यसिद्ध व्यक्तिगण उनके साथ पार्षदरूप में अवतीर्ण होकर उनके कार्यों में सहायता करते हैं। श्रीकृष्ण के प्रायः सारे गुण और अन्यान्य सिद्धिप्रदत्वादि सारे गुण भी नित्यसिद्ध व्यक्तियों में वर्तमान हैं।

प्रवर्तक, साधक और सिद्ध के लिए भिन्न-भिन्न साधनाप्रणालियाँ विहित हैं। यथा—

मन्त्र, नाम, भाव, प्रेम आर रसाश्रय।
एइ पञ्चरूप हय साधन आश्रय॥
प्रवर्तक, साधक, सिद्ध तथि मध्ये रय।
प्रवर्तकेर मन्त्राशय आर नामाश्रय॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

प्रवर्तक, साधक और सिद्धव्यक्तियों के साधनार्थ मन्त्र, नाम, भाव, प्रेम और रस ये पाँच आश्रयस्वरूप निर्दिष्ट हुए हैं। उनमें मन्त्र और नाम प्रवर्तक भक्तों के हैं; भाव, प्रेम एवं रस साधक और

सिद्धभक्तों के आश्रय हैं। सिद्धभक्त युगलरूप की नित्यलीला में नियत निमग्न रहकर, पूर्ण रसास्वादन किया करते हैं। वे आनन्दलीलारसविग्रह, हेमाभ दिव्यच्छवि, सुन्दर महाप्रेमरसप्रद पूर्णानन्द रसमयमूर्तिभावित होकर निरवच्छिन्न आनन्द में निमग्न रहा करते हैं।

लेखक का मन्तव्य

प्रेमभक्ति प्राप्त करते हुए स्वस्वरूप में वर्तमान रहकर भगवान् के लीलारस का माधुर्य आस्वादन करना ही जीव का चरम-साध्य है; सुतरां सार्वभौम धर्म है। साधना के द्वारा एक के बाद दूसरे धर्म में उन्नीत होना होता है। साधना के तीन उपाय हैं—**कर्म**, **ज्ञान** और **भक्ति**। ये तीनों उपाय ओतप्रोत सम्बन्ध से जड़ित हैं—एक सूत्र में गुँथे हुए हैं; इनमें से किसी को भी छोड़ने पर धर्म की पूर्णसाधना नहीं हो सकती। जिस प्रकार मछली दोनों तरफ के पंखों और एक पूँछ द्वारा जल में अनायास ही सन्तरण करती रहती है, किन्तु एक के बिना अन्य दोनों अङ्ग विकल हो जाते हैं—जिससे पहले की भाँति सुख से नहीं तैर पाती है; तद्रूप कर्म, ज्ञान और भक्ति के सहारे जीव धर्मराज्य में अक्लेश भ्रमण कर सकेगा, किन्तु इनमें से एक के अभाव में भी अन्य अकर्मण्य हो जायेंगे—फलतः जीव मोहान्धकार में निमग्न हो जाता है।

वर्तमान हिन्दुसमाज में यह दुर्दशा उपस्थित हो गयी है। बहुतों ने हिन्दुधर्मरूप कल्पवृक्ष का आश्रय छोड़कर परगाछा का अवलम्बन

किया है। इसी कारण कल्पवृक्ष का फल प्राप्त नहीं हो रहा है। तभी एकधर्माश्रित होकर भी आज ज्ञानवादी, कर्मवादी और भक्तिवादी परस्पर विद्वेषकोलाहल से धर्मजगत् में भीषण गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं। सम्प्रदायान्धगण ज्ञान, भक्ति और योग को लेकर अनर्थक विवाद करते हैं। वस्तुतः वे तीनों ही एक हैं। अन्य विषयों को त्याग कर परमात्मा को ही सदा बोधगम्य रखना प्रकृत ज्ञान का लक्षण है, और अनुराग की वस्तुओं में नियतचित्त रहना भक्ति का लक्षण है। इन दोनों को ही योगशास्त्र में चित्त समाधान अर्थात् **समाधि** कहते हैं। सुतरां अभीष्ट वस्तु में अनन्यचित्तता—भक्ति, योग और ज्ञान इन तीनों में ही है।

जो थोड़ा स्थूलबुद्धि हैं—दार्शनिक तत्त्व परिपाक नहीं कर पाते एवं संयम में अशक्त हैं, अथच हृदय से आवेगसम्पन्न हैं, वे ही भक्त्याभिमानी होते हैं। तादृश स्थूलबुद्धि व्यक्तिगण और जिनका हृदयावेग कम है, किन्तु शारीरिक संयम अधिक है, वे ही योगाभिमानी होते हैं। और जिनमें हृदयावेग और शारीरिक संयम का अभाव है, किन्तु दार्शनिक विषयों को आयत्त करने की क्षमता है, वे ज्ञानाभिमानी होते हैं। ये सबके सब अधम अधिकारी हैं। वस्तुतः उछल-कूद करना या शरीरिक संयम बरतना, किंवा केवल शास्त्रोपदेश या वक्तृता देना, प्रकृत भक्त या योगी या ज्ञानी के लक्षण नहीं हैं। सद्विषयों में तीव्र आवेग, पूर्ण शारीरिक संयम और सम्यक् प्रतिभा ये तीन नहीं रहने पर कोई भी भक्त, योगी या ज्ञानी कुछ भी नहीं हो सकता—किसी भी मार्ग से सिद्धिलाभ नहीं कर सकता।

एक समय इस देश में कर्मयोग का प्राधान्य था, किन्तु ज्ञान और भक्ति के अभाव में वह पुनः पुनः सकाम में परिणत हो गया, इसीलिए बुद्धदेव ने कर्म का सम्प्रसारण कर ज्ञानयोग का प्रचार किया था। किन्तु वह भी ईश्वर के सम्बन्ध में नीरवताप्रयुक्त नास्तिकंता और जड़त्व में परिणत हो गया। इसीलिए शङ्कराचार्य ने बौद्धधर्म की जड़ता को मिटाकर ज्ञान को सम्प्रसारणपूर्वक स्वीय सार्वभौम ज्ञानवाद में विलीन कर दिया। किन्तु वह भी शिक्षा के अभाव में मायावाद की कठोरता में परिणत होने पर, श्रीश्रीचैतन्यदेव ने अविर्भूत होकर उसके साथ प्रेमभक्ति मिलाकर हिन्दुधर्म को मधुर किया है। सुतरां धर्मपिपासु साधकलोग कर्म, ज्ञान और भक्तियोग के आश्रय में साधना कर मानवजीवन का पूर्णत्व प्रतिष्ठित करें।

श्रीचैतन्यदेव अन्तिम अवतार हैं, अतः चैतन्योक्त प्रेमभक्तिलाभ ही साध्यावधि अर्थात् चरम धर्म है। कर्म, ज्ञान और भक्ति की सहायता से प्रेमभक्तिलाभ ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अब तक हमने उसी प्रेमभक्ति प्राप्ति के उपाय ही विवृत कर आये हैं। फिर भी भक्ति के अधिकारी और स्तरभेद से उसकी साधना तथा साध्यफल के पृथक् पृथक् रूप से लिखित होने पर भी सुधीव्यक्तिगण उनमें से साध्य प्रेंमभक्तिलाभ के उपाय स्वरूप एक सार्वभौम पन्था ही देख सकेंगे। और भी देखेंगे कि, उस साधना पन्था के बीच कर्म, ज्ञान और भक्ति का अपूर्व समावेश रहा है। आधुनिक वैष्णवगण के "कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, सभी "विष का भांड" कहकर मुंशियाना चाल से विज्ञता का परिचय प्रदान करने पर भी

महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव के पार्षदस्वरूप श्रीमत् रामानन्द राय ने "स्वधर्माचरण से कृष्णभक्ति होती है" कहकर कर्मयोग में ही भक्ति की भित्ति स्थापित की है।

एक समय महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव राय रामानन्द को अतुल सम्मान प्रदान कर शिक्षार्थी शिष्य के समान प्रश्न पर प्रश्न करने लगे,—रामानन्द भावकण्टकितगात्र से आत्मविस्मृत और विह्वल होकर देवाविष्ट के समान उत्तर देने लगे। उसी प्रश्नोत्तर से हम अपने प्रतिपाद्य विषय की मीमांसा करेंगे। यथा—

प्रभु कहे कह मोरे साध्येर निर्णय।
राय कहे स्वधर्माचरणे कृष्णभक्ति हय॥
प्रभु कहे एह बाह्य आगे कह आर।
राय कहे कृष्णे कर्मार्पण साध्यसार॥
प्रभु कहे एह बाह्य आगे कह आर।
राय कहे स्वधर्मत्याग भक्ति साध्यसार॥
प्रभु कहे एह बाह्य आगे कह आर।
राय कहे ज्ञानमिश्रा भक्ति साध्यसार॥
प्रभु कहे एह बाह्य आगे कह आर।
राय कहे ज्ञानशून्या भक्ति साध्यसार॥
प्रभु कहे एहो हय आगे कह आर।
राय कहे प्रेमभक्ति सर्वसाध्यसार॥
प्रभु कहे एहो हय आगे कह आर।
राय कहे दास्य-प्रेम सर्वसाध्यसार॥

प्रभु कहे एहो हय आगे कह आर।
राय कहे सख्य-प्रेम सर्वसाध्यसार॥
प्रभु कहे एहोत्तम आगे कह आर।
राय कहे वात्सल्य-प्रेम सर्वसाध्यसार॥
प्रभु कहे एहोत्तम आगे कह आर।
राय कहे कान्ता-प्रेम सर्वसाध्यसार॥
प्रभु कहे एइ साध्यावधि सुनिश्चय।
कृपा करि कह यदि आगे किछु हय॥
राय कहे राधा-प्रेम साध्यशिरोमणि।
जाहार महिमा सर्व शास्त्रेते बाखानि॥

—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

अतएव प्रेममय-स्वभाव को प्राप्त कर राधाप्रेमास्वादन करना ही साध्यशिरोमणि अर्थात् चरमसाध्य है। वही चरमसाध्य स्वधर्माचरण से आरम्भ होकर क्रमशः निष्काम कर्म, स्वधर्मत्याग, ज्ञानमिश्रा भक्ति, ज्ञानशून्या भक्ति, प्रेमभक्ति, दास्यप्रेम, सख्यप्रेम, वात्सल्यप्रेम और कान्ताप्रेम में उत्तरोत्तर परिपुष्ट होकर राधाप्रेम में पर्यवसित होता है। सुतरां ये सब एक-एक स्वतन्त्रसाध्य भक्तिपन्था नहीं है; वे सब चरमसाध्य में उपनीत होने के क्रमोन्नति-स्तर मात्र हैं। स्वधर्माचरण से आरम्भ कर इन स्तरों के भीतर होकर साधना करते-करते अन्त में राधाप्रेम का अधिकारी बनना होगा। यह हमारी मनगढ़ंत बात नहीं है—प्रेमभक्ति-जगत् के श्रेष्ठ महाजन के द्वारा यह प्रकटित एवं रागमार्ग के रसिकभक्त के द्वारा कथित है। अतएव साधकलोग नाना

पन्थाओं को पकड़कर, नाना शास्त्रों को ढूँढ कर हैरान न होकर, इस पन्था का अवलम्बन करने से ही क्रमशः राधाप्रेम के अधिकारी होकर सर्वाभीष्टसिद्ध एवं नित्यपूर्णानन्द के अधिकारी होंगे—मृत्युलोक में अमरत्वलाभ एवं मानवजीवन के पूर्णत्व की प्रतिष्ठा कर सकेंगे। हम इसबार धारावाहिकरूप से प्रेमभक्तिलाभ के सार्वभौम पथ पर आलोचना व्यक्त करके इस विषय का उपसंहार करेंगे।

जो हठात् भगवत्कृपा प्राप्त कर प्रेमभक्ति के अधिकारी होकर कृतार्थ हो जाते हैं, उनकी बात अलग है; इस प्रकार के भाग्यवान् जीव कितने हैं, नहीं जानता। साधारणतः हमारे समान जीवों का अन्ततः उनकी कृपा आकर्षण के लिए भी नानाविध उपायों का अवलम्बन करना कर्तव्य है।

प्रथमतः भक्तिबीज वपन का उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करना होगा —एतदर्थ धर्माचरण की व्यवस्था है। मानवजीवन का संगठन करने के लिए सबसे पहला विषय है शिक्षणीय विषय Discipline अर्थात् शृङ्खला। जो व्यक्ति शुरु से ही किसी विधिमार्ग पर नहीं चला है, उसमें व्यभिचार आकर उपस्थित हो जाता है, विशृङ्खलता की आवर्जना उसके समस्त जीवन से चिपक जाती है—उच्छृङ्खलता से स्वेच्छाचारिता आती है, स्वेच्छाचारिता मनुष्य को धीरे-धीरे अधोगति के पथ पर खींच लाती है। अतः धर्माचरण ही साध्य है, कारण धर्माचरण से चित्तशुद्धि होकर मानव में भगवद्भक्ति का उदय होता है। जो जिस गुण से जन्मा है, उसके उसी गुणोचित कार्यानुष्ठान का नाम ही **स्वधर्माचरण** है। स्वधर्माचरण से साधक का गुणक्षय होकर ज्ञान-भक्ति का विकास होता है।

किन्तु कर्मानुष्ठान से जिस प्रकार गुणक्षय होता है, उसी रूप में फिर गुणसञ्चय भी होता रहता है; तभी कर्मानुष्ठान के साथ "कर्मफल" भगवान् को समर्पण करने की व्यवस्था है। यह निष्काम कर्मानुष्ठान कर, विधिमार्ग पर चलने से उसका अभिमान नष्ट एवं चित्तचाञ्चल्य दूरीभूत होता है—इसीसे ज्ञान का विकास होता रहता है। उस समय उसका जीवन विधिमय एवं कर्म भगवदर्पित होने से फिर उसके द्वारा समाजभङ्ग की आशङ्का नहीं रहती है। अभी स्वतन्त्रता ही उसकी उन्नति है, और उसे विधिमार्ग की सीमा में रखना कर्तव्य नहीं है। अतः उसका **स्वधर्मत्याग ही** धर्म है। तब विशुद्धचित्त से साधक शास्त्रादि विचार द्वारा, नित्यानित्यविवेक द्वारा, जगत् के सृष्टिकौशल द्वारा ज्ञानालोचना करेगा।

इस ज्ञान से जब इन्द्रियग्राह्य यावतीय विषयों का परित्याग कर इहामूत्रार्थफलभोगविराग उत्पन्न होने पर एकमात्र भगवान् को आश्रय और अवलम्बन करेगा, तब भगवान् के प्रति जिस अनुराग या आसक्ति का सञ्चार होगा, वही **ज्ञानमिश्रा** भक्ति है। प्रकृत भक्ति का यही प्रथम स्तर है। इस भक्ति में स्तवस्तुति रहती है, प्रार्थना-मिनति रहती है, आराधना-उपासना सभी रहती हैं। इसीसे इसका नाम साधनभक्ति है।

तत्पश्चात् क्रमशः साधक का चित्त भगवान् में एकाग्र होता है—भक्ति की गोद में आत्मसमर्पण कर, उनकी स्निग्धतनु के स्पर्श से संसार-कोलाहल भूल जब समग्र हृदयवृत्तियों के साथ साधक उनमें मज जाता है, तब ज्ञान का बन्धन खुल जाता है। **ज्ञानशून्या** होने से भक्ति तद्गता होती है,—स्वार्थचिन्ता नहीं रहती, विचार नहीं रहता—सोलह आने ही तुम हो।

ज्ञानशून्या विशुद्धा भक्ति की साधना से क्रमशः भगवान् का महिमज्ञान दूर जाता है, अर्थात् भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, पाप-पुण्य के दण्डदाता हैं, सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता हैं प्रभृति ऐश्वर्यज्ञान दूरीभूत होकर प्रेम का सञ्चार होता है। तब वे मेरे प्राण हैं, मेरे प्राणों के प्राण हैं, इसी ज्ञान से पुत्र के समान, भृत्य के समान, प्रेमपूर्ण हृदय से भगवान् की सेवा करने की वासना जन्मती है। यहीं पर रागानुगा भक्ति दर-असल **भावभक्ति** में पर्यवसित हुई।

भाव के मोह में विभोर हो पाने पर भगवान् अपने हो जाते हैं, निकट में आते हैं। साधना में **दास्यभाव** पुष्ट होकर दास्य का सङ्कोच दूर होता है, तब भगवान् में प्राणों का प्रेम-सखीत्व अर्पित होता है। सख्यप्रेम की क्षीरधारा में भगवान् परितृप्ति प्राप्त कर आनन्दित और प्रीत होते हैं। **सख्यभाव** में भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। तव व्रज के राखालबालकों के समान असङ्कोच भगवान् के साथ खेलना, कन्धे पर चढ़ना, एक साथ शयन-भोजन, वनपल्लवों से व्यजन, वनफूलमालाओं से विभूषण प्रभृति करके भक्त विभोर हो जाते हैं। उनके अभाव में उन्हें सबकुछ सूना नजर आता है।

यह सख्यभाव परिपुष्ट होने पर **वात्सल्यभाव** का सञ्चार होता है। तब साधक भगवान् को स्वयं की अपेक्षा भी क्षुद्र समझा करते हैं। भक्त स्वयं माता-पिता होकर भगवान् का शिशु-पुत्र के समान आदर-यत्न करने लगते हैं। आपना स्वार्थ भूलकर—वासना-कामना का विसर्जन देकर, एकमात्र पुत्र-सेवा ही जनक-जननी का ध्यान-ज्ञान हो जाता है। पुत्र से माता-पिता कुछ भी नहीं चाहते; अपना

भूलकर तथा सर्वस्व देकर पुत्र के सुख-स्वास्थ्य में ही व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार का भाव भगवान् के प्रति जन्मने पर उसे वात्सल्यभाव कहते हैं। नन्द-यशोदा की वात्सल्यभक्ति में भगवान् बालक सजकर यशोदा का स्तन्यपान तथा नन्द की बाधा अपने सर वहन कर चुके थे।

वात्सल्यभाव की परिपाकदशा में जब भक्त आत्महरा हो जाते हैं, उनके समस्त देह-मन-बुद्धि भगवान् में समर्पित हो जाते हैं, उस अवस्था को **कान्ताभाव** कहते हैं। पत्नी जिस प्रकार पति से प्रेम करती है, उसी प्रकार प्राण देकर, यौवन-जीवन देहभार समर्पण कर भगवान् से प्रेम करने पर तब उन्हें प्राप्त हुआ जाता है; यही साध्य की अन्तिम अवस्था है—भावभक्ति की यही उत्कृष्ट अवस्था है।*

भक्त तब सर्वप्रकार वेदविहित कर्म और लोकधर्म का विसर्जन देकर केवल प्रेमकारुण्यकण्ठ से गाने लगते हैं—

---

* मत्प्रणीत ''ब्रह्मचर्य-साधन'' नामधेय पुस्तक के नियमानुसार ब्रह्मचर्य पालन करने से चित्तशुद्धि होगी। तब मनःस्थिर करने के लिए ''योगी गुरु'' पुस्तक की आसन-मुद्रा प्रभृति छोटी-छोटी योगोक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करो एवं ''ज्ञानी गुरु'' पुस्तक की लिखित आलोचना करो। तत्पश्चात् ''योगी गुरु'' या ''ज्ञानीगुरु'' पुस्तकोक्त साधना से सूक्ष्मरूप से ब्रह्मोपलब्धि किंवा ''तान्त्रिकगुरु'' पुस्तकोक्त स्थूल साधना से भगवत्-साक्षात्कार करो। तदनन्तर ''प्रेमिकगुरु'' पुस्तक में लिखित साधना से गोपिकानिष्ठ प्रेममय स्वभाव प्राप्त करते हुए भगवान् के असमोर्ध्व लीला-रसमाधुर्य में अनन्त काल के लिए निमग्न हो जाओ। सुतरां मत्प्रणीत इन कई पुस्तकें पृथ्वी के समस्त धर्म-सम्प्रदायों के धर्म सम्बन्धी सारे अभावों को पूर्ण करेंगी।

तपः-जप आर आह्निक पूजन
मूलमन्त्र आमार तुमि एकजन
तव नाम-गान-श्रवण-कीर्तन
साधन-भजन आमार हे;
गया गङ्गा वाराणसी वृन्दावन,
कोटीतीर्थ आमार ओ-राङ्गाचरण,
तव सम्मिलने एइ सामान्य भवन,
नन्दनकानन-समान हे।

सती जिस प्रकार पति के बिना और कुछ भी नहीं जानती, भगवान् में उसी प्रकार का भाव जन्मने पर उसे कान्ताभाव कहते हैं। किन्तु प्रेमिकऋषि प्रेमभक्तितत्त्व में सिर्फ कान्ताप्रेम दिखाकर ही निश्चिन्त नहीं हो सके, स्वकीय कान्तास्थल पर परकीया कान्ताभाव ग्रहण किये हैं। कारण, पति-पत्नी के सम्बन्ध में भी लगता है कुछ दूर-दूर का भाव है। पत्नी पति को खूब निकट तो देखती हैं सच, अथच मानों कुछ उच्च-उच्चभाव से—प्रभुभाव से देखती हो। केवल जो ललनाएँ छिपकर अपर पुरुष की अनुरागिणी होती हैं, उनके प्रेम में वह प्रभुभाव—दूरभाव नहीं है। तभी कान्ताप्रेम में **परकीया भाव** ही गृहीत हुआ है।

जो इस मधुरभाव में डुबे हैं, उनका बाहर का धर्म-कर्म नहीं रहता है। वे वेद-विधि के बिना हैं। वे प्रेमसुधापान में मत्त होकर लज्जा-भय त्याग करते हैं, जाति-कुल का अभिमान सदा के लिए सागर के अतल तल में निक्षेप करते हैं। व्रजगोपियों का कामगन्धहीन

प्रेम मधुररस का परम आदर्श है। गोपियाँ कृष्ण के विरह में जर्जर हैं, कभी कृष्ण को "निर्दय" "कठोर" कहकर सम्बोधन कर रही हैं, तो कभी अभिमान में स्फीत होकर "उनका नाम नहीं लूँगी" कहकर दृढ़ सङ्कल्प कर रही हैं, किन्तु प्राणों का उच्छ्वास रोककर रखने की शक्ति नहीं है, तभी तो फिर कभी हृदय के आवेग से सबकुछ भूलकर "दर्शन दो" कहकर हाहाकार कर रही हैं। इस अवस्था में विरह में विष की ज्वाला और मिलन में अनन्त तृप्ति मिलती है। विरह में विष की ज्वाला होने पर भी प्राणों में अमृत झरता रहता है। इस समय का प्राणों का भाव भाषा में व्यक्त करना असम्भव है। तब भगवान् को—हृदयवल्लभ को छाती फाड़कर हृदय के भीतर घुसा कर रखने से भी प्यास नहीं मिटती है। भगवान् के साथ हृदय से हृदय तथा मुख से मुख मिलाकर अर्थात् एकाकार होकर रहने से तदीय सम्भोग-सुधापान कर आत्महरा हो जाते हैं। उनका विश्वमय ईश्वरस्फूर्ति और ईश्वरानुभव हुआ करता है; वे अपना अस्तित्व सम्पूर्णरूप से प्रियतम के अस्तित्व में निमज्जित कर भगवत्तन्मयत्व को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के भक्तों के सुख की इयत्ता नहीं रहती; उनका कुल धन्य है, उनकी अधिष्ठानभूमि धन्य है।

यह गोपिकानिष्ठ मधुरभाव क्रमशः प्रेमविलास-विवर्त से पुष्ट होकर महाभाव में पर्यवसित होकर प्रौढ़दशा में **प्रेमभक्ति** आख्या प्राप्त होता है। इस अवस्था में भक्त निरन्तर भगवान् के अनिर्वचनीय प्रेमरसार्णव में परमानन्द से सन्तरण किया करते हैं। अनन्तर प्रेममय

स्वभाव प्राप्त कर देहान्त के पश्चात् राधाश्याम के महारास के महामञ्च पर मिलकर तदीय लीलारसमाधुर्य के आनन्द में अनन्त काल के लिए निमग्न होकर एक हो जाते हैं।

वह सुनो, मधुर वीणा कलतान से बज-बज कर जीव को रस-उपभोग के लिए आह्वान कर रही है, जाओ—मिलो, —आनन्द-मिलन में,—सुख-मिलन में—रस-मिलन में। सुख की लपलपाती तृष्णा से जीव की इतनी आकुल आकाङ्क्षा,— मनुष्यमात्र ही रस के लिए लालायित है, किन्तु मरणधर्मशील पार्थिव पदार्थों में सुख की आशा विडम्बना मात्र है; मरीचिका में जलभ्रम के समान रस के लिए मिथ्या दौड़-धूप करने से दग्धकण्ठ से प्राणवियोग होगा। जीव यदि प्रेमभक्ति की साधना से गोकुलाख्य महाधाम पर उपस्थित होकर सखीभाव में प्रेमसेवोत्तरा गति को प्राप्त कर सका, राधाकृष्ण का मिलनानन्द अनुभव कर सका, तो पूर्णतम रस, पूर्णतम सुख और परिपूर्ण आनन्द प्राप्त करते हुए कृतार्थ हो सकेगा।

यदि सुख चाहते हो, हृदय को सुखस्वरूप भगवान् में अर्पित करो। यदि रस चाहते हो, वृत्ति-समुदाय को पूर्णतम रसविग्रह ईश्वर में समर्पित करो। यदि कामदमन कर कामरूप होना चाहो, तो मदनमोहन में मन की कामना-वासनाएँ अर्पित करो। यदि जगत् की सर्वशक्ति को वशीभूत करना चाहो—तो ह्लादिनी-शक्ति-मिलन-रसानन्द श्रीकृष्ण में सर्वशक्ति का अर्पण करो। सुख और कहीं नहीं है, नित्यसुख सुखमय **श्रीकृष्ण में** है—आनन्द और कहीं नहीं है, पूर्णानन्द ह्लादिनीशक्ति **श्रीराधा में** है—सुतरां रस और तो कहीं नहीं

है—**श्रीश्रीराधाकृष्ण** के **युगलमिलन** में है। अतएव सर्वेन्द्रिय संयत कर, प्रेमभक्ति से हृदय पूर्णकर प्रेमकारुण्यकण्ठ से बोलो, "मैं एकमात्र उन्हीं का चरणानुरक्त हूँ, मुझे वह छाती पर चिपकाकर पकड़कर पेषण ही करे, और दर्शन न देकर मर्माहत ही करे, वह लम्पट जो भी करे न क्यों, मेरा प्राणनाथ उससे भिन्न और कोई नहीं है।" यथा—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्माहतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

ॐ हरिः ॐ

उत्तरस्कन्ध

जीवन्मुक्ति

प्रेमिकगुरु

उत्तरस्कन्ध—जीवन्मुक्ति

भक्ति ही मुक्ति का कारण

एकमात्र परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ भक्तियोग व्यरिरेक यागयज्ञादिरूप लौकिक क्रियाकाण्डों के अनुष्ठान द्वारा अथवा किसी प्रकार की देवी-देवताओं की पूजा-अर्चनादि के द्वारा किंवा तीर्थस्नान द्वारा जीव कभी भी मुक्तिलाभ में समर्थ नहीं होता है। जप-तप-प्रतिमापूजादि बालिकाओं की सांसारिक कर्मबोधिका कठपुतली के खेल के समान है, जब तक उनके पति से उनका सम्मिलन नहीं होता है, वे तब तक खेलती हैं, तत्पश्चात् वे उन सारी कठपुतलियों को पेटिका में बन्द कर रख देती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७/२४-२५

—मैं सबके सामने प्रकाशित नहीं होता, इस कारण मूढ़व्यक्तिगण मेरी माया के द्वारा सम्यक् आच्छन्न होकर, उत्पत्ति-ह्रास-वृद्धिरहित मुझे नहीं जान सकते। संसार से अतीत जो मेरा शुद्ध नित्यसत्य स्वभाव है, अल्पबुद्धि लोग सब वह नहीं जान पाकर अज्ञताप्रयुक्त मुझे मनुष्यादि की तरह अवयवादिविशिष्ट ज्ञान करते हैं।

कल्पित उपासना से चित्तशुद्धि मात्र होती है, तद्द्वारा जीव को कभी भी मुक्तिलाभ नहीं होता। सुतरां कोई व्यक्ति उस अविनाशी शुद्धबुद्ध परमेश्वर को नहीं जान कर यदि इहलोक में बहुसहस्र वर्ष होम-याग-तपस्यादि करता है, तथापि उसे स्थायिफल प्राप्त नहीं होता। यथा—

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः॥
मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं बिना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

—पञ्चदशी, ६/२०९-२१०

—जो व्यक्ति जिस किसी वस्तु की जिस प्रकार से उपासना करता है, वह अवश्य ही उसके अनुरूप फल प्राप्त करता है। और पूज्यवस्तु के स्वरूप और पूजानुष्ठान के तारतम्य के अनुसार फल का उत्कर्ष और अपकर्ष हुआ करता है। किन्तु मुक्तिफल को प्राप्त करने का निमित्त ब्रह्मतत्त्वज्ञान के अतिरिक्त और उपायान्तर नहीं है, जैसे स्वीय स्वप्नावस्था निराकरण के निमित्त जागरण के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है। अतएव—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३/८

—उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु से उत्तीर्ण होता है, मुक्ति प्राप्ति का और अन्य पथ नहीं है, सुतरां ब्रह्मतत्त्वपरिज्ञान के बिना अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं हो सकती।

फिर भक्तिद्वारा वह ज्ञान प्राप्त हुआ करता है; भगवान् में, आत्म या ब्रह्मतत्त्व में प्राणों का प्रबल अनुराग, परा अनुरक्ति वा ऐकान्तिक भक्ति नहीं जन्मने से ज्ञान कदाच प्रकाशित नहीं हो सकता। यथा—

ज्ञानात् सञ्जायते मुक्तिर्भक्तिर्ज्ञानस्य कारणम्।
धर्मात् सञ्जायते भक्तिर्धर्मो यज्ञादिको मतः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता, १/४९

यज्ञादिद्वारा धर्मलाभ, धर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञान से ही मुक्तिलाभ हुआ करता है।

मुक्ति का उपाय ज्ञान है, ज्ञान का उपाय भक्ति है, सुतरां भक्ति ही मुक्ति का कारण है। अरएव जो साधकोत्तम मुक्ति की इच्छा करेगा, वह तद्भक्तिपरायण होकर उनके पूजादि-प्रसङ्गों में प्रीतियुक्तमानस होगा। कायमनोवाक्यद्वारा उन्हें आश्रय करेगा, सर्वदा उनमें मनोनिधान की चेष्टा करेगा एवं तद्गतप्राण होगा। सर्वदा उनके प्रसङ्ग, उनके गुणगान और उनके नामजप में समुत्सुक होगा। स्वीय स्वीय वर्णाश्रमोचित और वेदविहित एवं स्मृत्यनुमोदित पूजायज्ञादि के द्वारा उन्हीं की अर्चना करेगा, अर्थात् कामनाविरहित होकर वे समस्त क्रियानुष्ठान

भगवत्प्रीत्यर्थ ही करेगा। उसके द्वारा क्रमशः जब भक्ति दृढ़तरा होगी, तदनन्तर ही तत्त्वज्ञान होगा; उसी तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्तिलाभ होगा। भक्तिलाभ के होने पर और वर्णाश्रमोचित कर्म, तपस्या, योग, याग, पूजादि का प्रयोजन नहीं रह जाता। भगवान् ने कहा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

—श्रीमद्भागवत, ११/२०/९

"जब तक निर्वेद अर्थात् विषय के प्रति वैराग्य न जन्मता और जब तक मेरी कथाओं इत्यादि में श्रद्धा न जन्मती, तब तक वर्णाश्रमविहित सारे कर्म करो।"

इस प्रकार शास्त्रविधिविहित कर्म कर, जब अन्तःकरण निर्मल हो जायेगा, तब भक्ति उद्रिक्त होकर सर्वदा इच्छा होगी कि कितने दिनों में परमधन प्राप्त करूँगा। और तब जगत् की यावतीय वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न होकर, जिसके द्वारा भगवान् का सच्चिदानन्दस्वरूप नित्यविग्रह में मनोनिवेश होता रहता है, तदुपयोगी वेदान्तादि शास्त्रों में रुचि होती है। गुरूपदेश के साथ उन समस्त अध्यात्म-शास्त्रों की चर्चा करते-करते उनके नित्य कलेवर का—वही अपार आनन्दसागर किसी भी समय में अत्यल्पकाल के लिए अन्तःकरण में स्पर्श होता है, तो उसीसे ही जगत् के यावतीय पदार्थों का अत्यल्प जघन्य सुख के कारण के रूप में बोध होता है, उसके लिए किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं रहती है; सुतरां कामना का परित्याग हो जाता है। समुदाय जीव-जगत् में भगवत्सत्ता का निश्चय होकर सकल

जीवों के प्रति ही परम यत्न उपस्थित होती है, सुतरां हिंसा का भी परित्याग होता है। इस प्रकार भावापन्न होते ही तत्त्वविद्या आविर्भूता होती है, इसमें सन्देह नहीं। तत्त्वज्ञान उपस्थित होते ही उनका नित्यानन्दविग्रह जो परमात्मभाव है, वही साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, उसीसे ही साधक को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

मुक्ति का कारणस्वरूप जो भक्ति है, सहस्र-सहस्र मनुष्यों में कोई एक भगवान् में उस प्रकार से भक्तियुक्त होता है, और सहस्र-सहस्र भक्तियुक्त व्यक्तियों में कोई तत्त्वज्ञ भी हो जाता है। भगवान् का जो रूप परमसूक्ष्म, सुनिर्मल, निर्गुण, निराकार, ज्योतिःस्वरूप, सर्वव्यापी अथच निरंश, वाक्यातीत, समस्त जगत् में अद्वितीय कारणस्वरूप, समस्त जगत् का आधार, निरालम्ब, निर्विकल्प, नित्यचैतन्य, नित्यानन्दमय है, भगवान् के उसी रूप का मुमुक्षु व्यक्ति देहबन्धविमुक्ति के लिए अवलम्बन करते हैं। मायामुग्ध व्यक्तिगण सर्वगत अद्वैतस्वरूप परमेश्वर के अव्ययरूप को नहीं जान सकते हैं। किन्तु जो भक्तिपूर्वक भगवान् को भजते हैं, वे ही उनके परमरूप से अवगत होकर मायाजाल से उत्तीर्ण होते हैं। सूक्ष्मरूप के समान स्थूलरूप में भी वे इस समस्त विश्व में परिव्याप्त हैं; सुतरां समस्त रूप ही उनके स्थूलरूप में गण्य हैं। तथापि अपनी-अपनी गुरूपदिष्ट ध्येयमूर्तियों की ही आराधना करनी होगी, कारण वही शीघ्र मुक्तिदान में समर्थ है। इस प्रकार उपासना करते-करते जब प्रगाढ़ भक्ति का उदय होता है, तब परमात्मस्वरूप इष्टदेवता का सूक्ष्मरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। तब जगत् की किसी रमणीय

वस्तु तदपेक्षा रमणीय वस्तु के रूप में प्रतीत नहीं होती,—जगत् का कोई लाभ तल्लाभ से अधिक मालूम नहीं होता; मनप्राण उनके प्रेमरस-माधुर्य में चिरकाल के लिए डूब जाता है। उससे वे महात्मा दुःखालय अनित्य पुनर्जन्म और नहीं भोगते। अनन्यमना होकर जो व्यक्ति भगवान् का सर्वदा स्मरण करते हैं, वे अचिर में ही उस दुस्तर संसार-सागर से उद्धारप्राप्त हो जाते हैं। अर्जुन से श्रीकृष्ण ने यही कहा था—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०/१०

—जो लोग मुझे सतत श्रद्धा के साथ भजते हैं, मैं उन्हें इस प्रकार बुद्धि (ज्ञान) प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हों।

सुतरां भक्ति ही जो एकमात्र मुक्ति का कारण है, वह अविसंवादिरूप से प्रमाणित हुआ। तत्त्वदर्शी अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा था,—"हे कृष्ण! जो लोग तद्गतचित्त से तुम्हारी उपासना करते हैं एवं जो लोग केवल अक्षर और अव्यक्त ब्रह्म की आराधना किया करते हैं, इन उभयविध साधकों में कौन श्रेष्ठ योगी के रूप में निर्दिष्ट होते हैं ?"

तदुत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा था,—"हे अर्जुन ! जो लोग मेरे प्रति नितान्त अनुरक्त और निविष्टमना होकर परमभक्ति के साथ मेरी उपासना किया करते हैं, वे लोग ही प्रधान योगी हैं। और जो लोग सर्वत्र समदृष्टिसम्पन्न हैं, सर्वभूतों के हितानुष्ठान में निरत और जितेन्द्रिय

होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, निर्विशेष, कुटस्थ एवं नित्य परब्रह्म की उपासना करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं। फिर भी देहाभिमानिगण बड़े कष्ट से अव्यक्तगति को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अतएव जो लोग अव्यक्तब्रह्म में आसक्तमना होते हैं, वे लोग अधिकतर दुःख भोग किया करते हैं। किन्तु जो लोग मत्परायण होकर मुझमें समस्त कर्म समर्पणपूर्वक एकान्त भक्ति के साथ मुझे ही ध्यान करते हैं, मैं उन्हें अचिरकाल में मृत्यु के आकर संसार से मुक्त करता हूँ।"

सर्वमतसमञ्जस मुक्तिपथप्रदर्शक शिवावतार भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—मुक्तिलाभ के जितने प्रकार के कारण शास्त्रकारों ने निर्देशित किये हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

—विवेकचूड़ामणि, ३२

—जितने सारे मुक्ति के कारण हैं, एकमात्र भक्ति ही उनमें गरीयसी है। भगवती पार्वतीदेवी ने भी पिता गिरिराज से कहा था—

भवेन्ममुक्षु राजेन्द्र मयि भक्तिपरायणः।
मदर्चाप्रीतिसंसक्तमानसः साधकोत्तमः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता, १/४७

—हे राजेन्द्र ! मुक्तिलाभ की इच्छा रहने पर मुझमें भक्तिपरायण होकर मेरी अर्चना में ही मनोनिवेश करनी होगी।

तत्त्वज्ञान के विकास होने पर ही साधक की मुक्ति हुआ करती है, उसी ज्ञान का प्रधान साधन ही भक्ति है, यह सर्वशास्त्रानुमोदित है।

अरएव मुमुक्षुव्यक्ति कामनाविरहित होकर भक्तिपूर्वक श्रुतिस्मृतिविहित स्ववर्णाश्रमकर्तव्य यज्ञ, तपस्या और दान के द्वारा भगवान् के प्रीत्यर्थ ही उनकी अर्चना करेगा। इस प्रकार विधि-प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान करते-करते जब चित्तनिर्मल हो जायेगा, तब आत्मज्ञान के लिए समुद्युक्त होगा और सर्वदा ही मुक्तिलाभ की इच्छा बलवती होगी। तब पुत्रमित्रादि समस्त बन्धुवर्ग में कारुण्यभावविरहित होकर वेदान्तादि शास्त्रचर्चा में ही अथवा भगवान् के गुणध्यानानुशीलन में ही मन सन्निविष्ट होगा। उस समय कामादि रिपुगण और हिंसादि वृत्तिसमुदाय हृदय से अन्तर्हित हो जायेंगे। इस प्रकार के अनुष्ठानशील व्यक्ति का तत्त्वज्ञान विकसित होता है, इसमें सन्देह नहीं है। इस तत्त्वज्ञान का विकास होते ही आत्मप्रत्यक्ष होता है एवं तादृश अवस्था होते ही मुक्तिलाभ हुआ करता है।

अतएव भक्ति ही मुमुक्षुव्यक्ति के लिए एकमात्र श्रेष्ठ साधन है। भक्तियोग से ही मनुष्य अपनी आत्मा, अपना धर्म, अपना कर्म, अपना ज्ञान, कुल-शील, ख्याति-जाति, मान-यशः, पुत्र-कलत्रादि भगवच्चरण में अर्पण कर उनके स्वरूपानन्द में मत्त हो सकता है। भक्तियोग से ही मनुष्य भगवान् के असमोर्ध्व प्रेम-रसमाधुर्य में प्रमत्त होकर अपने जन्म-जन्मान्तर का संस्कार मिटाकर वर्तमान जीवन के संस्कार मिटाकर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। व्रज की कृष्णप्रेमपागलिनी आभीररमणियों ने श्रीकृष्ण के विरह में आत्महरा होकर तदीय ध्यान-मनन करते-करते स्वयं को 'श्रीकृष्ण' कहकर उल्लेख किया था एवं उनकी लीलादि का अनुकरण किया था। महाप्रभु गौराङ्गदेव ने भगवत्प्रेम में उन्मत्त होकर स्वयं को भूलकर

भगवान् के महाभाव में स्वीय माता के मस्तक पर अपना पद स्पर्श कराकर आशीर्वाद किया था। सुतरां भक्तियोग में ही स्वरूपतत्त्व अर्थात् "सोऽहं" ज्ञान प्राप्त कर स्वल्पायास से मोक्ष-प्राप्त किया जा सकता है। अतएव मुक्ति का प्रधान कारण ही भक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। जो लोग आनन्द के प्रस्रवणस्वरूप मुक्तिदाता परमेश्वर में भक्तिपरायण न होकर अन्य उपाय से मुक्ति-अन्वेषण करते हैं, वे लोग घृत का परित्याग कर एरण्डतैल मात्र भक्षण किये रहते हैं; किन्तु निरतिशय आनन्द उपभोग कर उनका संसार में ही कृतार्थ होना तो दूर की बात, वे सातिशय दुःख ही भोगते हैं। मगर यह सर्वदा ही स्मरण रहे, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमुख से कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १८/६२

—हे भारत ! सर्वावच्छेद से तुम उन्हीं के (परमेश्वर के) शरणापन्न होओ, उनके प्रसाद से पराशान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।

भगवती पार्वतीदेवी के श्रीमुखविगलित सुधाधारास्वरूप तत्त्वोपदेश से फिर से कहता हूँ—अवश्य स्मरण रहे, "हे पितः ! जो लोग मेरे प्रति भक्तिसम्पन्न नहीं हैं, उनके लिए मुक्तिलाभ नितान्त ही दुःसाध्य है; अतएव मुमुक्षु व्यक्तिगण यत्नपूर्वक मेरे प्रति भक्तिपरायण होंगे।" यथा—

किन्त्वेतद्दुर्लभं तात मद्भक्तिविमुखात्मनाम्।
तस्माद्भक्तिः परा कार्या मयि यत्नान्मुमुक्षुभिः॥

—श्रीमद्भगवतीगीता १/५६

"सबका मूल भक्ति है, मुक्ति उसकी दासी है" यह प्रचलित कथन भी स्मरण रखने का अनुरोध करता हूँ।

मुक्ति के स्वरूप लक्षण

इस रोग, शोक, जरा, मृत्युमय संसार में जन्मग्रहण कर प्रकृत ज्ञानिव्यक्तिगण चिरकाल से ही मुक्तिरूप निरापद स्थान को प्राप्त करने के लिए यत्न करते आये हैं। सभी देशों के सभी मनीषिगण मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनी-अपनी समस्त गम्भीर गवेषणापूर्ण युक्तियों को व्यक्त कर गये हैं। उनकी प्रदर्शित युक्तियों में मुक्ति के भावपक्ष में अनैक्य रहने पर भी अभावपक्ष में सभी का प्रायः ऐक्यमत है। हम इस प्रबन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य देशीय समस्त प्रसिद्ध दार्शनिक बुधमण्डली के मतों को उद्धृत कर मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में आलोचना करेंगे। आशा है, पाठकगण उससे मुक्ति के स्वरूपविषय में सार्वभौम और सर्वसमन्वयी मत को ग्रहण कर निःसंशय हो सकेंगे।

हिन्दुशास्त्रानुसार मुक्ति साधारणतः दो भागों में विभक्त है, यथा—**ज्ञान-मुक्ति और कर्मज-मुक्ति**। प्रथम ज्ञानमुक्ति अर्थात् ज्ञान के द्वारा जो मुक्ति मिलती है, उसे "निर्वाण" या "विदेहकैवल्य" मुक्ति कहते हैं एवं वह चरमतम मुक्ति समझी जाती है। यही मुक्ति अनन्तकालव्यापी मुक्ति है। द्वितीय कर्मज-मुक्ति अर्थात् कर्मद्वारा जो मुक्ति मिलती है, वह निर्दिष्टकालव्यापी मुक्ति है।

यह कर्मज-मुक्ति अर्थात् याग-यज्ञ, तपस्यादि का अनुष्ठान, काशी प्रभृति स्थानों में तनुत्याग इत्यादि के द्वारा जो मुक्ति मिलती है, वह फिर चार भागों में विभक्त है। यथा—सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य है।

मां पूजयति निष्कामः सर्वदाज्ञानवर्जितः।
स मे लोकं समासाद्य भुङ्क्ते भोगान् यथेप्सितान्॥
—शिवगीता, १३/४

—जो व्यक्ति अज्ञानवर्जित तथा निष्काम होकर सर्वदा भगवान् की अर्चना करता है, वही व्यक्ति भगवल्लोक में गमनपूर्वक वाञ्छित भोग का उपभोग करता है, इसे **सालोक्यमुक्ति** कहते हैं।

ज्ञात्वा मां पूजयेत यस्तु सर्वकामविवर्जितः।
मया समानरूपः सन्मम लोके महीयते॥
—शिवगीता, १३/५

—जो व्यक्ति परमेश्वर से ज्ञात होकर विषय-वासना का परित्याग करते हुए उनकी पूजा करता है, वही व्यक्ति स्वीय इष्टदेवता के सदृश रूप धारण कर तदीय लोक में गमन करता है। यही **सारूप्यमुक्ति** है।

सैव सालोक्यसारूप्यसामीप्या मुक्तिरिष्यते॥
—मुक्तिकोपनिषद्, १/२३

—यही सालोक्य-सारूप्यमुक्ति ही **सामीप्यमुक्ति** का स्वरूप है। इसीलिए सामीप्यमुक्ति को फिर एक अलग मुक्ति के रूप में गणना नहीं की गई है।

इष्टापूर्तादिकर्माणि मत्प्रीत्यै कुरुते तु यः।
सोऽपि तत्फलमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा॥

—शिवगीता, १३/६

—जो व्यक्ति भगवत्प्रीत्यर्थ इष्टापूर्त्तादि कर्मसमूहों का अनुष्ठान करता है, वही व्यक्ति उत्तम लोक में गमन करता हुआ उसी उसी कर्मों का उपयुक्त फल भोग करता है। इसी को ही **सार्ष्टिमुक्ति** कहते हैं।

यत् करोति यदश्नाति यज्जुहोति ददाति यत्।
यत्तपस्यति तत् सर्वं यः करोति मदर्पणम्।
मल्लोके स श्रियं भुङ्क्ते समतुल्यप्रभाववान्॥

—शिवगीता, १३/७

—किसी कर्म का अनुष्ठान, भक्षण, होम, दान और तपस्या इत्यादि किसी भी कर्म क्यों न हो, जो व्यक्ति ये सारे कर्म और कर्मफल भगवान् को समर्पण कर देता है, वही व्यक्ति उनके तुल्य प्रभावशाली होकर तदीय लोक में गमनपूर्वक सुखभोग करता है; इसी का नाम है **सायुज्यमुक्ति**।

"इति चतुर्विधा मुक्तिर्निर्वाणञ्च तदुत्तरम्" अर्थात् इस चतुर्विध मुक्ति के पश्चात् है **निर्वाणमुक्ति**। ज्ञानिव्यक्तिगण निर्वाण के बिना कभी भी एक निर्दिष्टकालस्थायी इन चार प्रकार की मुक्तियों के पक्षपाती नहीं होते। कारण इन मोक्ष कर्मादि के द्वारा प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका क्षय है। परिमितकाल के लिए सुखभोग हो सकता है, किन्तु उतने काल के पश्चात् पुनः दुःख उपस्थित हो जाता है।

अतएव ये सारे सम्यक् मुक्ति के उपाय नहीं हैं—रोग आरोग्य होकर फिर उत्पन्न होने पर उसे प्रकृत आरोग्य नहीं कहा जाता। आत्यन्तिक दुःखमोचन या स्वरूप-प्रतिष्ठा का नाम ही यथार्थ मुक्ति है,—वही निर्वाण के नाम से कथित है।

परमपुरुषार्थ निर्वाण का नामान्तर है; जगत् के यावतीय ज्ञानी व्यक्ति चिरकाल से ही निर्वाणरूप निरापदस्थान को प्राप्त करने के लिए यत्न कर गये हैं। परमपुरुषार्थ-विचार ही प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र का विशेष अङ्ग है। वे प्रथमतः मानवजीवन का लक्ष्य स्थिर कर उसके अनुकूल के रूप में शास्त्रविचार की अवतारणा करते थे। अनुधावन करने पर देखा जाता है, कि दार्शनिकों ने मूलतः वक्ष्यमाण तीन लक्ष्य-विषयों में एक को परमपुरुषार्थ के रूप में उल्लेख किया है; दुःखनिवृत्ति, सुखलाभ और स्वरूपावाप्ति (Self-realisation)। एतद्भिन्न पूर्णत्वलाभ (Perfection) को भी किसी-किसी दार्शनिक ने परमपुरुषार्थरूप में निर्देश किया है। अरस्तू (अरिस्टोटल) तथा तत्पूर्ववर्ती ग्रीक दार्शनिकों ने साधारणतः पूर्णत्वलाभ को ही मूल लक्ष्य के रूप में उपस्थित किया है; इसका कारण यह है, कि वे कर्तव्यानुष्ठान और सुखलाभ एतदुभय की विरोध-सम्भावना स्पष्टरूप से हृदयङ्गम नहीं कर सके थे। इसीसे कर्तव्यतत्परता और सुखावाप्ति ये दोनों परस्परानुगामीरूप में ग्रहण कर, एतदुभय के ऐक्यरूप पूर्णत्वलाभ को परमपुरुषार्थरूप में निर्देश किया है।*

* Vide Sidgwick's Methods of Ethics, P.106

प्लेटो के मत में केवल ज्ञान अथवा सुखान्वेषण ही में मानवजीवन का चरम लक्ष्य पर्यवसित नहीं होता है। वस्तुतः वृत्तिसमूह के परस्परापेक्ष स्फूरणरूप पूर्णत्व में ही आत्मा प्रकृत जीवन को प्राप्त करती है। यद्यपि प्लेटो ने स्थान-स्थान पर सुख को दुःखानुसङ्गी तथा क्षणस्थायी कहकर उसकी निन्दा की है, फिर भी आद्योपान्त देखने जायें तो ज्ञानानुसार कर्तव्यतत्परता (Virtue) और सुखलाभ, एतदुभय का अविच्छिन्नत्व प्रदर्शन करना ही प्लेटो का अभिमत प्रतीयमान होता है। अरस्तू (अरिस्टॉटल) के मत में शुभलाभ ही (Eudaemonia) मानवजीवन का चरम लक्ष्य है। यह शुभलाभ सुखलाभ का नामान्तर नहीं है। अरस्तु ने इसे "Perfect activity in a Perfect life" अर्थात् "साधुजीवन का साधुकर्मानुष्ठान" कहकर इसकी व्याख्या की है, सुख इसका नियत अनुषङ्गी मात्र है। तभी तो देखा जाता है, उक्त दार्शनिकद्वय में किसी ने भी सुखविरोधी कर्तव्यतत्परता का विचार नहीं किया एवं कर्तव्यतत्परता और सुख एतदुभय के नियतसहचारित्व विषय में कोई प्रकृष्ट प्रमाण भी नहीं दिखाया है। वस्तुतः सुखलाभ और स्वरूपावाप्ति एतदुभय से हट कर देखने जायें, तो कर्तव्यानुष्ठान का चरमलक्ष्यत्व बिलकुल ही उपपन्न नहीं होता।*

अरस्तू के बाद स्टोइक और एपिक्यूरियन के मत यहाँ विशेष उल्लेखयोग्य हैं। स्टोइक इत्यादि के मतानुसार स्वभाव का अनुवर्तन करना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। सुखानुसरण इसका विरोधी है। दुःख में अनुद्विग्न होकर विषानुषक्त पक्वान्नवत् सुखलिप्सा परित्याग

* Vide Sidgwick's Methods of Ethics, P.392

कर एकमात्र कर्तव्यानुष्ठान ही मनुष्य का श्रेष्ठ पन्था है। पूर्व में जो कहा गया है, उससे देखने मिलेगा कि, दुःखनिवृत्ति व्यतिरेक स्टोइकादि का अन्य कोई प्रसिद्ध लक्ष्य उपपन्न नहीं होता है। स्वभाव के अनुवर्तन (conformity of nature) का प्रकृत स्वरूप क्या है, वह नितान्त दुर्बोध्य है। व्याख्याता के इच्छानुसार इसे जिधर भी इच्छा हो घुमाया-फिराया जा सकता है। यूरोप के अधुनातन राजनैतिक और सामाजिक इतिहास में इसका छायापात हुआ है; न जाने किस घोर अन्धकार में इसकी परिणति होगी! इस छायापात के मूल में फ्रांसीसी मनीषी रूसो हैं। अमानुषिक कल्पनाबल से अनुप्रणित होकर उन्हीं फ्रांसीसी पण्डित ने मानवजाति की आदिम अवस्था का एक अद्भुत चित्र अङ्कित किया है। उस चित्र में धनी और दरिद्र, राजा और प्रजा, प्रभु और भृत्य इन समस्त भेदों का कोई अस्तित्व नहीं है। तभी असामान्य, अमूलक प्राधान्य उनके मत से अत्याचार का रूपान्तर है, स्वार्थपरता का कुत्सित परिणाम है। "Live according to nature" अर्थात् प्रकृति का अनुवर्तन करो, अन्याय अमूलक अस्वाभाविक तारतम्य को दूर करो, यही उनका मूलमन्त्र है। लगता है इसी से पाठकगण स्टोइक के मत का अस्पष्टार्थत्व समझ सकेंगे।

प्राचीन ग्रीक दर्शन में एपिक्यूरस का मत स्टोइक के मत का प्रतिद्वन्द्वी है। एपिक्यूरस कहते हैं कि, सुखलाभ (Happiness) ही मनुष्य का श्रेष्ठ लक्ष्य है। सुख से अलग पुण्यकर्म का कोई मूल्य नहीं है। किन्तु सुख की व्याख्या उनके मत में स्वतन्त्र है;—प्रवृत्ति

का अनुवर्तन और सामयिक उत्तेजना का तृप्तिसाधन एपिक्यूरस के मत में दुःखवत् हेय है एवं दुःखासम्भिन्न शान्ति (Imperturbable tranquillity) ही सर्वदा अनुसरणीय है। इसीसे एकरूप मानने पर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही एपिक्यूरस के मत में परमपुरुषार्थ है।

यह तो हुई प्राचीनकाल की बात। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में अधिकांश ने ही सुख (Pleasure) को मानव-यन्त्र के चरम लक्ष्यरूप में निर्देश किया है। लाक, ह्यूम, मिल, बेन्थम, बेन, सिजविक प्रभृति दार्शनिकों का यही अभिमत है। दूसरी ओर जर्मन पण्डित हेगेल और तदनुवर्ती ग्रीन, केयार्ड प्रभृति दार्शनिकों ने आत्मा का पूर्णत्व (Self-realisation)-साधना को ही सर्वप्रकार से अन्तिम लक्ष्यरूप में निर्देश किया है। ये कहते हैं,—

To the self-conscious being, pleasure is a possible but not an adequate end ; by itself, indeed, it can not be made an end at all, except by a self-contradictory abstraction.

—*Caird's Kant, Vol II. P. 230*

चिन्तनशील मनुष्य के निकट सुख अन्यान्य लक्ष्यों में एक लक्ष्य तो हो सकता है सत्य, किन्तु इसे पूर्ण लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। सम्पूर्ण अलग रूप से विचार करें तो इसे लक्ष्यरूप में निर्देश करना भी असङ्गत है। वस्तुतः सुख आत्मपूर्णत्वलाभ का आनुषङ्गिक फल होने पर भी मूललक्ष्य का परित्याग कर इसी को एकमात्र चरम लक्ष्यरूप में निर्देश करना सङ्गत नहीं होता।

परमपुरुषार्थ के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों के मत उद्धृत हुए, अब भारतीय दार्शनिकों के मत भी यहाँ संक्षेप में उल्लेख करूँगा।

भारत में छः मूल दर्शनशास्त्र प्रचलित हैं। यथा—

गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतञ्जलेः।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि दर्शनानि षडेव हि॥

गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पतञ्जलि का योग, व्यास का वेदान्त एवं जैमिनि की मीमांसा—इन छः ऋषियों के ये छः मूल दर्शनशास्त्र हैं। फिर उनके शिष्योपशिष्यों द्वारा विरचित अनेक दर्शनशास्त्र विद्यमान हैं, वे भी उक्त नामधेय शास्त्रान्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त चार्वाकदर्शन, बौद्धदर्शन, पाशुपत या शैवदर्शन, वैष्णव या पूर्णप्रज्ञदर्शन प्रभृति भी दार्शनिक इतिहास में विशेष परिचित हैं।

चार्वाकमत से अङ्गनालिङ्गन और ऋण लेकर घृतसेवन करना ही परमपुरुषार्थ है। अतः इनके मत से पारतन्त्र्य ही बन्धन और स्वाधीनता ही मोक्षस्वरूप है। देखा जाय तो आत्मनास्तिक देहात्मवादियों के पक्ष में देहमुक्ति ही चरममुक्ति है। ईदृश मुक्तिवाद के सम्बन्ध में दत्तात्रेय ने कहा है,—"या मुक्तिः पिण्डपातेन सा मुक्तिः शुनि शूकरे" अर्थात् देहपात से जो मुक्ति है, वह शूकर-कुक्कुरादि की भी हुआ करती है।

बौद्धमत से समस्त वासनाओं के उच्छद से जो शून्यस्वरूप परिनिर्वाण अधिगत होता है, वही परमपुरुषार्थ है। निर्वाण और आत्मोच्छेद एक ही बात है। इस आत्मोच्छेद के आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति के साधनरूप में उल्लिखित होने पर भी वस्तुतः आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है। ऐसा नहीं होने पर कौन

बुद्धिमान् व्यक्ति अन्तर से अन्तरतम आत्मा के उच्छेद में उद्युक्त होगा ? बुद्धवंशलेखक वर्तमान वौद्धों का गौरवस्थल रिज डेविड (Rhys David) साहब निर्वाण शब्द का इस प्रकार अर्थ करते हैं कि, मनुष्य का सत्ताविलोप या बिलकुल महाविनाश नहीं हैं, केवल मात्र भ्रम, घृणा और तृष्णा इन तीनों का आत्यन्तिक उच्छेद ही निर्वाण शब्द से कथित होता है।*

जैनमत से आवरणमुक्ति ही मुक्ति है। यह आवरण जो भी क्यों न हो, दुःखनिवृत्ति या सुखलाभ के साधनरूप में ही तन्मुक्ति वाञ्छनीय हो सकती है।

वैष्णवमत से जीव भगवान् का नित्यदास है, सुतरां वन्दन-अर्चनादि कर जीवस्वरूप अर्थात् प्रेमसेवोत्तरा गतिलाभ ही परमपुरुषार्थ है। जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न हैं, सर्वज्ञ ईश्वर और मूढ़ जीव परस्पर विरोधीधर्मापन्न हैं, उनमें अभेद उपपन्न नहीं होता है।

शैव और पाशुपत-मत से परमेश्वर कर्मादिनिरपेक्ष निमित्तकारण हैं। पशुपति ईश्वर ने पशुपाश-विमोक्ष के निमित्त योग का उपदेश दिया है। योग ऐश्वर्य और दुःखान्त का विधान करता है, यही परमपुरुषार्थ है। **शाक्त**-मतावलम्बी भी इस मत का अनुसरण किया करते हैं।

---

* "Nirvana is therefore the something as a sinless, calm state of mind ; and if translated at all, may best, perhaps, be rendered 'holiness'—holiness that is in the Buddhist sence perfect peace, goodness and wisdom."

—*Buddhism by Rhys David* Chap. IV. P. 112

भट्टमतावलम्बिगण (प्रसिद्ध भट्टपाद कुमारिल के इस मत के प्रवर्तक होने के कारण यह भट्टमत नाम से परिचित है) कहते हैं, नित्य निरतिशय सुखाभिव्यक्ति का नाम मुक्ति है। वेदोक्त कर्मानुष्ठान ही तल्लाभ के उभाय हैं, फलतः ये गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ आश्रम के रूप में ग्रहण करते हैं एवं कहा करते हैं कि सन्न्यासधर्म या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अन्ध, पङ्गु इत्यादि गृहधर्म में अक्षम व्यक्तियों के लिए अवलम्बनीय है। ये ईश्वर-नास्तित्ववादी हैं। अब बात यह है कि यह भट्टाभिमत नित्यसुख सम्भाव्य है या नहीं ? विचार करने पर देखा जाता है कि सापेक्ष सुख की नित्यत्वसिद्धि बिलकुल उपपन्न नहीं होती है;—विच्छेद-सम्बन्ध जिसका मूल है, वह सुख का अविच्छिन्नप्रवाह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? इसी कारण सुखलाभ को ही परमपुरुषार्थ के रूप में निर्देश करने जायें, तो सुख के नित्यत्व की ओर न देखकर परिमाणाधिक्य ही लक्ष्य करना कर्तव्य है।

पातञ्जलदर्शन का योगानुशासन ही मुख्य लक्ष्य है। चित्तवृत्तिनिरोध का नाम है योग। योगानुष्ठान की चरम अवस्था में निर्बीज समाधिलाभ से अतुल आत्मानन्द का अनुभव करना ही एतन्मतानुसार परमपुरुषार्थ है। ये आत्मा का बहुत्व और ईश्वर को स्वीकार करते हैं—वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा समस्त जगत् के निमित्तकारण हैं। सुतरां आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति, तत्त्वाभ्यास अथवा ईश्वरप्रणिधानद्वारा अधिगम्य है। अतएव कहना पड़ता है, वेदान्त के अतिरिक्त भारतीय अन्यान्य दर्शनापेक्षा पातञ्जलदर्शन का सूक्ष्म लक्ष्य उच्चासन को प्राप्त हुआ है। योगानुशासन वेदान्तवादियों के लिए भी अवलम्बनीय है।

सांख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसादर्शन के मत से आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है। किन्तु इस दुःखनिवृत्ति के प्रकारभेद हैं। सांख्य कहते हैं—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

—सांख्यदर्शन, १/१

त्रिविध दुःख (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) की जो आत्यन्तिक निवृत्ति है, उसी का नाम परमपुरुषार्थ है।

सांख्यमत से ईश्वर-स्वीकार की कोई आवश्यकता नहीं है, आत्माएँ अनेक और परस्पर भिन्न हैं। आत्मा पति, बुद्धि उसकी पत्नी है; अविवेकावस्था में पत्नी ज्ञानस्वरूप निर्गुण पति में अपने कर्तृत्वादि विकारों का आरोप कर अपराधिनी और तत्फलस्वरूप दुःखभागिनी होती हैं। किन्तु साध्वी अर्थात् शुद्धसत्त्वसम्पन्ना बुद्धि जब पति आत्मा का प्रकृत स्वरूप देख पाती हैं, तब इहजन्म में अपार आनन्द का अनुभव कर अन्त में पतिदेह में अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन हो जाती हैं। यही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ है। इस मत में आत्मा की मुक्तावस्था ही स्वाभाविक, बन्धन अज्ञानकृत मात्र है—बन्धन ही अगर स्वाभाविक होता तो श्रुति में मोक्षसाधन का उपदेश विहित न होता। सुतरां विवेकद्वारा अज्ञान के प्रशमित होने पर द्रष्टा के आत्मस्वरूप में अवस्थान ही मुक्ति है।

न्यायदर्शनकार गौतम ने कहा है—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

—न्यायदर्शन, १/१/२

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के अववर्जन या अभावरूप जो सम्पूर्ण सुखावस्था है, उसका नाम अपवर्ग या परमपुरुषार्थ है। ये अनुमान-प्रमाण के बल पर ईश्वर का अस्तित्व सप्रमाण करने का यत्न किया करते हैं। फिर भी संसार में दुःख की जो क्रीड़ा देखी जाती है, वह प्राणीकृत कर्मों का अवश्यम्भावी परिणाम है। परमेश्वर के अनुग्रहवश श्रवणादिक्रम से तत्त्वज्ञान का उदय होने पर उक्त दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप निःश्रेयस लब्ध होती है, कारण मिथ्याज्ञान ही अनात्मपदार्थ देहादि में आत्मबुद्धि उत्पन्न कर तदनुकूल पदार्थों में राग, तत्प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष और तन्मुख में सर्वप्रकार दुःखों का कारणीभूत हुआ करता है। तत्त्वज्ञान द्वारा अज्ञान के निवृत्त होने पर सर्वप्रकार प्रवृत्तियों का निरोध होता है, पुनर्जन्म की फिर सम्भावना नहीं रह जाती है, तब पुरुष घटीयन्त्रवत् नियत परिवर्तनशील सर्वदुःखों के मूलीभूत संसार से मुक्तिलाभ करता है—इसी का नाम परमपुरुषार्थ है। ये भी आत्मा के बहुत्व को स्वीकार करते हैं।

वैशेषिकदर्शनप्रणेता कणाद ने न्यायदर्शन के समान अनुमान-प्रमाण के द्वारा ईश्वर सिद्ध करने का प्रयास किया है एवं अनेक विषयों में गौतम के साथ कणाद का विशेष ऐक्य है। वैशेषिक-मत से आत्मा नित्य, विभु और अनुमेय है—सुख-दुःख-इच्छा-द्वेषादि उसके लिङ्ग हैं। सुख-दुःखादि वैषम्य और अन्यान्य अवस्था-भेद के व्यवस्थार्थ आत्मा के नानात्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। आत्मचैतन्य आगन्तुक, इच्छाद्वेषादि के समान चैतन्य भी आत्मा का

गुणमात्र है। इस गुणसङ्ग के निरस्त होने पर आत्मा आकाश के समान अवस्थान करती हैं, यही वैशेषिक मुक्ति है। सुतरां इस मत के अनुसार भी आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है।

मीमांसादर्शनप्रणेता जैमिनि ने ईश्वर-निराकरण किया है, उससे उनका निरीश्वरवादित्व सिद्ध नहीं हो सकता; वस्तुतः वैशेषिकमत निराकरण करना ही उनका प्रकृत उद्देश्य है। वे कहते हैं, ईश्वर के नहीं रहने पर भी मनुष्य विधिविहितकर्म द्वारा प्रपञ्चसम्बन्धविलोपरूप परमपद प्राप्त कर सकता है—वेद का यही अभिप्राय है। जीव अनेक और कर्म का अनुचर है—कर्म स्वयं ही फल प्रदान किया करता है। मोक्षावस्था में मनोनिवेश नहीं होता है, वस्तुतः आत्मा तब मन को लेकर स्वरूपानन्द का उपभोग करती हैं। इसी कारण उन्होंने कहा है—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

निरवच्छिन्न सुखसम्भोग ही स्वर्ग है एवं वही मनुष्य की सुख-तृष्णा की विश्रामभूमि है। वही परमपुरुषार्थ एवं वही मुक्ति और अमृत है।

वास्तविक लगता है, दुःख-निरोध होने से ही मनुष्य मुक्त होता है। दुःख-निवारण कल्प में ही आकुल आकाङ्क्षा से मनुष्य दौड़ता-फिरता है। ऐकान्तिक दुःखनिवारण का नाम ही मुक्ति है। यह कोई अस्वाभाविक तर्कजालजड़ित अद्भुत बात नहीं है, प्राणों के अति निकट की बात है। तभी तो जगत् के सारे दार्शनिकों ने "दुःख के

आत्यन्तिक निरोध'' को ही ''परमपुरुषार्थ'' कहकर निर्देश किया है। प्रभेद इतना ही है, कि विभिन्न दार्शनिकों के मत में यह विभिन्नोपायों से लभ्य है। पारश्चात्य दार्शनिकों का यह विभेद पहले ही उल्लिखित हुआ है। भारतीय दार्शनिक मतानुसार भी अति सूक्ष्म दुर्लक्ष्य प्रभेद है। माधवाचार्य के वर्णनानुसार भगवान् शङ्कराचार्य के सारदापीठाधिरोहण करते समय इस विभेद का प्रदर्शन करने को आहूत होकर उन्होंने आगे कहे जाने प्रकार से निर्देश किया—

अत्यन्तनाशे गुणसङ्गते र्या स्थितिर्नभोवत्कणभक्षपक्षे।
मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः॥
—शङ्करविजय, सर्ग १६

गुणसङ्ग के सम्पूर्ण निरोध होने से आत्मा के आकाश के समान शून्यरूप में अवस्थान का होना ही वैशेषिक मुक्ति है; न्यायमत से आनन्द और ज्ञानसंमिश्र पूर्वोक्त अवस्था ही मोक्षावस्था है।

किन्तु नैयायिकमत से मुक्ति की ऐसी व्याख्या के स्वीकार करने से पूर्वापर सङ्गति दुर्घट हो उठती है। नैयायिकमत से अदृष्टवश आत्मा के साथ मन के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है; इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि के समान यह आत्मा का एक गुण मात्र है। यदि विमुक्त अवस्था में गुणसङ्गति का अत्यन्त नाश हुआ, तो चैतन्य रहा ही कहाँ ? आनन्द ही भला कैसे उत्पन्न होता है? फिर भी अगर दुःखाभाव को ही अनिर्वचनीय आनन्द कहा जाय, वह अलग बात है; किन्तु ऐसा होने पर वस्तुतः वैशेषिक मत और नैयायिक मत में क्या प्रभेद रहा ? जैमिनि के मत से मन से आत्मा

के स्वरूपानन्द का भोग ही मोक्षावस्था है। किन्तु मन तो अनित्यपदार्थ है, सुतरां मन की सहायता से नित्यानन्द का उपभोग असम्भव है। सांख्य और पातञ्जलमत से आत्मा के स्वरूपानन्द का उपभोग ही मुक्ति है। सुतरां अब तक जितने दार्शनिक मतों की चर्चा हुई है, उनकी आमूल विवेचना करने पर देखा जाता है, आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति, सुखलाभ और स्वरूपावाप्ति इन तीनों को ही विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने परमपुरुषार्थरूप में निर्देश किया है।

अब देखा जाय, उक्त तीनों लक्ष्यों में क्या सम्बन्ध है एवं उनमें से किसे सर्वश्रेष्ठ लक्ष्यरूप में निर्देश किया जा सकता है। एक ओर देखा जाता है, संसार नाना दुःखसङ्कुल है; जीव निरन्तर आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखों से ही उपतापित है; मनुष्यजीवन के आदि में अन्धकार, अन्त में अन्धकार और मध्य में सुख-खद्योत क्षण भर के लिए जलकर ही बुझ जाता है। इस प्रकार क्षणस्थायी वैषयिक सुख दुःखमूल, दुःखानुषक्त और दुःखलभ्य है, यह विवेचना कर पण्डितगण उससे तृप्तिलाभ नहीं कर पाते हैं। इसीलिए परिणामदर्शी पण्डितों ने वैषयिक रागानुबिद्ध सुखलाभ से दुःखनिवृत्ति का ही अनुसरणीयत्व उपलब्धि कर आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति के परमपुरुषार्थरूप में निर्देश किया है।

किन्तु आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति क्या है ? यह तो अभावप्रकृतिक (Negative) मात्र है। भावस्वरूप सुख से इसका स्वतःप्राधान्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। सांख्यवादी और नैयायिक प्रभृति

जिस दुःखनिवृत्ति का चरमलक्ष्यत्व प्रतिपादन करते हैं, वह वस्तुगत्या सुखनिवृत्ति भी है। इसी से देखा जाता है, एक वर्ग सुख के अनुरोध से दुःखानुभव स्वीकार कर सुखलाभ को ही श्रेष्ठ लक्ष्यरूप में निर्देश करते हैं; अन्य पक्ष दुःखबाहुल्य के दर्शन से सुखत्याग करने को भी सम्मत होकर आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति को परमपुरुषार्थत्व के रूप से प्रतिपादन करने में यत्नवान् होते हैं। अभी बात यह है, कि इन दो विरुद्ध पक्षों का समन्वय सम्भव है या नहीं, आनन्द और आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति का युगपत् अवस्थान संघटित हो सकता है या नहीं ?

वेदान्तदर्शन ने इस विरोध का समन्वय दिखाया है। वैदान्तिक का परमपुरुषार्थ शुष्क दुःखनिवृत्तिमात्र भी नहीं है, क्षणभङ्गुर सुखस्वरूप भी नहीं है। वस्तुतः दुःखमूलोच्छेद और नित्यानन्दसम्पादन ही वेदान्तदर्शन का चरमलक्ष्य हैं। तभी माधवाचार्य ने कहा है—

विषयोत्थसुखस्य दुःखयुक्तेऽप्यलयं ब्रह्मसुखं न दुःखयुक्तम्।
पुरुषार्थतया तदेव गम्यं न पुनस्तुच्छकदुःखनाशमात्रम्॥

—शङ्करविजय

—विषयजात सुखसमूह दुःखयुक्त है, किन्तु वही नित्य ब्रह्मसुख दुःखयुक्त नहीं है। अतएव परमपुरुषार्थरूप में वही अधिगम्य है, तुच्छ दुःखनाश नहीं है।

यह परमानन्द आत्मातिरिक्त अन्य साधना-सापेक्ष नहीं है; इसी से यह विषयसुख के समान दुःखानुषक्त और क्षणभङ्गुर नहीं हो सकता; अनात्म और अनात्मीय पदार्थों में 'अहं' 'मम' यह अभिमान

दुःख का निदान है; ज्ञानालोक से इस मिथ्याभिमान के दूरीभूत होने पर दुःखबीज सर्वदा दग्धीभूत होता है एवं आत्मा स्व-स्वरूप में अवस्थान करती हैं।

किन्तु आत्मा का स्वरूप क्या है ?* वेदान्तशास्त्र में आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य प्रदर्शनपूर्वक आत्मा का आनन्दस्वरूपत्व प्रतिपादित हुआ है; अतः आत्मलाभ और आनन्दलाभ एक ही बात है। इस अपूर्व आनन्द का विनाश अथवा ह्रास सम्भव नहीं; कारण ज्ञानद्वारा स्व-स्वरूप के एकबार अधिगत होने पर फिर उसकी विच्युति नहीं हो सकती एवं ब्रह्मात्मज्ञान से समस्त पदार्थों के साथ आत्मा का ऐक्यभाव स्थापित होने पर सुखविरोधी अनात्मीय पदार्थसमूह आत्मस्वरूप में लयप्राप्त होता है। आनन्दानुभव पूर्णत्वज्ञान का नित्यसहचर है; पूर्णत्व और पूर्णकामत्व ब्रह्मात्मज्ञान का अवश्यम्भावी परिपाक है। फलतः एक ओर सुखहेतु का नित्यसद्भाव है, दूसरी ओर सुखविरोधी का अत्यन्ताभाव विचार्यसुख का नित्यत्व सम्पादन करता है। एक ओर आत्मानात्मविवेक दुःखबीज उन्मूलित करता है, दूसरी ओर अद्वैतज्ञान अद्वैतानन्द उत्पादित करता है। जो वस्तु अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है, वही सुख है; त्रिविध भेदविशिष्ट परिच्छिन्न वस्तु सुखस्वरूप नहीं होती। आत्मा ही एकमात्र अपरिच्छिन्न वस्तु है, अतः आत्मज्ञ व्यक्ति ही प्रकृत सुखी होता है। अतएव ये

* आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय मेरे रचित ''ज्ञानीगुरु'' ग्रन्थ में सविशेष लिखा हुआ है, सुतरां उसे पढ़े बिना यह तत्त्व अनुभूत नहीं होगा।

सुखसम्पादक समस्त वस्तुएँ आत्मतृप्ति-सम्पादनार्थ ही प्रियरूप में परिगणित होती हैं।

सभी आत्मास्तित्व की इच्छा करते हैं, आत्मविनाश की कामना कोई भी नहीं करता। सुतरां आत्मप्रेम प्रत्यक्षसिद्ध है। फिर समस्त वस्तुएँ उन्हीं के ही प्रिय साधन करती हैं। उनके प्रीति-सम्पादन के उपयोगी होने के कारण ही अन्य वस्तुओं में प्रियत्व उपचारित होता है, सुतरां आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है। आत्मसाक्षात्कार होने से सुतरां शोक-मोह पलायन कर जाते हैं एवं निर्विप्लव आत्मानन्द स्फुरित होता है। इसीलिए शिवस्वरूप शङ्कराचार्य ने सूत्रित किया है,—"आत्मलाभात् परलाभलाभात्" अर्थात् आत्मलाभ से श्रेष्ठ लाभ दूसरा नहीं है। आत्मलाभ, ब्रह्मलाभ और आनन्दलाभ एक ही बात है। तभी मुनीश्वर श्रीमद्भारतीतीर्थ ने कहा हैं—

ब्रह्मज्ञः परमाप्नोति, शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दीभवति नान्यथा॥

—पञ्चदशी, ११/२

ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमानन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं एवं आत्मवित् शोक से निष्कृति प्राप्त करते हैं। ब्रह्म रसस्वरूप है, उसी रसस्वरूप को प्राप्त होने पर जीव आनन्द ही हो जाता है, इसमें अन्यथा नहीं, सुतरां वेदान्तमत से आत्मसाक्षात्कारलाभ या स्व-स्वरूप में अवस्थान ही मनुष्य का परमपुरुषार्थ है। यही सर्वमतसमन्वयी **निर्वाणमुक्ति** है।

वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति

सर्वधर्मसमन्वयी और सर्वभेदमतसमञ्जसा वेदान्तशास्त्र के उदार गर्भ में सर्वाधिकारी जनगण स्थान प्राप्त कर कृतार्थ हुए हैं। वेदान्त के परमपुरुषार्थ-विचारप्रसङ्ग में जिस निर्वाणमुक्ति की बात कही गई है, उसमें विभिन्न दार्शनिकों का चरमलक्ष्यत्व ही सन्निविष्ट हुआ है। फिर सिर्फ निर्वाणमुक्ति नहीं, वैदान्तिक ने सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति का भी चरममुक्ति का अवस्थान्तर कहकर निर्देश किया है।

परमेश्वर समस्त स्थानों पर अधिकार किये हुए हैं, अतः सकल लोकों में परिव्याप्त हैं एवं पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य प्रभृति भूलोक और द्युलोकसमूह परमेश्वर में प्रतिष्ठित हैं। साधक जब इस महान् सत्य को विशेषरूप से उपलब्ध कर पाते हैं एवं यही भाव क्रमशः जब उनके जीवनगत हो जाता है, तभी वे परमेश्वर के साथ एकलोक में वास करते हैं। यही **सालोक्यमुक्ति** है। इस अवस्था में साधक महासमुद्रस्थित छोटे-छोटे द्वीपपुञ्जों के समान अनन्त ब्रह्मसमुद्र के गर्भ में भूलोक और द्युलोकसमूह को तैरता देख पाते हैं। यद्यपि बाहर से पृथ्वी ही उनकी निवासभूमि रहती है, किन्तु वास्तव में इस अवस्था में वे और पृथ्वी के वासी नहीं रह जाते; अनन्त काल के लिए ब्रह्म में अपना वासस्थान निर्दिष्ट करते हुए निर्भय, निश्चिन्त और परमानन्दयुक्त होते हैं। अतएव देखा जाता है कि, परमेश्वर का सर्वव्यापित्व भाव जब क्रम से साधक के समग्र हृदय पर अधिकार कर लेता है, तभी उनकी सालोक्यमुक्ति सिद्ध होती है।

साधक की इस प्रकार की सालोक्यमुक्ति की अवस्था क्रम से जब अपेक्षाकृत गहराई को प्राप्त होती है अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मसत्ता अनुभव का भाव जब साधक के अन्तश्चक्षु के निकट उज्ज्वलतर मूर्ति को धारण करता है, प्रेममय के प्रेमानन्द को जब वे सभी स्थानों में निःसंशयरूप से देख सकते हैं, जिधर भी दृष्टिपात करते हैं उधर ही जब उनके चक्षु "विश्वतश्चक्षु" के उज्ज्वलचक्षु पर पतित होते रहते हैं, उसी अवस्था का नाम ही है **सामीप्यमुक्ति**।

जब साधक की इस प्रकार की सामीप्यमुक्ति की अवस्था क्रम से और भी गम्भीरभाव धारण करती है एवं जब वे परमात्मा में संलग्न होकर अवस्थिति करते हुए आनन्द-सुधापान में नियुक्त होते हैं, तभी उनकी उस अवस्था को **सार्ष्टिमुक्ति** कहते हैं। और जब ब्रह्म को अपने साथ अभेदरूप में अनुभव करते हैं, तभी उस अवस्था का नाम है **सारूप्यमुक्ति**।

तदनन्तर क्रमशः जब साधक ब्रह्मसत्तासागर में मग्न होकर अपनी निज सत्ता तक को भूल बैठते हैं अर्थात् क्रमशः जब उनकी बुद्धि, मन ब्रह्म में लय-विलय को प्राप्त होते हैं, तभी उनकी उसी अवस्था को **निर्वाण** या चरममुक्ति कहते हैं। इसी कारण वैदान्तिकों ने कहा है—

ब्रह्मैव मुक्ति र्न ब्रह्म क्वचित् सातिशयं श्रुतम्।
अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा॥

—वेदान्तसार, ३/४/१०

वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति

सर्वधर्मसमन्वयी और सर्वभेदमतसमञ्जसा वेदान्तशास्त्र के उदार गर्भ में सर्वाधिकारी जनगण स्थान प्राप्त कर कृतार्थ हुए हैं। वेदान्त के परमपुरुषार्थ-विचारप्रसङ्ग में जिस निर्वाणमुक्ति की बात कही गई है, उसमें विभिन्न दार्शनिकों का चरमलक्ष्यत्व ही सन्निविष्ट हुआ है। फिर सिर्फ निर्वाणमुक्ति नहीं, वैदान्तिक ने सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति का भी चरममुक्ति का अवस्थान्तर कहकर निर्देश किया है।

परमेश्वर समस्त स्थानों पर अधिकार किये हुए हैं, अतः सकल लोकों में परिव्याप्त हैं एवं पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य प्रभृति भूलोक और द्युलोकसमूह परमेश्वर में प्रतिष्ठित हैं। साधक जब इस महान् सत्य को विशेषरूप से उपलब्ध कर पाते हैं एवं यही भाव क्रमशः जब उनके जीवनगत हो जाता है, तभी वे परमेश्वर के साथ एकलोक में वास करते हैं। यही **सालोक्यमुक्ति** है। इस अवस्था में साधक महासमुद्रस्थित छोटे-छोटे द्वीपपुञ्जों के समान अनन्त ब्रह्मसमुद्र के गर्भ में भूलोक और द्युलोकसमूह को तैरता देख पाते हैं। यद्यपि बाहर से पृथ्वी ही उनकी निवासभूमि रहती है, किन्तु वास्तव में इस अवस्था में वे और पृथ्वी के वासी नहीं रह जाते; अनन्त काल के लिए ब्रह्म में अपना वासस्थान निर्दिष्ट करते हुए निर्भय, निश्चिन्त और परमानन्दयुक्त होते हैं। अतएव देखा जाता है कि, परमेश्वर का सर्वव्यापित्व भाव जब क्रम से साधक के समग्र हृदय पर अधिकार कर लेता है, तभी उनकी सालोक्यमुक्ति सिद्ध होती है।

साधक की इस प्रकार की सालोक्यमुक्ति की अवस्था क्रम से जब अपेक्षाकृत गहराई को प्राप्त होती है अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मसत्ता अनुभव का भाव जब साधक के अन्तश्चक्षु के निकट उज्ज्वलतर मूर्ति को धारण करता है, प्रेममय के प्रेमानन्द को जब वे सभी स्थानों में निःसंशयरूप से देख सकते हैं, जिधर भी दृष्टिपात करते हैं उधर ही जब उनके चक्षु "विश्वतश्चक्षु" के उज्ज्वलचक्षु पर पतित होते रहते हैं, उसी अवस्था का नाम ही है **सामीप्यमुक्ति**।

जब साधक की इस प्रकार की सामीप्यमुक्ति की अवस्था क्रम से और भी गम्भीरभाव धारण करती है एवं जब वे परमात्मा में संलग्न होकर अवस्थिति करते हुए आनन्द-सुधापान में नियुक्त होते हैं, तभी उनकी उस अवस्था को **सार्ष्टिमुक्ति** कहते हैं। और जब ब्रह्म को अपने साथ अभेदरूप में अनुभव करते हैं, तभी उस अवस्था का नाम है **सारूप्यमुक्ति**।

तदनन्तर क्रमशः जब साधक ब्रह्मसत्तासागर में मग्न होकर अपनी निज सत्ता तक को भूल बैठते हैं अर्थात् क्रमशः जब उनकी बुद्धि, मन ब्रह्म में लय-विलय को प्राप्त होते हैं, तभी उनकी उसी अवस्था को **निर्वाण** या चरममुक्ति कहते हैं। इसी कारण वैदान्तिकों ने कहा है—

ब्रह्मैव मुक्ति र्न ब्रह्म क्वचित् सातिशयं श्रुतम्।
अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा॥

—वेदान्तसार, ३/४/१०

विशेषरहित जो ब्रह्मावस्था है, वेद उसे ही मुक्ति कहते हैं, सुतरां मुक्तिपदार्थ एकप्रकार भिन्न नानाप्रकार का नहीं हो सकता। मगर सालोक्यादिरूप जो विशेष कथन है, वह केवल साधक के अनुराग या ज्ञान की गहराई का तारतम्य मात्र है। नहीं तो मुक्तिपदार्थ जिसे कहते हैं, वह ब्रह्म से मनुष्य तक सभी के लिए एकरूप है। ज्ञान की परिपुष्ट अवस्था में साधक जब ब्रह्मस्वरूप की अपना स्वरूप के रूप में उपलब्धि करते हैं, तभी उनको चूड़ान्त या चरम या **निर्वाणमुक्ति** प्राप्त होती है।

अब निर्वाण क्या है, इसकी चर्चा कि जाय। अद्वैतवादी वैदान्तिकों का ब्रह्मनिर्वाण सुनकर अनेक अनधिकारी व्यक्ति उसे हृदयङ्गम न कर पाकर, या कोई किस प्रकार के अर्थ में निर्वाण शब्द व्यवहृत होता है, इसे न समझ पाकर वेदान्तमत में दोषारोपण करते हुए अनेक प्रकार से हँसी-मजाक उड़ाया करते हैं। अनभिज्ञों की विज्ञता विज्ञानविरुद्ध होती है, विशेषतः विज्ञव्यक्ति अज्ञों की बात हमेशा से ही अवज्ञा करते आये हैं। उनके लिए निर्वाण अनास्वादित मधुवत् है अर्थात् जिसने कभी भी मधु नहीं चखा है, उसके लिए मधु का जो स्वाद है—कुमारियों के लिए जैसा स्वामी सहवाससुख है—'न मालुम किस्म' तरह का होगा, जिसके कारण वे ब्रह्मनिर्वाण की धारणा करने में असमर्थ होकर मुंशियाना अन्दाज में कहा करते हैं कि "निर्वाण का अर्थ बुझ जाना, यह हम नहीं चाहते, हम शक्कर बनना नहीं चाहते, पर शक्कर खाना पसंद करते हैं।" शक्कर खाने में मीठी अवश्य होती है, सच, किन्तु शक्कर हो जाने से उसका सेवन

कर समस्त जीवों का आस्वाद-आनन्द जो तुम्हारे भीतर अभिव्यक्त होगा ! खुद की शक्कर का आस्वाद ही भला कितना होता है ? समस्त जीवों का आस्वाद अपने अन्दर उपलब्धि करने के सुख की अपेक्षा उसका सुख कणांश भी नहीं है। क्या शक्कर के आस्वादलोलुप स्वार्थी व्यक्ति भला भक्तप्रवर श्रीमत् कविराज गोस्वामीपाद के—

'गोपिकादर्शने कृष्णेर जे आनन्द हय।
ताहा हैते कोटीगुण गोपी आस्वादय॥'—

इस गोपीभाव का निगूढ़ तत्त्व उपलब्ध कर सकता है ? राधाकृष्ण की मिलनात्मक आत्मा के स्वरूपानन्द उपभोग के अतिरिक्त श्रीकृष्ण-उपभोग कभी भी गोपीभाव का आदर्श नहीं है। निर्वाण का अर्थ बुझ जाना नहीं, विलीन भाव को ही निर्वाण कहते हैं। आचार्यप्रवर श्रीमत् रामानुज स्वामी ने भी निर्वाण शब्द का वास्तविक अर्थ ग्रहण न कर कहा है—

अहमर्थविनाशे चेत् मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः॥

अर्थात् "अहं, इस अर्थ के विनाश से यदि मोक्ष (निर्वाण) स्थापन होता है, तो तादृश मोक्ष की बात के प्रस्ताव के गन्धमात्र से मैं पीछे हट जाऊँगा।" किन्तु हम निर्वाण का अर्थ "अहंविनाश" न समझ, वरं तद्विपरीत "अहंप्रतिष्ठा" ही समझा करते हैं; समग्र वेदान्तशास्त्रों का यही अभिप्राय है। सही बात है, जिस आत्मा का क्षय नहीं, विनाश नहीं, जो आत्मा अजर है, अमर है, वह बुझ जायेगी किस प्रकार ?

समस्त श्रुति, दर्शन, पुराण, उपनिषत्, तन्त्र प्रभृति शास्त्रों में मुक्ति के सम्बन्ध में जितना जो कुछ कहा गया है, उसके द्वारा स्पष्ट है, जीवात्मा की स्वरूप में अवस्थिति ही मुक्ति एवं स्वरूपत्याग ही बन्धन है। हृदय-ग्रन्थिसमूहों अर्थात् जड़ और चैतन्य के बन्धन-ग्रन्थिसमूहों का उच्छेद ही मुक्ति एवं उन ग्रन्थियों का नाम ही बन्धन है। वस्तु का यथार्थ दर्शन या भ्रमबुद्धि का अपनयन ही मुक्ति एवं अयथार्थ दर्शन ही बन्धन है। चञ्चलताशून्य मन की जो स्थिरभाव में अवस्थिति है, वही मुक्ति एवं बहुविषयों में मन का जो गमनागमन है, वही बन्धन है। मन का जो शन्तिरूप निर्मल आनन्द है, वही मुक्ति एवं मन का जो स्वरूप-प्रकाश है, वही बन्धन है। पृथ्वी की किसी वस्तु के प्रति आस्था नहीं रहने का नाम ही मुक्ति एवं अनात्मीय पदार्थों के प्रति विन्दुमात्र आस्था का होना भी सुदृढ़ बन्धन है; अनित्य संसार के समस्त सङ्कल्पों का क्षय होने का नाम मुक्ति एवं सङ्कल्पमात्र में ही बन्धन है; यहाँ तक कि योगादि साधनों का सङ्कल्प भी बन्धन है। सम्पूर्णरूप से अपनी इच्छाओं या वासनाओं का परित्याग ही मुक्ति एवं वासना मात्र में ही बन्धन है। सभी प्रकार की आशाओं का क्षय होने से मन का जो क्षय होता है, वही मुक्ति एवं आशा मात्र ही बन्धन है। सकल प्रकार की भोगचिन्ता का विराम ही मुक्ति एवं भोगचिन्ता ही बन्धन है। समस्त प्रकार आसक्ति त्याग ही मुक्ति और विषयसङ्ग ही बन्धन है। द्रष्टा के साथ दृश्यवस्तु का जब सम्बन्ध नहीं होता है, तभी मुक्ति एवं द्रष्टा के साथ दृश्य वस्तु का जो सम्बन्ध है, वही बन्धन

है। विशेष विवेचना करने पर यह स्पष्ट ही प्रतीयमान होता है, कि इन समस्त वाक्यों के द्वारा मुक्ति का एक ही भाव प्रकाशित हो रहा है। आत्मा के स्वरूपभाव से विच्छिन्न होना ही बन्धन है एवं स्व-स्वरूप में अवस्थान ही मुक्ति है। तब ऐसी स्थिति में स्वरूप के बारे में मतभेद हो सकता है, परन्तु स्व-स्वरूप में अवस्थान ही जो मुक्ति है, वह सर्ववादिसम्मत ही है। यथा—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

अर्थात् अन्यथारूप त्याग कर स्वरूप में अवस्थिति का नाम मुक्ति है।

दुर्वासा, दत्तात्रेय, उद्दालक, आरुणि, शुकदेव, प्रह्लाद, श्वेतकेतु प्रभृति अनेक व्यक्तियों ने रक्तमांस के देहधारी होकर भी मुक्तपुरुष के रूप में शास्त्रों में कथित हुए हैं। सुतरां निर्वाण का अर्थ जो "अहं का नाश" नहीं है, उसे आशा करता हूँ समझ गये होंगे। निर्वाण अर्थ में यदि स्वरूपप्रतिष्ठा है, तब बुझ जायेगा कौन ? पार्थिव सुख-दुःख, पार्थिव अभिलाषा प्रभृति सभी तरह के पार्थिव भावों की विलीन अवस्था को ही निर्वाण कहा जा सकता है। अद्वैतवादिगण "निर्वाणन्तु मनोलयः" अर्थात् मन के लय को ही निर्वाण कहते हैं।

भगवान् बुद्धदेव ने जरा, मरण और पीड़ाजनित दुःसह दुःख के हाथों से निस्तार पाने को ही निर्वाण कहा है। सुतरां निर्वाण शब्द से सत्ता-विलोप या बिलकुल महाविनाश नहीं; केवल मात्र भ्रम, घृणा और तृष्णा इन तीनों का आत्यन्तिक उच्छेद ही निर्वाण शब्द से कथित है। प्रोफेसर मैक्स मूलर ने निर्वाण शब्द का अर्थ किया है—

If we look in the Dhammapada, at every passage when Nirvan is mentioned, there is not one which would require that its meaning should be annihilation, while most of all, would become perfectly unintelligible if we assigned to the word Nirvan, that signification.

—*Buddha Ghosa's Parable P.XII.*

ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठदेव ने कहा है—

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च।
यद् यत् सद्विद्यते किञ्चित् तत्रास्थापरिवर्जनम्॥
अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः॥

—योगवाशिष्ठ, उ. प्र., ११२/२४-२५

जो-जो वस्तुएँ सत्रूप में विद्यमान हैं, उनमें जो आस्था का परित्याग है, वही मनोनाश एवं अविद्यानाश है। यह अनास्थारूप जो मनोनाश है, वही निर्वाण है। अतएव अविद्याजनित मन के बुझ जाने को ही निर्वाण शब्द से अभिहित किया गया है। अपिच—

मनोलयात्मिका मुक्तिरीति जानीहि शङ्करि।

—श्रीकामाख्यातन्त्र, ९/१३

—जिस अवस्था में मन का लय होता है, उसे ही मुक्ति समझो। अद्वैतमत प्रतिष्ठाता शिवावतार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है—

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः।

—मणिरत्नमाला, २३

किसके विनाश से जीव की मुक्ति होती है ?—मन का नाश होने से। सुतरां मुक्ति की चरम अवस्था को ही ब्रह्मनिर्वाण कहा जा सकता है। जब साधक शान्तादि गुणयुक्त होकर परमेश्वर का आत्मस्वरूप में अवलोकन करते हैं, वे ही व्यक्ति तब परम रसानन्दस्वरूप ज्योतिर्मय अद्वैत परब्रह्म में आत्मस्वरूप में अवस्थिति करते हैं; इसी को ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। यथा—

पुरुषार्थशून्यानां च गुणानां प्रतिप्रसवः।
निर्वाणं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति॥

गुण अर्थात् प्रकृतिदेवी जब पुरुषत्यागिनी होती हैं, अर्थात् जब वे और पुरुष या आत्मा के सन्निधान में महत् और अहङ्कारादिरूप में परिणता नहीं होती हैं, पुरुष को या चित्स्वरूप आत्मा को रूपरसादि किसी प्रकार की अपनी विकृति नहीं दिखा पाती हैं, पुरुष जब निर्गुण होते हैं, अर्थात् जिस समय प्रकृति और प्राकृतिक विकार आत्मचैतन्य से प्रदीप्त नहीं होते, आत्मा में जब किसी प्रकार की प्रकृति और प्राकृतिक द्रव्य प्रतिबिम्बित नहीं होता, आत्मा जब चैतन्यमात्र में प्रतिष्ठित रहती हैं, विकार-दर्शन नहीं होते, इस प्रकार निर्विकार या केवल होने को ही कैवल्य या निर्वाणमुक्ति कहते हैं। यही सब प्रकार के मतावलम्बियों के परमपुरुषार्थ-विचार की विश्रामभूमि है। अतएव वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति ज्ञानिमात्र के लिए ही चरम लक्ष्य होना कर्तव्य है।

मुक्तिलाभ के उपाय

वेदान्तोक्त निर्वाणमुक्ति में ही जब सर्वमतवादियों का परमपुरुषार्थरूप चरम लक्ष्यत्व लक्षित हो रहा है, तब ऐसी स्थिति में उसकी प्राप्ति के लिए सब को ही प्रयत्न करना कर्तव्य है। स्वरूप-प्रतिष्ठा में निर्वाणमुक्ति साधित होती है, सुतरां स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान न रहने पर वे किस प्रकार प्रतिष्ठित होंगे ? इसी हेतु मुमुक्षुव्यक्ति सबसे पहले स्वरूप का अनुसन्धान करें। हम वेदान्तमत के पक्षपाती हैं, अतः इस स्थल पर वेदान्त-प्रतिपादित स्वरूप का अनुसरण करेंगे।

वेदान्तमतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—कुछ हो ही नहीं सकता। कारण—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्।

—छान्दोग्योपनिषद्, ३/१४/१

यह जगत् समुदाय ही ब्रह्म है, चूँकि तज्ज—उनसे जन्मता है, तल्ल—उनमें लीन होता है एवं तदन्—उनमें स्थित रहता है या चेष्टित होता है, सुतरां वृक्ष, लता, नदी, पर्वत, जीव, जन्तु, ग्रह, नक्षत्रादि जो-कुछ वस्तुएँ हम पृथ्वी पर देख रहे हैं, यह-समस्त ही ब्रह्म हैं। कारण एक ब्रह्मवस्तु भिन्न द्वितीय वस्तु कहाँ से आयेगी ? परब्रह्म अनादि और अनन्त हैं, अनन्त वस्तु की सत्ता स्वीकार्य है, तद्भिन्न और किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार्य नहीं हो सकती, कारण अनन्तसत्ता एक के बिना, दो नहीं हो सकती। जो वस्तु अनन्त है, वह सर्वत्र व्याप्त है। जो अनन्तरूप में सर्वव्यापी है,

तद्भिन्न किसी दूसरी वस्तु की सत्ता स्वीकार करने पर अनन्तवस्तु का सर्वव्यापित्व फिर नहीं रह जाता। जो वस्तु अनन्त है, उसमें समस्त वस्तुएँ ही अवस्थान कर रही हैं। यह बात अगर प्रामाण्य और सत्य होती है, तब इस परिदृश्यमान जगत् की स्वतन्त्र सत्ता असत्य हैं। जगत् फिर अनन्तसत्ता से अलग होगा किस प्रकार? यदि कहते हो, कि जगत् स्वतन्त्र पदार्थ है, तो कहना होगा, परब्रह्म अनन्त नहीं हैं। अतएव जगत् ब्रह्म में ही अवस्थान कर रहा है। एक ब्रह्म ही विश्वव्यापी होकर समस्त पदार्थों में ओतप्रोत हैं। किसी भी प्रमाण से यह युक्ति खण्डित नहीं हो सकती। जो लोग कहते हैं, परमेश्वर सर्वव्यापी हैं, फिर भी जगत् उस परमेश्वर से स्वतन्त्र और भिन्न पदार्थ है, वे जहाँ तक हो सकता है परमेश्वर की अनन्तसत्ता का अस्तित्व और सर्वव्यापित्व को स्वीकार नहीं करते। जब भी कहा जाय, परमेश्वर सर्वव्यापी और अनन्त हैं, तभी तुमने जगत् की स्वतन्त्र और पृथक् सत्ता को अस्वीकार किया। जो अनन्त है, वह अवश्य अनादि है। जिसका आदि है, उसी की सीमा और अन्त है, किन्तु अनन्त की सीमा और अन्त सम्भव नहीं है। सुतरां अनन्त पदार्थ अनादि है। अतएव ब्रह्म यदि अनादि और अनन्त हैं, तब अवश्य ही कहना होगा कि यह जगत् और ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्म के शरीर और रूप है। वे अनन्त विश्व की वस्तुओं के रूप में अवस्थित हैं एवं यह अनन्त विश्व उन्हीं में अवस्थान कर रहा है। जब सृष्टि के पूर्व में कुछ भी नहीं था, तब केवलमात्र परब्रह्म पूर्णरूप से सर्वत्र वर्तमान थे! उन्होंने चाहा—"मैं अनेक

होऊँगा''—अतः चेतनाचेतनजीवपूर्ण जगत्रूप में ये अनेक हुए हैं। सुतरां यह जगत् ब्रह्मवस्तु है एवं हमारी आत्माएँ भी अविद्यावच्छिन्न ब्रह्मात्मा हैं। जब मनुष्यरूपी अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म तत्त्वज्ञान को प्राप्त होते हैं, तभी वे स्वयं को सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म समझ सकते हैं। इस प्रकार स्वयं को ब्रह्म कहकर निश्चय करने में सक्षम होने का नाम ही स्वरूपप्रतिष्ठा या मुक्ति है।

मैं ही ब्रह्म हूँ ; यही मेरा स्वरूप है, किन्तु मायापरिशून्य 'मैं' ब्रह्म हूँ—मायोपाधिक 'मैं' ही जीव हूँ। जीव में चैतन्य और चैतन्यचालक शक्ति विद्यमान है। चैतन्य ईश्वर है, चैतन्यचालक शक्ति ही माया है। जिस प्रकार वासना के सहयोग से जीव नानारूपी, नाना क्रियापरतन्त्र हो रहा है, तद्रूप माया के सहयोग से चैतन्य नाना क्रियामय होकर जगत् और जीवरूप में प्रकाशित हुए हैं। जीव मायाधिकृत है, चैतन्य मायामुक्त ब्रह्म है।

चैतन्य और माया भिन्न भिन्न पदार्थ न सही, किन्तु भिन्न भिन्न क्रियामय हैं। चैतन्य के जड़भाव में रूपान्तरित होने पर, जड़ और चैतन्यमध्यवर्ती उभय का सम्मिश्रण है—चैतन्यप्रकाशित शक्ति को **माया** या ईश्वरवासना कहते हैं। यदि चैतन्य क्रियापर अवस्था में अवस्थित न हों, तो माया चैतन्य में लय प्राप्त करती है। माया के लय पाने पर, जगत् लय पाता है। चैतन्य को प्रकाश और क्रियापर करने के लिए काल और सत् ये दोनों नित्य ईश्वरांश चैतन्य से जिस स्थूल अवस्था का आनयन करते हैं, वही माया या प्रकृति है। अतएव एक चैतन्य ही वासना में परिवर्तित है। सूर्य जैसे अपनी शक्ति से स्थूल

भूतरूप से जलवर्षण करते हैं, फिर सूक्ष्मभाव से उसे ग्रहण करते हैं, वैसे ही ईश्वर वासनायुक्त होकर जीव होते हैं, फिर वासनाविमुक्त होने पर स्वयं हो जाते हैं। ईश्वर चैतन्य का आकर (खान) हैं। उनकी सक्रियभाव वासना उन्हीं में लीन होती है या हो सकती है; जिस अंश में वासना नहीं है, वही अंश नित्य और सर्वाधाररूप में वर्तमान है। एक ही आत्मा मन के बहुत्व में नानारूपों में प्रकाशित है। सुतरां जीव असंख्य हैं, आत्मा असंख्य नहीं हैं। एक ही आत्मा देहपरिच्छेदों से नाना देहों में भेदप्राप्त के समान विराज कर रही हैं। मन प्रति शरीर में विभिन्न हैं, सुतरां सुख-दुःख, शोक-सन्ताप, जन्म-मृत्यु, बन्धन और विमुक्ति प्रभृतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं। यथा—

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत्॥

—पञ्चदशी, द्वैतविवेक, १

एक एवं अद्वितीय ब्रह्म के कार्यकारणभाव से जीव और ईश्वरभेद से दो प्रकार की उपाधियाँ हैं। कारणभाव से अन्तर्यामी ईश्वरोपाधि एवं कार्यभाव से अहंपदवाच्य जीवोपाधि हुए हैं। ब्रह्म अद्वैत होकर भी कार्यकारण भाव से द्वैतरूप में प्रतीयमान हो रहे हैं। इस द्वैतभाव के निवारण का उपाय है विवेक। जीव में विवेकज्ञान उपस्थित होने पर जीव और ईश्वररूप उपाधि का नाश होकर केवल शुद्धचैतन्यमात्र अवशिष्ट रहता है। वही अवशिष्ट शुद्धचैतन्य ही अद्वैतब्रह्म हैं। इस प्रकार के अद्वैतब्रह्मज्ञान होने पर ही संसारबन्धन से परिमुक्त हुआ जाता है।

अब बात यह है, कि यद्यपि सृष्टि के पूर्व परब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु कुछ भी नहीं थी, एकमात्र वे ही पूर्णरूप से अनन्त देश अधिकार करते हुए वर्तमान थे,—यद्यपि इस जगत् के सभी उपादानों को उन्होंने बाहर से आहरण नहीं किया है, उनकी इच्छा से उनकी शक्ति से ये समस्त उत्पन्न हुए थे; यद्यपि वे इनके सर्वस्व हैं, तथाच पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, चन्द्र, सूर्य प्रभृतियाँ जो कुछ भी देख रहा हूँ, ये समस्त ही जड़ और जीवभावापन्न ब्रह्म ही हैं, इस बात को निम्नाधिकारी जनगण विश्वास नहीं कर पाते। अथच विज्ञता प्रकट कर कहा करते हैं, "ज्ञानमय ब्रह्म इच्छा कर अज्ञानाच्छन्न जीव और जड़जगत्‌रूप में परिणत हुए हैं, यह बात अभी भी ग्राह्य नहीं है—हम जो वही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म हैं, इच्छा कर अविद्यावच्छिन्न होकर संसारताप से तापित हो रहे हैं एवं हमारे सम्मुखस्थ वे ही दस्युगण एवं वे ही शिविकावाहकगण भी ब्रह्म हैं—अविद्यावच्छिन्न होकर अभी इसी मर्त्यलोक में जीविका के लिए सदसत् सारे कार्य सम्पादन कर रहे हैं, यह बात उन्माद न हो, तो ग्राह्य नहीं है। प्रत्यक्षदृष्ट जीवजगत् को जो लोग मिथ्या कहने में सङ्कोच नहीं करते, उन्हें निर्लज्ज नास्तिक के सिवा मुक्तपुरुष कौन कहेगा ?"

वेदान्तवादी किस अर्थ में 'जगत् मिथ्या' यह भाव ग्रहण करते हैं, जिसे न समझ पाकर भेदवादिगण उक्त प्रकार से प्रतिवाद करते हैं। आचार्यपाद रामानुज भी इनके हाथों बच न सके। वैदान्तिक कहते हैं, जगत् भी व्यावहारिक ज्ञान से सत्य है। किन्तु भ्रम दूर होने पर जैसे

सर्प और रजतज्ञान अन्तर्हित होकर रज्जु और शुक्तिमात्र रह ही जोते हैं, वैसे ही ज्ञानावस्था में जगत् ब्रह्ममय हो जाता है, अतः जगत् असत्य है। अवस्तु में वस्तुज्ञान के समान मिथ्या नहीं होता—शून्य में सर्पभ्रम नहीं होता, रज्जु में सर्पमात्र का भ्रम है। सुतरां जब तक भ्रम है, तब तक सर्प सत्य है; किन्तु भ्रम के अन्तर्हित होने पर रज्जु का ज्ञान होता है। उसी प्रकार अज्ञानावस्था में ब्रह्म में जगत्भ्रम होता है; जब तक भ्रम रहता है, तब तक जगत् भी सत्य है; किन्तु भ्रम के दूर होते ही जगत् के बदले ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाते हैं; तब अर्थात् जगत् मिथ्या हो जाता है। व्यावहारिक ज्ञान से जगत् सत्य है, केवल पारमार्थिक ज्ञान से मिथ्या मात्र है। इस प्रकार अज्ञानावस्था में व्यावहारिक जीव है, ज्ञानावस्था में पारमार्थिक ब्रह्म हैं। "तत्त्वमसि" वाक्य द्वारा आत्मा को प्रतिपन्न किया गया है एवं "नेति, नेति" वाक्य द्वारा इस मिथ्याभूत पाञ्चभौतिक जगत् को निरास कर श्रुतिवाक्यसकल एक परिशुद्ध आत्मा को ही प्रतिपन्न किये हुए हैं।* तत्त्वमसि वाक्य के "तत्" पद का अर्थ परिशुद्ध परमात्मा और "त्वं" पद का अर्थ व्यावहारिक जीवात्मा है। इन "तत्" और

---

* मेरे रचित "ज्ञानीगुरु" पुस्तक में ब्रह्मविचार, मायावाद, जगत्प्रपञ्च, जीवेश्वरभेद प्रभृतियाँ ज्ञानकाण्ड में विशदरूप से विवृत किये गये हैं, विरुद्धवादियों की युक्ति भी यथारीति खण्डित हुई है, सुतरां इन सारे तत्त्वों को सम्यक् जानने के लिए उक्त पुस्तक पढ़ें। प्रतिपाद्य विषय का उपयुक्त अंशमात्र ही यहाँ चर्चित है, सुतरां ज्ञानहीन व्यक्ति अंशमात्र के पाठ से उदार ज्ञान का विराट् भाव समझ नहीं सकेंगे।

"त्वं" पदों का जो ऐक्य है, वही "असि" पद के द्वारा बोधित होता है। यदि कहो, सर्वज्ञ परमात्मा के साथ अल्पज्ञ जीवात्मा का ऐक्य किस प्रकार सम्भव है, तज्जन्य कह रहे हैं, "तत्" और "त्वं" पदार्थस्वरूप ईश्वर के और जीव के परोक्षत्व, सर्वज्ञत्वादि और अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्वादिरूप जो सारे विरुद्ध अंश हैं, उनका परित्याग कर, "त्वं" पद का शोधन कर, लक्षणा के द्वारा लक्षित ईश्वर और जीव के अविरुद्धांशरूप चित्पदार्थ मात्र को (जो अस्ति, भाति और प्रीतिरूप में सर्वावस्था में स्फूर्ति पा रहा है) ग्रहण करने पर ब्रह्मचैतन्य एवं जीवचैतन्य में केवल एक चैतन्य अवशिष्ट रहते हैं, सुतरां चैतन्यपक्ष में ऐक्य सम्भव है।

पाठक ! अद्वैतवादी वैदान्तिकों ने किस प्रकार जीव-ब्रह्म का ऐक्य किया है, लगता है समझ गये होंगे ? जीवब्रह्म का निर्गुण एकत्व प्रतिपादन ही अद्वैतवादियों का लक्ष्य है; अन्यथा गुणों के एकत्व की कल्पना मूर्ख भी नहीं कर सकता। फिर भी ऐक्य शब्द से यह विवेचना करनी उचित नहीं है, कि दो वस्तुओं के परस्पर संयोगद्वारा ऐक्य किया जाय। ऐक्य अर्थात् एकताभाव, ये एक ही हैं—ऐसा ज्ञात होना; जो वस्तु पहले थी एवं अभी जो वस्तु है—यह वही वस्तु ही है; वह वस्तु एक एवं यह वस्तु अन्य है—ऐसा भाव नहीं है। केवल वही वस्तु ही भ्रमवश अन्य वस्तु सी कल्पित हो रही है; सुतरां ऐसे स्थल पर द्वैतता स्वीकार्य नहीं है—भ्रम मात्र है। सुतरां इस स्थल के ऐक्यद्वारा दो वस्तुओं की एकता का बोध नहीं होता; केवल यह स्मरण करा दे रहा है कि, पहले तुम जो थे—वही तुम्हीं

यह हुए हो। व्यावहारिक ज्ञान से जीव, पारमार्थिकज्ञान से ब्रह्म; सुतरां जीव का स्वरूप ही ब्रह्म है। मेरा स्वरूप ब्रह्म है, अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ—ऐसे ऐक्यज्ञान में जिनकी प्रतीति है या दृढ़ प्रत्यय जन्मा है, वे ही मुक्त हैं।

ब्रह्म ही सत् है, तद्व्यतिरिक्त समस्त ही असत् है। अविद्या के प्रभाव से व्यावहारिक दशा में स्वप्नसन्दर्शन के समान असत् सत् के रूप में प्रतीत मात्र होता है। जिस प्रकार नींद टूटने से मनुष्य, वही मनुष्य रहता है, जो स्वप्न के पहले था, उसके स्वप्नदृष्ट सुख के राज्यादि अन्तर्हित हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्या की नींद टूटने पर जीव स्वरूप को प्राप्त होता है। यथा—

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धीवियोगे निराभासको यः
स नित्योपलब्धि स्वरूपोऽहमात्मा॥

—हस्तामलक, ६

—जिस प्रकार दर्पण का अभाव होने पर तद्गत प्रतिबिम्ब का भी अभाव हो जाता है, तब उपाधिरहित मुखमात्र ही अवशिष्ट रहता है; तद्रूप बुद्धि का अभाव होने पर प्रतिबिम्बरहित जो आत्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित रहती हैं, वे ही परमार्थ सत्य नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

जिन्हें ऐसा ज्ञान हुआ है, वे ही मुक्त हैं। तभी मुक्तपुरुषों ने उच्चकण्ठ से कहा है—

"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥"

अर्थात् असंख्य ग्रथों में जो उक्त हुआ है, वह मैं श्लोकार्द्ध से कह रहा हूँ—"ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है एवं जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं।"

वेद-वेदान्तों ने इस अध्यात्मविज्ञान को प्रकाशित किया है; प्रकाशित कर मनुष्य को एक नूतन चक्षु का प्रदान किया है। वही गुरुनेत्र या ज्ञानचक्षु है। सद्गुरु की कृपा से जीव के इस चक्षु के उन्मीलित होने पर, जीव आत्मस्वरूप प्राप्त कर कृतार्थ होकर मुक्त होता है। यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
—मुण्डकोपनिषद्, २/२/८

परावर अर्थात् कार्यकारणस्वरूप वही परमात्मा जीव द्वारा अधिगत होने पर उसकी हृदयग्रन्थि का भेदन होता है, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं एवं त्रिविध कर्म ही क्षयप्राप्त होते हैं; सुतरां उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता, वह निर्वाणमुक्ति प्राप्त करता है।

अतएव एकमात्र वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मज्ञान ही मुक्तिलाभ का उपाय है। वह ज्ञान द्विविध है—एक परोक्षज्ञान, अपर अपरोक्षज्ञान। प्रथमतः ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर परोक्षज्ञान जन्मता है, तत्पश्चात् जब ब्रह्मस्वरूप स्व-स्वरूप में उपलब्ध होता है, तब अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होकर निर्वाणमुक्ति प्रदान करता है। व्यावहारिक

दशा में जीवेश्वर में स्वगतभेद हैं; स्थूल शब्दों में ब्रह्म खरा सोना और जीव मिलावटी सोना है। फिर भी कोई अल्प मिलावट का, तो कोई अधिक मिलावट का है; इसी से जीव-जीवों में भिन्नता देखी जाती है। अनेक मिलावट में अल्पमूल्य का सोना, और अल्प मिलावट में अधिक मूल्य का सोना है। किन्तु खरा सोना को भी सोना कहा जाता है, और अल्पाधिक जिस प्रकार का भी मिलावट हो, उसे भी सोना कहा जाता है। फिर उनमें भी स्वगतभेद हैं,—वर्णों और गुणों का पार्थक्य है। किन्तु एक स्वर्णकार जिस प्रकार आग में गलाकर पदार्थविशेष की सहायता से उसे पुनः पक्का सोना कर सकता है एवं तब खरे सोने के साथ उसका कोई अन्तर नहीं रह जाता, तद्रूप जीव, जिस वासना-कामना के मिलावट के कारण ब्रह्म से स्वगतभेदसम्पन्न है—उसी वासना-कामना या अविद्यारूप मैल को ज्ञान की भट्टी में गलाकर दूरीभूत कर पाने से मुक्त होकर जीव जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म हुआ रहता है। यही मोक्षलाभ है, इसी का नाम कैवल्यप्राप्ति है, इसी में द्वैतनिरोध या अद्वैतसिद्धि है।

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारय॥

जिनके लाभ से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं, जिनके ज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान नहीं, जिस सुख से बढ़कर दूसरा सुख नहीं, उन्हीं को ब्रह्म समझो।

सुतरां ब्रह्म में आत्मस्वरूप की उपलब्धि की अपेक्षा और दूसरा परमपुरुषार्थ क्या हो सकता है?—इसी का नाम निर्वाणमुक्ति है।

आत्मज्ञानद्वारा ही मुक्तिलाभ होता है। "ज्ञानात्सञ्जायते मुक्तिः"—सुतरां एकमात्र ज्ञान ही मुक्तिलाभ का उपाय है।

वैराग्य अभ्यास

तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्ति साधित होती है। फिर, हमने पहले ही कह दिया है "भक्तिर्ज्ञानस्य कारणम्"—भक्तिद्वारा तत्त्वज्ञान विकसित होता है। अतएव मुमुक्षुव्यक्ति प्रथमतः वेदविधि-अनुसार वर्णाश्रमविहित क्रियाकलापादि का सम्पादन करेगा,—जिससे चित्तशुद्धि होने पर भक्ति का सञ्चार होगा। जब मुक्तिलाभ की बलवती इच्छा जन्मेगी, तब आत्मस्वरूप लाभ के लिए वेदान्तादि शास्त्रानुसार ज्ञानालोचना करेगा। शमदमादिसम्पन्न विवेकवैराग्ययुक्त व्यक्ति ही मुक्तिलाभ के लिए व्याकुल होने पर ज्ञानालोचना के अधिकारी होते हैं। अन्यथा कर्मीव्यक्तियों को ज्ञानकथा कहकर बुद्धि-विभेद जन्माने को शास्त्रकारों ने निषेध किया है। यथा—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३/२६

मुमुक्षुव्यक्ति विवेकवैराग्ययुक्त होकर ज्ञानचर्चा करेंगे। आत्मानात्मविचार का नाम विवेक है एवं आत्मवस्तु पर लक्ष्य रखकर अनात्मीय वस्तु में जो अनुराग-परिहार है, वही वैराग्य है। एकमात्र भक्ति के सञ्चार से ही वैराग्य साधित होता है। आत्मानात्मविवेक के द्वारा जिस प्रकार अनात्मीय वस्तु में वैराग्य का उदय होता है, उसी

प्रकार भक्तिद्वारा भी भगवान् के अतिरिक्त अन्य विषयों के प्रति विराग जन्मा करता है। विवेक और भक्ति इन दोनों वृत्तियों के अनुशीलन से ही वैराग्य होता है। फिर विवेकजात वैराग्य एवं भक्तिजात वैराग्य में भी स्थूलतः पार्थक्य है। हम पुराणों की—

हरगौरी मूर्ति

को आदर्श मानकर इस तत्त्व को समझाने की चेष्टा कर रहे हैं। हरगौरी उभय ही संसारत्यागी श्मशानवासी हैं, उभय ही वैरागी के रूप में भक्तों के निकट परिचित हैं। किन्तु हर का वैराग्य विवेकलब्ध है, और गौरी का वैराग्य भक्तिमूलक है,—प्रेम ही उसका मूल है। योगेश्वर हर आत्मानात्मविवेक के द्वारा नित्य आत्मस्वरूप से अवगत होकर समस्त अनात्मीय पदार्थों से विरागवशतः आत्माराम हुए हैं। तभी विषयों की अनित्यता जागरूक रखने के लिए स्वर्णपुरी और कुबेररक्षित भण्डार का परित्याग कर मृत्यु के महाक्षेत्र महाश्मशान को उन्होंने निवासस्थान चुन लिया है। नर-कपाल उनका जलपात्र है, मानव का दग्धावशेष चिताभस्म उनके अङ्गों का आभूषण है, कभी द्वीपिचर्मवास से कटिप्रदेश आवृत रहता है, तो कभी दिगम्बर। भोगी के पास क्या कर्कश—क्या कठोर—क्या भीषण मूर्ति! और प्रेममयी गौरी हर के लिए सर्वस्व त्यागकर उनके अनुराग में उन्मादिनी होकर श्मशानवासी शिव के साथ सोने के अङ्ग में राख पोती हुई हैं। गौरी शिव को चाहती हैं, नित्यानित्यविचार के लिए उनके पास समय नहीं है; शिव को पाने के लिए वे सब कर सकती हैं। शिव सन्यासी हैं,

अतः वे भी श्मशानवासिनी हैं। आज शिव के राजा सजने पर बिना प्रतिवाद के गौरी राजराजेश्वरीरूप में उन्हीं के प्रियानुष्ठान में नियुक्त होंगी। गौरी की भक्ति का अर्थात् प्रेमपुर्वक त्याग है, जिससे वह स्वरूपतः ही शिवसमीप शोभा पा रही हैं, शिव के समान विरूप होने की जरूरत नहीं है। अहा, क्या ही सुन्दर दृश्य !—प्रेम विवेक का अनुसरण कर रहा है, विवेक उसे हृदय से चिपका कर जकड़ रखा है। इस हर-गौरी के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर पाने पर ब्रह्मतत्त्व, जगत्तत्व, आत्मतत्त्व, विवेकवैराग्यतत्त्व, प्रेमभक्तितत्त्व प्रभृति कोई तत्त्व ही समझने में बाकी नहीं रह जाता। इस विषय में शतमुख से पुराणकार के कृतित्व की प्रशंसा करनी होती है। भगवान् वेदव्यासदेव के अतिरिक्त ऐसा चित्र कवित्व की तूलिका से और किसी ने चित्रित नहीं कर सका है।

पाठक ! भक्ति का वैराग्य, लगता है, समझ गये होंगे ? भक्ति का वैराग्य अप्रामाण्य नहीं है। हमने भक्तितत्त्व में दिखायें हैं कि, परानुरक्ति-वृत्ति विषय की ओर धावित होने से आसक्ति एवं भगवान् की ओर धावित होने से भक्ति नाम से आख्यात होती है। सुतरां आसक्ति और भक्ति एक ही आधार पर तथा एक ही समय नहीं रह सकती हैं; यह बात विज्ञानविरूद्ध नहीं है। जबकि आसक्ति-परिहार एवं विषय-विरक्ति एक ही बात है। सुतरां भक्तिलाभ कर पाने पर अपने से ही वैराग्य का उदय होता है। वरन् विवेकजात वैराग्य की अपेक्षा भक्तिजात वैराग्य स्वाभाविक है। कर्तव्यज्ञान में और प्राणों के आकर्षण में जो अन्तर है, विवेक और

भक्ति, इस उभयजात वैराग्य में भी परस्पर उसी प्रकार विभिन्नता है। पराये पुत्र की मृत्यु पर कर्तव्यज्ञान से शोकसभा कर शोक-प्रकाश करते देखा जाता है, किन्तु अपने पुत्र की मृत्यु होने से शोकसभा की जरूरत नहीं रह जाती, छिन्नकण्ठ कपोत के समान जमीन पर गिरकर लोटते देखा जाता है, कारण यहाँ पर प्राणों का आकर्षण है ! पराये पुत्र को बाघ अगर पकड़ ले, बलवान् पुरुष के समक्ष भी कर्तव्य-ज्ञान का विचार आ उपस्थित होता है—उसे बाघ और अपनी शक्ति के सम्बन्ध में विवेचना करनी होती है, किन्तु उसी लड़के की षोड़शी युवती जननी—जो कुत्ते की पुकार से शङ्कितहृदय से घर में प्रवेश करती है—वह अगर उस समय निकट में रही, तो उसी क्षण सन्तान के प्राणरक्षार्थ बाघ के मुख में गमन करती; क्योंकि बाघ या अपनी शक्ति के सम्बन्ध में विचार करने का समय नहीं होता। सुतरां विवेक अपेक्षा भक्तिजात वैराग्य स्वाभाविक है। भक्त विषयसमूह के प्रति आसक्त या विरक्त नहीं होते, इसीलिए विवेकी की कठोरता और कर्कशता के बदले प्रेमिक की सुन्दरता और मधुरता ही दृष्ट हुआ करती है। भगवान् के लिए भक्त सब कुछ कर सकते हैं, उन्हें छोड़ वैकुण्ठ भी भक्त के लिए स्पृहणीय नहीं है, फिर उन्हें पाकर वे नरक में भी जाने को कुण्ठित नहीं होते। तभी तो वैष्णवसाधक ने कहा है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपभुञ्जतः।
निर्वन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धः, पूः विः २/२५३

अनासक्त होकर यथायोग्य विषयभोग करते हुए भगवान् के सम्बन्ध में जो आग्रह जन्मता है, वही वैराग्य नाम से कीर्तित होता है।

विवेकी आत्मानुसन्धान में नियुक्त होकर समस्त विषयों का परित्याग करते हुए अन्तर्मुखीन हो पड़ते हैं, और भगवान् को हृदय पर धारण कर भक्त सब कुछ भोग किया करते हैं। भगवान् को हृदय पर धारण कर भक्त महाश्मशान में भी सुधांशुसौन्दर्य का उपभोग करते हैं, फिर उन्हें खोने पर नन्दनकानन भी भक्त के लिए मरुभूमि हो जाता है। विवेकी आत्म-स्वरूप चाहते हैं; भक्त भगवान् को हृदय में लेने को व्याकुल रहते हैं। इसी से उनके लब्ध वैराग्य में भी कुछ प्रभेद हैं। तभी त्यागी सन्न्यासी-सम्प्रदाय के बीच साधनाभेद से—भावभेद से कोई कठोर, कोई सरल, कोई निरस, कोई सरस, कोई विलासी, कोई उदासी, कोई गम्भीर, कोई वाचाल, कोई रसाल, कोई भीषण, कोई शिष्ट, कोई भ्रष्ट, कोई रुष्ट, कोई तुष्ट प्रभृति विभिन्न प्रकृतियाँ दृष्ट होती हैं।

विवेकी या भक्त के लब्ध वैराग्य में विभिन्नता रहने पर भी मुक्तिपथ में वैराग्य का प्रयोजन है, इसमें सन्देह नहीं। किसी कारण से विषयवैराग्य उत्पन्न होने से ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित होकर मुक्ति प्रदान करेगा।

मुक्तिप्रद, तत्त्वज्ञानप्रकाशक वैराग्य किसे कहते हैं ?

ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्॥

—अपरोक्षानुभूतिः, ४

काकविष्ठा में जिस प्रकार किसी की भी प्रवृत्ति नहीं जन्मती है, उसी प्रकार सत्यलोक से मर्त्यलोक तक विषयों के प्रति जो अनिच्छाभाव है, उसी का नाम वैराग्य है। यह वैराग्य अति निर्मल पदार्थ है।

वैराग्यद्वारा मनोवृत्ति का निरोध हुआ करता है, अर्थात् चिराभ्यस्त बहिर्गति लौटकर अन्तर्मुखी गति जन्मती है। तब केवल आत्मा के प्रति चित्त का अभिनिवेश होता रहता है। एवम्प्रकार आत्मा के प्रति चित्त का अभिनिवेश दृढ़ करने के लिए प्रतिनियत यत्न के साथ वैराग्याभ्यास करना होता है। वैराग्य के बिना कभी भी संसारासक्ति का परित्याग नहीं होता, जबकी संसारासक्ति का परित्याग नहीं होने पर भी निवृत्ति-पथावलम्बन से मुक्तिलाभ में समर्थ नहीं हुआ जाता, सुतरां यत्न के साथ वैराग्य का अभ्यास करना होता है। यथा—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

—मुक्तिकोपनिषद्, २/१४

—जो मिथ्या संसार-वासना पूर्व पूर्व शत शत जन्मों से चली आ रही है, वह चिर-अभ्यासयोग से वैराग्यसाधन के अतिरिक्त किसी भी उपाय से क्षयप्राप्त नहीं होती।

अतएव इस दारुण संसार-यातना के निवारण के लिए शास्त्र-चर्चा करो, साधु-सङ्ग करो, इन्द्रियनिग्रह करो एवं तपस्याद्वारा ज्ञान वृद्धि कर शुभबुद्धि का उपाय करो, ऐसा होने पर स्वयं ही वैराग्य

का उदय होगा। साधुसङ्गद्वारा वैराग्यबीज सञ्चित होकर स्वयं ही समय पर अङ्कुरित होता है। कारण साधुगण कभी भी अनित्य या वृथा विषयों में मनोनिवेश नहीं करते एवं तद्विषयों की कल्पना भी नहीं करते, सुतरां उनके सङ्गीगण भी उसी प्रकार शिक्षाप्राप्त होकर समय पर तद्रूप मनोवृत्तिसकल प्राप्त होने पर उनसे वैराग्यबीज अङ्कुरित होता है।

प्रथमतः ब्राह्मणादि वर्णसकल अपने-अपने आश्रमविहित ब्रह्मचर्यादि धर्मानुष्ठान, वेदविहित कर्मानुष्ठान एवं सर्वभूतों में दयाप्रकाशादि भगवान् के प्रीतिसाधक सारे कर्म करो, क्योंकि इन त्रिविध कारणों से चित्तवृत्तियाँ परिशुद्ध हुआ करती हैं। तब प्रकृत विवेक उपस्थित होकर हृदयक्षेत्र में सात्त्विक वैराग्य का उदय करा देता है। चित्तशुद्धि होने पर भक्ति का सञ्चार होकर भी शीघ्र वैराग्य का उदय हुआ करता है। यथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

—श्रीमद्भागवत, १/२/७

ईश्वरविषयिणी भक्ति के संयोग से शीघ्र ही ज्ञान के कारण वैराग्य स्वयं उत्पादित हुआ करता है। इस प्रकार के सात्त्विक वैराग्य भिन्न राजसिक या तामसिक वैराग्य अवलम्बन के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। राजसिक या तामसिक वैराग्य ही शास्त्रों में नैमित्तिक वैराग्य नाम से उक्त हुआ है। इस अवनीमण्डल में कभी-कभी किसी-न-किसी कारण से मनुष्य में नैमित्तिक वैराग्य आ पड़ता है।

श्मशान में मृतदेह दाह करने के लिये जोने पर, किंवा स्त्री-पुत्रादि की आकस्मिक मृत्यु से, अथवा शत्रुद्वारा या दैव-दरिद्रता से उत्पीड़ित होकर जो वैराग्य जन्मता है, उसे एवं आलसी, अकर्मी, कापुरुष के वैराग्य को नैमित्तिक वैराग्य कहते हैं। कोई-कोई इसे मर्कट या फल्गु-वैराग्य कहते हैं। ऐसा वैराग्य दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रहता, कारण वह केवल वासना के अपूरण अथवा भोग्यवस्तु के अभाव किंवा किसी प्रकार की आशङ्का से उपस्थित होता है। ये लोग कुछ दिन बाद फिर विषयासक्त हो जाते हैं, नहीं तो त्यागी समाज में कलङ्क-कालिख पोतते फिरते हैं। फिर भी किसी-किसी में ऐसा वैराग्य भी काकतालीय के समान* वास्तविक वैराग्य में परिणत होता है। जो वैराग्य निमित्तरहित अर्थात् जो बिना किसी कारण के पवित्र मानसक्षेत्र में स्वयं उदित होता है, वही सात्त्विक वैराग्य है।

वर्णाश्रमोचित कर्मद्वारा पापराशि क्षयप्राप्त होकर, चित्तशुद्धि नहीं होने पर अनिमित्तक सात्त्विक वैराग्य उपस्थित नहीं होता। तभी भगवती गौरीदेवी ने गिरिराज से कहा है,—

---

* काकतालीय यथा—परिपक्वावस्था में तालफल (ताड़) के गिरने का समय उपस्थित होने पर ठीक उसी समय उसपर काक बैठते ही तालफल भूमि पर गिरने पर लोग कहते हैं कि काक ने ताल गिरा दिया, किन्तु वास्तविक काक के भार से ताल नहीं गिरता। गिरने का समय आने पर खुद गिरता है, काक निमित्तमात्र है। तद्रूप बन्धुवियोगादि नैमित्तिक कारणों से वैराग्य जन्म कर स्थायी होने पर समझना होगा कि बन्धुवियोगादि निमित्त मात्र है; उसके जन्मान्तर का शुभफल परिपक्व हुआ था, नहीं तो बन्धुवियोग तो सबको होता है, किन्तु वैराग्य जन्मते किसी में भी नहीं देखा जाता।

तस्मात् सर्वाणि कर्माणि वैदिकानि महामते।
चित्तशुद्ध्यर्थमेव स्युस्तानि कुर्यात् प्रयत्नतः॥

—श्रीमद्देवीभागवत, ३३/१५

—हे महामते! यावत् चित्तशुद्धि होकर वैराग्य का उदय न हो, तावत् यत्नपूर्वक भक्ति के साथ वेदविहित कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करना होगा।

वैराग्य के उदय से लेकर परिपक्वावस्था तक महर्षि पतञ्जलि के द्वारा वह चार भागों में विभक्त हुआ है। प्रथम यतमान, द्वितीय व्यतिरेक, तृतीय एकेन्द्रिय, चतुर्थ वशीकार। प्रथम अवस्था में वैराग्य अङ्कुरित होकर, उसमें विषय-वासना को नष्ट करने की चेष्टा जन्मती है, इस अवस्था का नाम **यतमान** वैराग्य है। द्वितीय अवस्था में कितनी वासनाएँ रहती हैं और कितनी नष्ट हो जाती हैं। जो सारी वासनाएँ रहती हैं, उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करने का नाम **व्यतिरेक** वैराग्य है। तृतीय अवस्था में समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रहता है; यही **एकेन्द्रिय** वैराग्य है। चतुर्थावस्था में संस्कार भी लयप्राप्त होता है अर्थात् बिलकुल किसी भी प्रकार की वासना का उद्रेक ही नहीं होता है। यह अवस्था वैराग्य की चरम अवस्था है, इसी को **वशीकार** नामक उत्तम वैराग्य कहते हैं। यथा—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

—पातञ्जलदर्शन, समाधिपाद, १५ सूत्र

—दृष्ट विषय अर्थात् इहकाल में जो देखा जाता और भोग किया जाता है एवं आनुश्रविक विषय अर्थात् शास्त्रादि में जो

स्वर्गादिभोगविषय श्रुत हुआ जाता है, इन दो विषयों में वितृष्णा जन्मने पर उस अवस्था को वशीकार-वैराग्य कहते हैं।

यही वैदान्तिकों का "इहामूत्रार्थफलभोगविराग"-रूप उत्तम विविदिषा-वैराग्य है। ऐसा वैराग्य ही मानव का संसारमूल छेदन करने का खड्गस्वरूप है। जिसे वैराग्य नहीं जन्मा, वह देहबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। यथा—

न ह्यज्ञजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।

—श्रीमद्भागवत, ११/८/२९

अतएव वैराग्य के बिना देहबन्धन-विमुक्ति का अन्य उपाय नहीं है। कारण वैराग्ययुक्त होने से विषयज्ञान और समस्त वासनाएँ स्वयं ही क्षयप्राप्त होती हैं। वासना के क्षय होते ही निस्पृह हुआ गया—निस्पृह होते ही और किसी प्रकार का बन्धन नहीं रह जाता; तभी मुक्तिलाभ होता है। यथा—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदये नष्टसर्वेहो मुक्त एवोत्तमाशयः॥

—मुक्तिकोपनिषद्, २/१९

समाधि अथवा किसी प्रकार का भी क्रियानुष्ठान किया जाय अथवा नहीं, जिस व्यक्ति के हृदय में किसी प्रकार की वासना उदित नहीं होती है, वही व्यक्ति मुक्त है। क्योंकि, अनात्मवासना अर्थात् मिथ्या संसारवासनासमूह से परमात्मवासना आवृत है, इसलिए वैराग्यद्वारा समस्त अनात्मवासनाएँ विनाश को प्राप्त होने पर परमात्मवासना स्वयं प्रकट होती है। लोकगत वासना, शास्त्रगत वासना एवं देहगत वासनादि से आत्मस्वरूप आवृत होने पर

वास्तविक ज्ञान नहीं जन्मता। वैराग्यसाधना से वासना के क्षय होते ही आत्मस्वरूप तत्त्वज्ञान स्वयं प्रकाशित होकर मुक्ति प्रदान करता है। सुतरां मुक्तिप्रदायक आत्मस्वरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए वैराग्याभ्यास करना मुमुक्षु व्यक्तियों का प्रधान कर्तव्य है। जिन लोगों के जन्मजन्मान्तरों की सुकृतियों के परिपाक से स्वयं ही वैराग्यसञ्चार होता है, वे अति भाग्यवान् हैं। यथा—

ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम्॥

—योगवाशिष्ठ, मुः व्यः प्रः ११/२४

इस पृथ्वी पर जिन्हें बिना कारण से वैराग्य उत्पन्न होता है, वे ही निर्मलमानस महाप्राज्ञ महान् हैं।

सन्न्यासाश्रम ग्रहण -

वैराग्य उत्पन्न होने पर आत्मस्वरूप में किंवा सच्चिदानन्दविग्रह में मनोनिवेश होने से चित्त शान्तमूर्ति धारण कर अटल हो जाता है। कारण इस अवस्था में चित्त की सारी वृत्तियाँ रुद्ध हुई रहती हैं अर्थात् चित्त की और किसी प्रकार की क्रिया नहीं रहती; इसीसे घृणा, लज्जा, मायादि अन्तर्हित होकर साधक तब शिवस्वरूप में अवस्थान करते हैं। यथा—

एतै र्बद्धः पशुः प्रोक्तो मुक्त एतैः सदाशिवः।

—भैरवयामल

घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल अर्थात् जाति-अभिमान, शील, मान—इस अष्टपाश में जो बद्ध है, उसे पशु कहा जाता है; और इस पाश से जो मुक्त हो गये हैं, वे ही सदाशिव हैं। इस प्रकार से शिवत्वलाभ होने पर ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित होता है। तब अहंबुद्धि विनष्ट होने के कारण कर्तव्यज्ञान एवं स्त्री-पुत्रादि के प्रति करुणाभाव तिरोहित होता है। उसी समय स्व-स्वरूप में अवस्थिति के लिए सन्यासाश्रम ग्रहण करें, यही शास्त्रकार ऋषियों का अभिप्राय है। यथा—

तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने वैराग्यं जायते यदा।
तदा सर्वं परित्यज्य सन्यासाश्रममाश्रयेत्॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ८/१५

दृढ़तर वैराग्याभ्यास से जब तत्त्वज्ञान समुत्पन्न होगा, तब सब कुछ परित्यागपूर्वक सन्यासाश्रम का अवलम्बन करो। ज्ञान के न होने पर कर्मत्यागपूर्वक सन्यासाश्रम का ग्रहण कर्तव्य नहीं है। इसीलिए शास्त्र में है कि—

ब्राह्मणस्य विनान्यस्य सन्यासो नास्ति चण्डिके!

ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ के अतिरिक्त अन्य का सन्यासाश्रम में अधिकार नहीं है। अगर अन्य कोई ग्रहण करे तो पाप का भागी ही होगा, कोई उपकार नहीं होगा। सन्यांस का अर्थ है सम्यक्‌रूप से त्याग। जो निर्वाणमुक्ति प्राप्ति की इच्छा करते हैं, सन्यास केवल उन्हीं के लिए आश्रयणीय है,—उन्हीं के लिए सन्यास यथार्थ में सशरीर में मोक्षसुख भोग करना है। अन्यथा दूसरों के लिए वह

केवल कष्ट का कारण मात्र है। विशेषतः सन्न्यास का अधिकारी न होकर जो संसारकार्यसमूह परित्याग कर घर से बाहर निकलते हैं, उन्हें भ्रष्टाचारी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतएव जिन्हें सन्न्यास का अधिकार नहीं जन्मा है, वे कदाचित् उसे ग्रहण न करें; क्योंकि, तद्द्वारा उनके उभय पक्ष ही नष्ट होंगे; केवल श्रममात्र ही सार होगा। पूर्वकाल में जो लोग अधिकारी न होकर सन्न्यास ग्रहण करते थे, देश के राजा उन्हें इसके लिए दण्डित करते थे। इस समय राजा भिन्नधर्मावलम्बी—समाज स्वेच्छाचारी है, अतः जिनकी जो इच्छा होती है, वे वही करते जा रहे हैं। इससे वे अपने तो प्रतारित होते ही हैं, अथच दूसरों को भी भ्रान्तपथ पर ले जा रहे हैं।

अतएव यथार्थ ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने से जब अक्षमताप्रयुक्त क्रियामात्र से विरत होगा एवं जब अध्यात्मविद्या में विशेष पारदर्शिता जन्मेगी, तभी सन्न्यासाश्रम ग्रहण करना कर्तव्य बनता है। श्रीमद्भागवतग्रन्थोक्त "आश्रमाणामहं तुर्यो" अर्थात् आश्रम में मैं चतुर्थ आश्रम (सन्न्यास) और "धर्माणामस्मि सन्न्यासः" अर्थात् —मैं धर्मों में सन्न्यास हूँ, इस भगवद्वाक्यद्वारा एवं गीता के "अनिकेतः" शब्दद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट सन्न्यासिप्रिय हैं कहकर जो आश्रम या आश्रमी का महत्त्व विघोषित किया है, जिनके द्वारा उसी पवित्र सन्न्यासधर्म में कलङ्ककालिमा अर्पित होती है, वे देश के—लोगों के—समाज के घोर शत्रु हैं। अतएव उपयुक्त अधिकार प्राप्त कर सन्न्यासाश्रम में प्रवेश करोगे। फल पक्व होने पर स्वयं ही वृन्तच्युत

होता है, किन्तु बलपूर्वक तोड़ लेने से बिन पके ही सड़ जाता है, किंवा पकने पर भी उतना मीठा नहीं होता है। उसी प्रकार साधना की परिपक्वावस्था में स्वयं ही संसारबन्धन छिन्न हो जाता है; नहीं तो ज़ो लोग बलपूर्वक संसाराश्रम परित्याग करते हैं, वे विडम्बनाभोग के बिना कभी भी सुफल प्राप्त कर कृतार्थ नहीं हो सकते। अतएव सन्यासाश्रम का अधिकारी होकर ही संसारधर्म का त्याग करो।

विवेकवैराग्ययुक्त मुमुक्षु व्यक्ति गृहस्थाश्रम का परित्यागपूर्वक सन्यासाश्रम में गमन करते समय आत्मीय, बन्धुबान्धव, प्रतिवेशी और ग्रामस्थ जनगण का आह्वान कर सभी से प्रीतिपूर्णहृदय से विदा लेते हुए अभीष्ट देवता को प्रणाम कर ग्राम प्रदक्षिणा कर निरपेक्षहृदय से घर से बहिर्गत होगा। तत्पश्चात् गुरु के सन्निधान में उपस्थित होकर कहेगा कि, सन्यासग्रहण के लिए उपस्थित हुआ हूँ, कृपा कर प्रसन्न हों। गुरुदेव इस प्रकार से जिज्ञासित होने पर शिष्य की परीक्षा कर बाद में दीक्षित करेंगे। शिष्य सन्यासग्रहण के लिए स्नान कर प्रथमतः सन्ध्याह्निक प्रभृति नित्यकार्य सम्पूर्ण करेगा। तत्पश्चात् देवऋण हेतु ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की पूजा करेगा, ऋषिऋण के लिए सनक, सनन्दन, सनातन, नारद और भृगु प्रभृति ऋषिगणों की अर्चना करेगा एवं पितृऋण के लिए पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, पितामही, प्रपितामही, मातामह, मातामही, प्रमातामह और प्रमातामही प्रभृति की पूजा करेगा। तदनन्तर विधानानुसार पिण्डदान कर देवता, ऋषि और पितृगणों के निकट कृताञ्जलिपुट से प्रार्थना करेगा—

तृप्यध्वं पितरो देवा देवर्षिमातृकागणाः।
गुणातीतपदे यूयम् अनृणी कुरुताचिरात्॥

अर्थात्—हे पितृमातृगण ! देवगण ! ऋषिगण ! आप सभी परितृप्त हों। मैं गुणातीत पद में गमन कर रहा हूँ, आप सब शीघ्र मुझे स्व स्व ऋण से मुक्त करें। इस प्रकार आनृण्य प्रार्थना कर पुनः पुनः प्रणामपूर्वक ऋणत्रय से परिमुक्त होकर आत्मश्राद्ध करना होगा।

श्राद्धकार्य समापनपूर्वक चित्तशुद्धि के निमित्त एक सौ आठ बार "त्र्यम्बक" मन्त्र का जप करो; इत्यवसर गुरुदेव वेदी में मण्डल रचना कर घटस्थापनपूर्वक इष्टदेवता की पूजा करेंगे। तत्पश्चात् परब्रह्म की ध्यानपूर्वक पूजा कर वह्निस्थापन करेंगे, उसी वह्नि में शिष्य के इष्टदेवता का होम कर शिष्य को आह्वानपूर्वक घी, दूध, चिनी, तण्डुल, जौ, तिल प्रभृति एकत्र कर तद्द्वारा साकल्य होम करायेंगे। तत्पश्चात् व्याहृति अर्थात्—भूः भूवः और स्वः इस मन्त्रत्रय से होम करायेंगे, उसके बाद पञ्चप्राणादियों का हवन करवायेंगे, तत्पश्चात् स्थूल और सूक्ष्म शरीर का विरजा-होम करायेंगे; इस प्रकार समस्त तत्त्व की आहुति देकर स्वयं को मृतवत् समझो। तत्पश्चात् यज्ञसूत्र उन्मोचनपूर्वक घृताक्त कर यथाविधि मन्त्रपाठपूर्वक अग्नि में आहुति दोगे। गुरुदेव उसी समय शिष्य को कहेंगे—

वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रेण योजितः।
निर्गतोऽसि जगज्जालात् पिञ्जरादिव केशरी॥

अर्थात् तुम वर्णधर्म, आश्रम, आचार एवं शास्त्ररूप यन्त्रों से योजित थे। अभी पिञ्जराबद्ध केशरी—सिंह जिस प्रकार पिञ्जर

तोड़ कर बाहर निकलता है, तुम भी उसी प्रकार जगज्जाल छिन्नभिन्न कर निकल गये। तुम्हारा वर्णाश्रम नहीं है,—धर्माधर्म भी नहीं है। जितने दिन वर्णाश्रम का अभिमान रहता है, उतने दिन मनुष्य वेदविधियों का दास रहता है, किन्तु वर्णाश्रमाभिमानशून्य होने पर और उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। तदनन्तर शिखाच्छेदनपूर्वक शिखा-होम करोगे। तत्पश्चात् गुरुदेव शिष्य को कहेंगे—

तत्त्वमसि महप्राज्ञ हंसः सोऽहं विभावय।
निर्ममो निरहङ्कारः स्वभावेन सुखं चर॥

हे महाप्राज्ञ ! तत् त्वमसि अर्थात्—तुम्ही वह ब्रह्म हो, तुम स्वयं को "हंस" और "सोऽहं" इस प्रकार सोचो एवं इस क्षण अहङ्कार और ममतारहित होकर आत्मस्वरूप में ब्रह्मभाव में अवस्थानपूर्वक सुख से विचरण करो।

तदनन्तर गुरुदेव घट और अग्नि का विसर्जन कर—

"नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः।
त्वमेव तत् तत् त्वमेव विश्वरूप नमोऽस्तु ते।"*

यह मन्त्र पाठपूर्वक शिष्य को नमस्कार करेंगे। अनन्तर जीवन्मुक्त सन्यासी यदृच्छाक्रम से भूमण्डल पर विचरण करते फिरेंगे।

इस प्रकार के सन्यासी होकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वरहित, सर्वप्रकार कामनारहित, स्थिरचित्त और साक्षात् ब्रह्ममय होकर भूतल पर

---

* हे विश्वरूप ! तुम्हें नमस्कार, मुझे नमस्कार, तुम्हें मुझे पुनः पुनः नमस्कार हैं। तुम्हीं विश्वरूप हो—तुम्हीं वह परब्रह्म हो, वह परब्रह्म ही तुम हो, अतएव तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

स्वेच्छानुसार विचरण करेंगे। इस विश्व को सत्स्वरूप ब्रह्ममय चिन्तन करेंगे। अपना नाम, रूप, जाति इत्यादि विस्मृत होकर स्वयं में आत्मा का ध्यान करेंगे। क्षमाशील, निशङ्क, सङ्गरहित, ममता और अभिमानशून्य, धीर, जितेन्द्रिय, स्पृहारहित, निष्काम, शान्त, निरपेक्ष, प्रतिहिंसारहित, क्रोधरहित, सङ्कल्परहित, उद्यमरहित, निश्चेष्ट, शोकरहित, दोषरहित, शत्रुमित्र में समदर्शी एवं शीतवात और आतपादि सहन करने का अभ्यास करेंगे, शुभाशुभ में तुल्यज्ञान करेंगे, लोभशून्य होंगे एवं लोष्ट्रकाञ्चन में समज्ञान करेंगे। धातुद्रव्यग्रहण, परनिन्दा, मिथ्याव्यवहार और स्त्रियों के साथ एकत्रावस्थान या हास्यपरिहासादि, यहाँ तक कि स्त्रियों की प्रतिमूर्तियों के भी दर्शन नहीं करेंगे। देश-काल-पात्र का विचार न कर ब्राह्मण-चण्डाल सभी का अन्न ग्रहण करेंगे। किसी भी द्रव्य का सञ्चय नहीं करेंगे। स्वेच्छाचारपरायण होकर ब्रह्मज्ञान से सर्वसाधारणों की सेवा के द्वारा एवं आत्मतत्त्व विचार के द्वारा कालातिपात करेंगे। अनिकेतः अर्थात्—किसी स्थान पर अधिकदिन निवास नहीं करेंगे। यावत् जीवित रहेंगे, तावत् जीवन्मुक्त होकर अवस्थिति कर देहपात होने पर निर्वाणमुक्ति प्राप्त करेंगे।

सन्यासियों की देह दाह नहीं करना चाहिए, उनकी मृत देह गन्धपुष्पादि द्वारा अर्चित कर परिशुष्क भूमि पर प्रोत्थित करोगे, नहीं तो जल में बहा दोगे। यथा—

सन्न्यासिनां मृतं कायं दाहयेन्न कदाचन।
संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्निखनेद्वाप्सु मज्जयेत्॥

—महानिर्वारतन्त्र, ८/२८४

किन्तु सन्यासिसम्प्रदायों में भी स्तरभेद से दाहादि की व्यवस्था है। सन्यासिसम्प्रदाय पहले से परिपक्वावस्था तक अर्थात् आत्मज्ञान के तारतम्यानुसार चार श्रेणियों में विभक्त है। यथा—

चतुर्विधा भिक्षवश्च बहुदककुटीचकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः॥

—सूतसंहिता

सन्यासाश्रमी चार प्रकार के हैं, यथा—बहूदक, कुटीचक, हंस और परमहंस। इनमें एक के बाद एक सभी अपेक्षाकृत उत्तम कहे जाते हैं। आत्मस्वरूप प्रतिष्ठा की दृढ़ता और मृदुतानुसार इस प्रकार का श्रेणीविभाग हुआ है। आत्मस्वरूप में अवस्थित पूर्ण सन्यासी को ही परमहंस कहते हैं। ये सन्यास-चिह्न का भी परित्याग कर यदृच्छभाव से कालातिपात किये रहते हैं। यथा—

दण्डं तोये विनिक्षिप्य भवेत्परमहंसकः।
स्वेच्छाचारपराणान्तु प्रत्यवायो न विद्यते॥

—परमहंसोपनिषत्

आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर दण्ड अर्थात् दण्ड-कमण्डलु प्रभृतियाँ सन्यासाश्रम के चिह्नादि जल में विसर्जनपूर्वक परमहंस होंगे। उनके यथेच्छाचारपरायण होने पर भी प्रत्यवाय होने की सम्भावना नहीं रहती। इन चार प्रकार के सन्यासियों की मृत देहों के सम्बन्ध में व्यवस्था है कि,—

कुटीचकं च प्रदहेत् तारयेच्च बहूदकं।
हंसं जले तु निक्षिप्य परंमहंसं प्रपूरयेत्॥

—निर्णयसिन्धु

कुटीचक का दाह, बहूदक को जल में तारण, हंस को जल में निमज्जन एवं परमहंस को भूगर्भ में प्रोत्थित करो।

सन्यासियों के सम्प्रदाय को 'मण्डली' कहते हैं, उक्त मण्डली के अवस्थितिस्थान को 'मठ' एवं उसके अध्यक्ष को 'महन्त' कहते हैं। जो सन्यासी मानवसमाज में धर्मोपदेश दान और धर्मप्रचार किया करते हैं, उन्हें 'आचार्य' नाम से अभिहित किया जाता है। जो प्रतिनियत नाना देशों और तीर्थादि में भ्रमण किया करते हैं, वे 'परिव्राजक' की आख्या को प्राप्त होते हैं। एतदतिरिक्त सन्यासी मात्र ही 'स्वामी' नाम से परिचित हैं। सन्यासिसम्प्रदाय ही चिरकाल हिन्दुसमाज का गुरु रहा है; अतः स्वामी उपाधि पर उन्हीं का एकाधिपत्य है। किन्तु हिन्दुसमाज के वर्तमान स्वेच्छाचार के कारण अन्य सम्प्रदायभुक्त होकर भी कोई-कोई ख्यातिप्रतिपत्तिलोलुपव्यक्ति गुरु सजकर समाज में सेवा-पूजा प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं; उनमें प्रकृत गुरुत्व अगर रहता, तो चौर्यवृत्ति का अवलम्बन कर उन्हें नामजाहिर करने का प्रयोजन नहीं रहता। क्या, सत्य की उपाधि धारण करने से ही सत्य का विकास होता है ?

सन्यासी के दर्शनमात्र से ही ब्राह्मणलोग "ॐ नमो नारायणाय" कहकर एवं ब्राह्मणेतर व्यक्तिगण "नारायणाय नमः" कहकर ब्रह्मस्वरूप ज्ञान से प्रणाम करेंगे। सन्यासी की देह मृतवत् होती है, अतः गृहस्थ व्यक्ति उन्हें स्पर्श न करें एवं उच्छिष्ट प्रसादादि ग्रहण नहीं कर सकेंगे। जब उनका आत्मस्वरूप प्रतिष्ठित होकर उन्हें परमहंसत्व प्राप्त होगा, तब और उस नियम के पालन का प्रयोजन नहीं रहेगा।

कारण परमहंस की देह तक चिन्मय होती हैं, सुतरां जाति या वेदविधि के सम्बन्ध में विचार न कर उन्हें नारायण ब्रह्मस्वरूप जानें। यथा—

चतुर्णां सन्न्यासिनां यः परमहंस उच्यते।
ब्रह्मज्ञानविशुद्धानां मुक्ताः सर्वे ब्रह्मोपमाः॥

—परमहंसोपनिषत्

चतुर्विध सन्न्यासियों में जो परमहंस नाम से उक्त होते हैं, वे ही ब्रह्मज्ञान द्वारा विशुद्ध हुए हैं, सुतरां वे सभी मुक्त और ब्रह्मस्वरूप हैं। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही होते हैं, यह श्रुतिवाक्य भी यही घोषणा की है।

सन्न्यासी का वैदिक या स्मार्तकर्म में अधिकार नहीं होता। उन्हें जननाशौच किंवा मरणाशौच भोग करना नहीं पड़ता। सन्न्यासी की मृत्यु होने पर भी उनके ज्ञातिगणों को अशौच नहीं लगता, उनका श्राद्धादि भी करना नहीं होता। हिन्दु-दायभाग सन्न्यासियों को उसके लिए पैतृक सम्पत्ति के अधिकार से भी वञ्चित कर चुका है। देश के राजा ही सन्न्यासिसम्प्रदाय के आश्रयदाता, रक्षक और पालक हैं। फिर सन्न्यासिसम्प्रदाय भी कायमनोप्राण से राजा और राज्य की मङ्गलकामना किया करते हैं। जो सन्न्यास-संस्कार से संस्कृत होकर समुदाय कर्म परित्याग कर चुके हैं, उन्हें दैवकर्म, आर्षकर्म या पैत्र्यकर्म में विन्दुमात्र भी अधिकार नहीं है। यथा—

नापि दैवे न वा पैत्र्ये नार्षे कृत्येऽधिकारिता।

अवधूतादि सन्न्यास

सन्न्यास धर्म के सम्बन्ध में जिस प्रकार का विधान विवृत किया गया, परमहंस के अतिरिक्त अन्य सन्न्यासी "पतितः स्यात् विपर्यये", अगर उसके विपरीत आचरण करे, तो उसका पतन होगा; वैसा भ्रष्टाचारी और किसी आश्रम में ग्रहणीय नहीं। उसीसे ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ के अतिरिक्त ब्राह्मणेतर किसी जाति एवं सुकोमलहृदया रमणी के लिए सन्न्यास निषिद्ध हुआ है। फिर शिश्नोदरपरायण कलि के मानवों के लिए वैदिक सन्न्यास विहित नहीं है; कारण भोगलोलुपताप्रयुक्त पतन अनिवार्य है। इसीलिए कलि के सर्वसाधारणों (स्त्री, शूद्रादि तक) के लिए तन्त्रोक्त सन्न्यास या अवधूताश्रम निर्दिष्ट हुआ है। कलिकाल में शैवसंस्कार-विधानानुसार से अवधूताश्रम के अवलम्बन करने को ही सन्न्यासग्रहण कहा जाता हैं।

अवधूताश्रमो देवि कलौ सन्न्यास उच्यते।

—महानिर्वाणतन्त्र, ८/२२२

कलियुग में अवधूताश्रम को ही सन्न्यास कहते हैं। जव सम्पूर्ण काम्यकर्मों से विरत होकर ब्रह्मज्ञान समुत्पन्न होगा, उसी समय अध्यात्मविद्याविशारद व्यक्ति अवधूताश्रम का अवलम्बन करेंगे। ये ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, कुलावधूत, नकुलावधूत प्रभृति नाना श्रेणियों में विभक्त हैं। उनमें ब्रह्मावधूतगण सन्न्यासियों के समान ब्रह्मनिष्ठ होते और नियमादि पालन करते हैं और अन्यान्य अवधूत शाक्त किंवा शैव मत की पूर्णतर अवस्था हैं। सुतरां इनका और पृथक्

विवरण विवृत नहीं किया है।* शास्त्र में अवधूत के ऐसे लक्षण लिखे गये हैं—

अ—आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारस्तस्य लक्षणम्॥
व—वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारस्तस्य लक्षणम्॥
धू—धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम्॥
त—तत्त्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।
तमोऽहङ्कारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥

(अवधूतगीता ८/६-९)

संस्कृतांश नितान्त कोमल होने के कारण अनुवाद प्रदत्त नहीं हुआ। अभी अवधूत के लक्षणों पर दृष्टिपात करने पर समझ सकोगे कि, सन्यासाश्रम और अवधूताश्रम में कोई पार्थक्य नहीं है; केवल शास्त्र और सम्प्रदाय की विभिन्नता मात्र है। सर्वप्रकार अवधूतगण ही पूर्णतर अवस्था में उपनीत होकर सन्यासी के समान परमहंस हुए रहते हैं। उस समय वे परमहंस के समान नियम-निषेध के अतीत, सभी साम्प्रदायिक लक्षणों के परवर्ती, यहाँ तक कि मुक्ति की भी आकाङ्क्षा नहीं करते। परमहंस जिस प्रकार ब्रह्ममय होते हैं, उसी प्रकार अवधूत भी साक्षात् शिवस्वरूप होते हैं। यथा—

* अवधूतों की श्रेणी और उनकी साधना के सम्बन्ध में मेरे रचित "तान्त्रिकगुरु" पुस्तक में विशदरूप से लिखा हुआ है, इसलिए यहाँ पर पुनरुल्लिखित नहीं हुआ।

अवधूतः शिवः साक्षादवधूती शिवा देवि।
साक्षान्नारायणं मत्वा गृहस्थस्तं प्रपूजयेत्॥

अवधूत साक्षात् शिवस्वरूप एवं अवधूती साक्षात् देवी भगवतीस्वरूपा, गृहस्थ-व्यक्ति उन्हें साक्षात् नारायण और नारायणी समझकर पूजा और प्रणाम करे। वस्तुतः दण्डी परमहंस और अवधूत परमहंस में कोई भिन्नता दृष्ट नहीं होती है। उनके दर्शन मात्र से ही गृहस्थ सर्वपापों से विमुक्त हो जाता है। वे जिस देश में निवास करते हैं, वहाँ अनावृष्टि, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी प्रभृतियाँ नहीं हो सकते। जिस देश से होकर वे गमन करते हैं, वह देश पवित्र और धन्य हो जाता है। अवधूतपरमहंसगण द्वितीय शिव हैं। यथा,—

न योगी न भोगी न वा मोक्षाकाङ्क्षी न वीरो न धीरो न वा साधकेन्द्रः।
न शैवो न शाक्तो न वा वैष्णवश्च राजतेऽवधूतो द्वितीयो महेशः॥

अवधूत योगी के समान योग-नियमों के वशीभूत नहीं होते, भोगी के समान भोगपरायण नहीं होते, ज्ञानी के समान मोक्षाकाङ्क्षी नहीं होते, वे वीर के समान बलप्रकाशक नहीं होते, धीर के समान संयमाभ्यासी नहीं होते, तपजपाधिकारी साधक भी नहीं होते। वे शैव भी नहीं, शाक्त भी नहीं किंवा वैष्णव भी नहीं, वे किसी उपासकसम्प्रदाय के नियम-निषेध के अनुगामी या विद्वेष्टा नहीं होते। वे परमानन्दस्वरूप साक्षात् द्वितीय शिवतुल्य विराजते रहते हैं। जिस किसी जाति के व्यक्ति अवधूताश्रम ग्रहण करें न क्यों, वे गृहस्थ ब्राह्मणादि सकल वर्णों द्वारा पूज्य और प्रणम्य होंगे।

शास्त्रोक्त अवधूताश्रमी के अतिरिक्त वामाचारी, ब्रह्मचारी, कापालिक, भैरव-भैरवी, दण्डी, नागा, नखी, आलेखिया, दङ्गली, अघोरी, ऊर्ध्वबाहु, आकाशमुखी, ठारेश्वरी, अधोमुखी, पञ्चधूनी, मौनव्रती, जलशय्यी, धारातपस्वी, कड़ालिङ्गी, फरारि, दुधाधारी, अलूणा, ठिकरनाथी, गोरक्षनाथी, उदासी या नानकसाही प्रभृतियाँ आधुनिक त्यागीसम्प्रदाय इस देश में प्रादुर्भूत हुए हैं।

इनके अतिरिक्त भक्तावधूत नाम से और भी एक सम्प्रदाय हिन्दुसमाज में विस्तारित हुआ है। भक्तावधूतगण "वैष्णव" नाम से परिचित हैं। उनमें रामात्, कबीरपन्थी, दादुपन्थी, रैदासी, रामसेनेही, मध्वाचारी, वल्लभाचारी, मीराबाई, निमात्, गौड़ीय, कर्ताभजा, आउल, बाउल, साँई, दरवेश, न्याड़ा, साध्वी, सहजी खुसिविश्वासी, गौरवादी, नवरसिक, बलरामी, राधावल्लभी, सखीभावक, चरणदासी, हरिश्चन्दी, सध्नपन्थी, चुहरपन्थी, कुण्डापन्थी, आपापन्थी, अनहदूपन्थी, अभ्यागत, माधवी, आचारी, अटलमार्गी, पलटुदासी, बुनियाददासी, सत्नामी, बीजमार्गी प्रभृतियाँ शाखा-सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और भी जो कितने सम्प्रदाय हैं, कौन उनकी इयत्ता करेगा ? प्रकृति के अधःस्रोत में आज हिन्दुसमाज की दुर्दशा चरम सीमा पर उपनीत होने पर भी है, मगर कभी इन सारे सम्प्रदायों ने हिन्दुधर्म का विजयकेतन गर्व के साथ भारत के वक्ष पर फहराया था। इस प्रकार के त्याग और त्यागी का उदाहरण भारत के अतिरिक्त और कहीं भी दृष्ट नहीं होता। वे एक दिन सर्वप्रकार उन्नति के उच्चमञ्च पर खड़े होने पर भी कभी भी कुत्तों और शृगालों की तरह भोग्यवस्तुओं में भूले नहीं रह सके। ये सारे त्यागीसम्प्रदाय अभी उसी का साक्ष्य प्रदान कर रहे हैं।

इन सारे विभिन्न सम्प्रदायभुक्त जनगण को सन्न्यासी कहा जा सकता है। फिर भी प्रधानतः वे दो श्रेणियों में विभक्त हैं; एक विवेकी—अपर भक्त है। जो लोग आत्मानात्म-विवेकद्वारा आत्मस्वरूपलाभ के लिए गृहस्थाश्रम त्याग करते हैं, वे विवेकी हैं; और जो सच्चिदानन्दविग्रह-लाभ के लिए व्याकुल होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग करते हैं, उन्हें भक्त-सन्न्यासी कहा जाता है। फिर भी जिस किसी प्रकार भी अनुप्राणित होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग क्यों न किया जाय, वैराग्य ही उसका मूल कारण है, उसमें सन्देह नहीं; अतः सभी सन्न्यासी हैं। पहले के लोग अगर किसी लड़के को सन्न्यासी कर सके तो अपने को वंश के साथ धन्य समझते थे। किन्तु अभी के लोग. सन्न्यासी होने की आशङ्का से अपने लड़के को साधुओं के निकट जाने नहीं देते हैं, पुत्र की नियमनिष्ठा किंवा निरामिष भोजन अथवा सत्ग्रन्थादि का पाठ पिता को अभिप्रेत नहीं है। कारण, वे भारतीय शिक्षा से वञ्चित हैं, अतः सन्न्यास का महोच्च गम्भीर तत्त्व वे समझ नहीं सकते हैं। अथवा अधिकांश सन्न्यासियों को उन्मार्गगामी देखकर पुत्र को तत्पथ पर जाने देने में आशङ्का करते हैं। भगवान् गौराङ्गदेव के ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप के सन्न्यास में गमन करने पर तदीय वृद्ध मातापिता ने नयन वारि से हृदय बहाकर इष्टदेव के निकट प्रार्थना की थी, कि "मेरा विश्वरूप फिर घर वापस लौटकर न आये।" धन्य मातापिता ! पुत्र सन्न्यासी होकर घर आये, तो उसका पतन होगा, अतः पुत्रवत्सल मातापिता ने पुत्रविरह में मृतप्राय होकर भी पुत्र की मङ्गलकामना की थी। इस तरह के मातापिता न होते, तो क्या वे गौराङ्गदेव के समान पुत्रलाभ

करने का सौभाग्य पाते ? आध्यात्मिक गम्भीर-चिन्तननिरत और भगवत्भाव से विभोर भारत ने ही एकदिन तारस्वर में गाया था—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

अपार संवित्सुखसमुद्ररूप परब्रह्म में जिनका चित्त विलीन हो गया है, उनके द्वारा कुल पवित्र, जननी कृतार्था और वसुमती पवित्र होती हैं।

तभी देखो, सन्न्यासी का स्थान कितना ऊर्ध्व में है। इसीलिए तो शिवावतार शङ्कराचार्य ने इस कौपीन-कन्थाधारी भिक्षुक सन्न्यासियों को उपलक्ष्य कर गाया था,—

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकमन्तःकरणे चरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥

सन्न्यासी का कर्तव्य

वैदिक विधान से सन्न्यासी होना हो तो जीवन की शेष अवस्था में होना कर्तव्य है। द्विजपुत्र प्रथमतः सावित्री-दीक्षा प्राप्त करने के लिए मौञ्जी-मेखला धारण कर अरण्य में गुरुगृह में उपनयन करेगा। वहीं रहते हुए द्वन्द्वाभ्यास के साथ अपने-अपने वर्णधर्म, वेदादि शास्त्रीय ज्ञान और चित्तसंयम की शिक्षा प्राप्त करेगा। विद्याशिक्षापूर्वक संयमाभ्यास से ज्ञानलाभ होने पर स्वगृह में समावर्तन करता हुआ शास्त्रोक्त व्यवस्थानुरूप दारपरिग्रह कर गार्हस्थाश्रम में प्रवेश करेगा।

तत्पश्चात् गृहस्थाश्रमोचित क्रियाकलापों का सम्पादन और कुलपावन पुत्रादि का उत्पादन करेगा। तदनन्तर वानप्रस्थाश्रम का अवलम्बन करना द्विजाति का कर्तव्य है। इस आश्रम में रहकर एकान्त में वास करते हुए आत्मानात्म-विचार द्वारा जब तीव्र वैराग्य के उदय से ज्ञान का विकास होगा, तभी सन्न्यासाश्रम का ग्रहण कर्तव्य है। किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम में ही जिनका जिह्वोपस्थ संयत होकर विषयवैराग्य का उदय होता है, उनको और किसी आश्रम में प्रवेश नहीं करना होता है। यही नहीं, इस प्रकार के नैष्ठिक ब्रह्मचारी को फिर सन्न्यास की जरूरत नहीं रह जाती है। जो गार्हस्थाश्रम में प्रवेश कर विषयों में आसक्त हो जाते हैं, उन्हीं के लिए ही सन्न्यासाश्रम विहित है। वह भी उपयुक्त समय पर ग्रहण करना कर्तव्य है। जो वृद्ध मातापिता, पतिव्रता भार्या एवं शिशुतनय इन्हें त्याग कर सन्न्यास ग्रहण करते हैं, वे महापापी हुआ करते हैं। यथा—

मातृहा पितृहा स स्यात् स्त्रीवधी ब्रह्मघातकः।
असन्तर्प्य स्वपित्रादीन् यो गच्छेद्भिक्षुकाश्रमे॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ८/१९

जो व्यक्ति स्वीय मातापिता और पत्नी प्रभृति को परितृप्त न कर सन्न्यासाश्रम में गमन करता है, उसे मातृहत्या, पितृहत्या, स्त्रीहत्या और ब्रह्महत्यादिजनित पापों में लिप्त होना होता है। तभी शास्त्र में है कि—

विद्यामुपार्जयेद् बाल्ये धनं दारांश्च यौवने।
प्रौढ़े धर्माणि कर्माणि चतुर्थे प्रव्रजेत् सुधीः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ८/१६

बाल्यकाल में विद्योपार्जन करो, यौवनावस्था में धनोपार्जन और दारपरिग्रह करो, प्रौढ़समय में धर्मकर्मानुष्ठान में रत रहो और वृद्धावस्था में (पचास के ऊपर) सन्यासाश्रम अवलम्बन करो। शास्त्रकारों द्वारा इस प्रकार की कठोर आज्ञा के बाबजुद बुद्धदेव, शङ्कराचार्य, कपिलदेव, शुकदेव, गौराङ्गदेव प्रभृति अवतारगण एवं कितने महात्मा आत्मीयवर्ग को शोकाकुल कर प्रव्रज्या ग्रहण के लिए बाध्य हुए थे। सुतरां इन सब आदर्श-महापुरुषों द्वारा यही प्रचारित हुआ है, कि प्रकृत वैराग्य के उपस्थित होने पर जिस किसी समय सन्यासाश्रम का अवलम्बन किया जा सकता है। इसी कारण से शास्त्र "तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने" इत्यादि वाक्यों से सन्यास का अधिकार निर्णय कर चुके हैं। भगवान् का प्रेमाकर्षण जो व्यक्ति अनुभव कर पाया है, उसके निकट शास्त्र-युक्ति की मर्यादा रक्षित नहीं होती। तभी प्रेम के महाजन श्रीमत् रूपगोस्वामी ने कहा है,—

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, पूः विः २/२९१

उस माधुर्यभाव के उपस्थित होने पर ईश्वरलाभ के विषय में ऐसा बोध उत्पन्न होता है, कि युक्ति किंवा शास्त्रोक्त विधिनिषेध किसी की भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। अतएव उपरोक्त शास्त्रवाक्य सकल अनधिकारियों के शासनमात्र हैं। ब्रह्मचर्य मुक्तिरूप कल्पतरु का मूल है, गार्हस्थ उसकी शाखा-प्रशाखाओं का प्रकाण्ड काण्ड है, वाणप्रस्थ उसका मुकुल एवं सन्यास उसका शान्तिसुधारस से भरा सुपरिपक्व फल है। इस अमृतमय फल को जो व्यक्ति जीवन में

न पा सका, उसका जीवन ही वृथा है। अतः तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होते ही संसार-लालसा का परित्याग कर सन्यासाश्रम का ग्रहण करो।

भगवान् ईसा ने अपने शिष्यों को सर्वस्व विक्रय कर दरिद्रों को वितरण कर फकीर हो जाने का उपदेश दिया था। यथा—

Sell all that ye have and give alms; provide yourselves bags which was not old, a treasure in the heavens that faileth not, where no thief approacheth, neither moth corrupteth. For where your treasure is, there your heart be also.

—*Bible, St. Luke XII.*

पारसीकबि हाफेज ने कहा है—

"यदि महान् परमेश्वर के उद्देश्य से संसार का सर्वस्व विनाश करो, तुम्हारा आपादमस्तक इश्वर की ज्योतिः से पूर्ण होगा। तुम्हारे अस्तित्व की भूमि विलोड़ित होने से ऐसा न सोचो कि तुम विनष्ट हो जाओगे।"

—"देवान हाफेज" नामक ग्रन्थ का अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उद्धव को "सन्न्यासो मूर्द्धनि स्थितः" अर्थात् "सन्न्यास मेरे मस्तक पर स्थित है" कहकर सन्न्यासाश्रम का महत्त्व समझाया है। सुतरां मुक्तिरूप कल्पपादप का फल भक्षण की इच्छा रहने पर सन्न्यासाश्रम का ग्रहण एकमात्र कर्तव्य है। यह हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान—पृथ्वी के इन चार श्रेष्ठ सम्प्रदायों के ही आचार्यों द्वारा अनुमोदित है। किन्तु आज हिन्दुधर्मानुमोदित ब्रह्मचर्यरूप मूल छेदित होने के कारण, मुक्तिरूपी कल्पपादप के

अन्यान्य अङ्ग श्रीहीन और शुष्क हो गये हैं। और उस शुष्क पादप पर असंख्य परगाछा उग आये हैं। अभी गार्हस्त और सन्न्यास, ये उभय आश्रम ही जीर्णदशाग्रस्त कङ्कालावशेष हो गये हैं। आजकल विद्या, ज्ञान, संयमशिक्षा हो या न हो, दीर्घकेश-श्मश्रुनखादि रखकर कषाय धारण और रुक्ष स्नानादि के बाह्य अनुष्ठानकारी ही लोकसमाज में ब्रह्मचारी हैं। देवकृत्य, पितृकृत्य, स्वाध्याय और आश्रमोचित अन्यान्य अवश्यपालनीय कार्य करो या न करो, विवाह कर पुत्रोत्पादन कर पाने पर ही वह गृहस्थ है। शिक्षिता वधूमाता की मन्त्रणा से उपयुक्त पुत्र द्वारा घर से निकाल दिये जाने पर मातापिता वानप्रस्थी हो जाते हैं। और जब प्रणवायु के निकल जाने पर नश्वर शरीर को छिन्नवस्त्रों में लपेट कर कलस-कन्था सह श्मशान में निक्षेप करते हैं, तभी पूर्णसमाधि—सन्न्यास सिद्ध होगा। हाय ! हाय !! ब्रह्मचर्य के अभाव* और काल के प्रभाव में हेमप्रभ भारत की मूर्ति आज मलिन हो गई है। इसी कारण आज भारतवासी दुर्दशाग्रस्त और निन्दित हो गये हैं।

विषम काल आ पड़ा है। विषम काल आ गया है, तभी तो डर लगता है। हाय रे ! जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या न कर मानव जो कभी सन्न्यास प्राप्त नहीं कर पाता था, आजकल काल के प्रभाव से वही पाप-पुण्यातीत पवित्र आश्रम लोगों के लिए सन्देहस्थल हो

---

* मेरे रचित "ब्रह्मचर्य-साधन" में ब्रह्मचर्य और उसकी उपकारिता लिखी गई है।

गया है। कैसे बुरे क्षण में राक्षसराज रावण ने कपट सन्न्यासी के वेश में सीताहरण किया था, तब से लेकर आज तक चोर, डाकू, नरघाती, लम्पट, बदमास प्रभृतियाँ व्यक्ति अपनी दुरभिसन्धि की सिद्धि के लिए सन्न्यासी का वेश धारण कर रहे हैं। सन्न्यासिगण हिन्दुसमाज में शीर्षस्थानीय हैं; तभी हिन्दुलोग साधुसन्न्यासियों को हृदय की श्रद्धा-भक्ति का अर्पण करते हैं, असूर्यम्पश्या कुलवधुएँ अबाध अकुण्ठितचित्त से साधु के निकट गमन एवं सम्भाषालापादि करती हैं। अनेक बदमास इसीलिए पवित्र सन्न्यासी सजकर लोगों की आँखों में धूल झोंककर अपना मतलब सिद्ध और निश्चिन्त होकर बिना परिश्रम उदरपोषण करते घूम रहे हैं। अच्छी वस्तु की ही भेजाल बाहर होती है, सुतरां इसमें भी सन्न्यासाश्रम का महत्त्व ही विघोषित हो रहा है। किन्तु साधारण लोग इस प्रकार के पाखण्डी साधुओं द्वारा पुनःपुनः प्रतारित होकर अब और सरल मन-प्राणों से इनकी सेवापूजा करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। विशेषतः अपरिशुद्धचित्तवश प्रकृत साधु-महात्माओं को पहचानने की भी शक्ति उनमें नहीं है। "साँचा कहे तो मारे लाठी, झूठा जगत् भुलाय।" अतः आडम्बरपूर्ण रचनवचनवागीश पाषण्डी ही समाज के लोगों को मुग्ध करके मतलब सिद्ध कर लेते हैं। साधारण प्रकृत साधुओं की उपेक्षा कर अपने-अपने हृदय के आदर्शानुयायी जटाजूटसमायुक्त, चिमटा-करंगधारी विराट् सन्न्यासियों का अनुसरण किया करते हैं। वे प्रकृत साधुओं के निकट जाकर सुख न पाकर उनके साधुत्व से सन्दिहान हो पड़ते हैं। इसीसे समाज की दुर्दशा के

साथ-साथ प्रकृत साधु दूर होते जा रहे हैं; और वह स्थान जितने सब चोर, प्रतारक आदि के द्वारा अधिकृत होता जा रहा है। नहीं तो साधु सूर्यस्वरूप होते हैं; अन्धे उन्हें न देख सकें भी तो अध्यात्मचक्षुविशिष्ट व्यक्ति के निकट क्या वे अप्रकाशित रह सकते हैं? साधुओं की शान्त और आनन्दघनमूर्ति होती है! त्रितापक्लिष्ट जीव जिनके निकट जाकर अन्ततः क्षण भर के लिए भी शान्ति और आनन्द पाते हैं, वे ही यथार्थ साधु हैं। एतद्भिन्न शास्त्रों में भी प्रकृत साधुओं के सुमहान् लक्षण सुन्दररूप से प्रकटित हैं। किसी भी शास्त्र में ऐन्द्रजालिकता और शक्तिमत्ता साधुओं के लक्षणों के रूप में लिखित नहीं हैं।

तभी कह रहा था, अनधिकारी व्यक्ति सन्न्यासाश्रम का ग्रहण कर ढोंगीदल को पुष्ट और अपना दूरदृष्ट को प्राप्त न करो। जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होकर वैराग्य दृढ़ होगा एवं सांसारिक कर्तव्यबुद्धि विनष्ट होगी, तभी सन्न्यासाश्रम का ग्रहण करना कर्तव्य है। जो इन्द्रियजय नहीं कर पाया है एवं ज्ञान और वैराग्यरहित है, अथच जिसने सन्न्यास का अवलम्बन किया है, ऐसा धर्मविघाती व्यक्ति असम्पूर्णाभिलाष होकर इह और परलोक दोनों से च्युत होता है। कुत्ता जिस प्रकार वमन कर पुनः उसे ही भक्षण करता है,—पतित सन्न्यासी भी वैसा ही है। यथा—

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥

—श्रीमद्भागवत, ७/१५/३६

जिस घर में सर्वत्र ही त्रिवर्ग रोपण किया हुआ है, उस घर को परित्यागपूर्वक प्रव्रज्या का अवलम्बन कर कोई सन्न्यासी यदि फिर उसी त्रिवर्ग की ही सेवा करता है, तब उस निर्लज्ज व्यक्ति को वमनभोजी कुक्कुर शब्द से अभिहित किया जाता है। अतएव आत्मप्रतारक न होकर स्वयं की विशेषरूप से परीक्षा कर सन्न्यासाश्रम में गमन करो।

यद्यपि तत्त्वज्ञानी सन्न्यासिगण शास्त्रीय किसी प्रकार के बिधि-निषेध के अधीन नहीं हैं, तथापि पूर्णसन्न्यास अर्थात् परमहंसत्व में प्रतिष्ठित न होने तक आश्रमोचित नियमादि का प्रतिपालन करें। दण्ड, कमण्डलु और गैरिकवस्त्र का धारण कर गाँव के बाहर या पेड़ के नीचे अवस्थिति करें। अहिंसा, सत्यशीलता, अचौर्य, सभी प्राणियों के प्रति दयादृष्टि एतावत् आचरण करें। कौपीनमात्र का आच्छादन, शीतनिवारणार्थ कन्था या कम्बल एवं पादुकाभिन्न और कोई द्रव्य ही अपने निकट न रखें।

अनिकेतः क्षमावृत्तो निःशङ्कः सङ्गवर्जितः।
निर्ममो निरहङ्कारः सन्न्यासी विहरेत् क्षितौ॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ८/२७२

सन्न्यासी एक स्थान पर सर्वदा निवास न करें। वृद्ध, मुमुर्षु, भीरु और विषयासक्त व्यक्तियों का सङ्ग त्याग करें। समस्त प्रकार का लोकसङ्ग परित्यागपूर्वक एकाकी विचरण करना कर्तव्य है। याञ्चा, शङ्का, ममता, अहङ्कार, सञ्चय, दासत्व, परनिन्दा प्रभृति का परित्याग करें। सन्न्यासी ग्राम्य आमोदप्रमोद, नृत्यगीत, सभासमिति,

वादवितण्डा और वक्तृतादि वर्जन करें। कामक्रोधादि को मन में भी स्थान न दें। यथा—

न च पश्येत् मुखं स्त्रीणां न तिष्ठेत् सत्समीपतः।
दारवीमपि योषाञ्च न स्पृशेद् यः स भिक्षुकः॥

—महानिर्वाणतन्त्र

सन्यासी स्त्रियों का मुख न देखें, उनके निकट न रहें एवं दारुमयी स्त्रीमूर्ति तक स्पर्श न करें, रमणी के साथ रहस्यालाप वर्जन करें। सर्वप्रकार वासना-कामना, सुख-दुःख, शीत-आतप, मान-अभिमान, माया-मोह, क्षुधा-तृष्णा भूलकर द्वन्द्वसहिष्णु हों एवं सर्वत्र समबुद्धिसम्पन्न होकर सर्वब्रह्ममय दर्शन करते हुए ब्रह्मभाव में विचरण करते फिरें। तत्पश्चात् आत्मस्वरूप के प्रतिष्ठित होने पर सर्वविधिनिषेध विसर्जनपूर्वक परमहंस हों। यथा—

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तौ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?

—शुकाष्टक

जो सकल महात्मा तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर निस्त्रैगुण्य पथ पर विचरण करते हैं, उनके लिए कुछ भी भेदाभेद नहीं है। ऐसे व्यक्तियों का पाप-पुण्य विशीर्ण हो जाते हैं, धर्माधर्म क्षयप्राप्त होते हैं, संसार एवं वृत्तियाँ अर्थात् इन्द्रियादि का धर्मसमुदाय विनष्ट हो जाता है। तब वे केवल शब्दातीत गुणत्रयशून्य ब्रह्मतत्त्व से ज्ञात

होकर विचरण करते रहते हैं। इस प्रकार की अवस्था के प्राप्त होने पर वे सन्न्यासी परमहंसपदवाच्य होते हैं। परमहंस-अवस्था में वेदादि शास्त्रों के विधिनिषेध द्वारा फिर बन्धन सम्भव नहीं होता।

परमहंस-सन्न्यासी शास्त्रों की निगूढ़ार्थ-सकल व्याख्या करें, विषयविमूढ़ लोगों को तत्त्वोपदेश द्वारा प्रबुद्ध करें, शास्त्रीय गुह्यरहस्य का ग्रन्थाकार में प्रचार कर साधारण लोगों की संशय-ग्रन्थियों का उच्छेद और भ्रान्तियों को शान्त कर दें। अधिकांश हिन्दुशास्त्र एवं प्रधान-प्रधान भाष्य और टीकाकार सभी परमहंस-सन्न्यासी हैं। परमहंस पुण्यतीर्थ में किंवा पवित्र प्रदेश में निवास करें एवं यथाशक्ति पर्यटनपूर्वक देश-देश में ज्ञानोपदेश दान कर लोगों को पवित्र करें। जगत् का सर्वप्रकार हित-साधन ही परमहंस-जीवन का महाव्रत होता है।

समस्त लक्षणों को मिलाकर सन्न्यासी देख पाना बड़ा ही दुर्लभ है। यही कहकर कोई भी सन्न्यासी की निन्दा न करे। कारण देवादिदेव महादेव ने कहा है, जो व्यक्ति विष्णु, शास्त्र और सन्न्यासी की निन्दा करता है, वह व्यक्ति साठ हजार वर्ष विष्ठा में कृमि होकर कालयापन करता है। यथा—

विष्णुश्च सर्वशास्त्राणि सन्न्यासिनश्च निन्दति।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

भगवान् शङ्कराचार्य और तद्धर्म

भगवान् बुद्धदेव के तिरोधान के पश्चात् जब पथभ्रष्ट बौद्धों* का शून्यवाद और नास्तिकता के कठोर कर्कश आराव से दिङ्मण्डल प्रतिध्वनित था; तब मौका देखकर बौद्ध, तान्त्रिक और कापालिकलोग विकट वदन से वेदानुग्रहच्छायाश्रित भारतभूमि को ग्रास कर बैठे—पञ्च-मकार की साधना के नाम पर मद्य-मांस का श्राद्ध और नारी का सतीत्त्व लुण्ठित होने लगा; जप, तप, पुण्य, धर्म, याग-यज्ञ, शास्त्रचर्चा उठ गये; विषयासक्ति भारतवर्ष को राहुग्रस्त चन्द्रमा के समान ग्रास कर बैठी। तपस्तेजोवीर्यवान् ब्रह्मवादी ऋषिगण निभृत गिरिगुहाओं में आश्रय ग्रहण करने लगे; मुनिगण योगिगण लोकसमाज के अगोचर में छिप गये। साधारण लोग विषयों के दास होकर—संसार के कीट होकर स्वर्ग-सुखादि भोग-कामना से ब्रह्मज्ञान—आत्मसमाधि आदि भूलकर कर्मकाण्ड को ही आदर देने लगे। भारत की सन्तानों ने जगत्पति को छोड़कर जड़जगत् की सेवा में मनोनिवेश किया—भोगासक्त इन्द्रियपरायण होकर नरगण नारायण को विदा कर संसार को ही सार समझ स्वार्थसेवा में व्रती हुए। भारतभूमि की वैदिक प्रतिभा अन्तर्हित हुई—ब्राह्मण्यधर्म की उज्ज्वल हेमप्रभा काल के निष्पेषण से सूखकर

---

* ढोंगी या भ्रष्टाचारी बौद्ध, सन्न्यासी या वैष्णव की आलोचना से प्रकृत बौद्ध, सन्न्यासी या वैष्णव का गौरव नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह आलोचना उन्हें स्पर्श नहीं करती है।

भूमि पर लोट पड़ी। भारत का सर्वत्र अज्ञान-अन्धकार से आवृत हो गया।

उस समय की अवस्था देखकर देवताओं ने दीर्घनिःश्वास छोड़ी, —आपकी चिर साध के भारत की दारुण दुर्दशा देखकर भगवान् का अटल सिंहासन काँप उठा। ठीक उसी समय शिवतेजोवीर्य से प्रदीप्त होकर पृथ्वीप्रसिद्ध प्रातःस्मरणीय भगवान् शङ्कराचार्य ने भारत में आविर्भूत होकर भारत-सिंहासन पर वेदान्तशास्त्र का विजयमुकुट स्थापन किया। वेदान्तशास्त्र का पुनः प्रचार कर कर्मकाण्डों की अनित्यता, जगत् की असत्यता, कुज्झटिकावत् संसार की क्षणभङ्गुरता एवं ब्रह्म ही सत्य है, यही लोगों को शिक्षा दी। उन्होंने समझाया—जीव भी ब्रह्म है, जगत् भी ब्रह्म है, समस्त ही ब्रह्म है; ब्रह्म भिन्न और कुछ भी नहीं है। उनकी प्रतिभा और तपस्तेजोवीर्य सहन न कर पाकर पथभ्रष्ट बौद्धों ने ब्रह्म, चीन, तिब्बत, लङ्का प्रभृति अनार्य देशों में जाकर आधिपत्य विस्तार किया। कोई-कोई पर्वत-गुहाओं किंवा निविड़ जङ्गल में आश्रय ग्रहण कर सम्प्रदाय के अस्तित्व की रक्षा करने लगे। मण्डनमिश्र प्रभृति महामहोपाध्याय पण्डितगण शङ्कराचार्य की प्रतिभा के निकट जड़ हो गये। सभी उनका शिष्यत्व स्वीकार कर द्विगुण उत्साह से गुरु के कार्य में सहायता करने लगे। देश के आपामर सभी ने उनके चरणों के नीचे आश्रय ग्रहण किया। अत्यल्पकाल में ही समस्त भारतवर्ष उनके चरणों में लोट गया, वे लोकगुरु—जगद्गुरु के रूप में भारत में सर्वत्र शान्ति की अमियधारा वर्षण करने लगे। बौद्धमन्दिरों में देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित

होने लगीं एवं बौद्धमठ हिन्दुमठों में परिणत होने लगे। फिर सभी वेदान्तोक्त ब्राह्मण्यधर्म की सुशीतल छाया में आश्रय प्राप्त कर नवजीवन से सञ्जीवित हो उठे; अपूर्ण मानव जीवन का पूर्णत्व साधन कर मर्त्य में ही अमरत्व प्राप्त किया।

भगवान् शङ्कराचार्य ने हिमालय से कुमारिका एवं गान्धार से चट्टल तक देश-देश में भ्रमण कर वैदान्तिक ब्रह्मज्ञान के प्रचार के द्वारा भारतवर्ष को पुनर्जाग्रत कर दिया। अश्रुसिक्त भारतमाता के मलिनवदन पर फिर से विद्युद्विकाश दिखाई पड़ा। जगत् के यावतीय धर्मप्रतिष्ठातागण ने भगवान् का कोई विशेष एक लक्षण का निरूपण कर उसकी प्राप्ती का उपाय प्रचार किया है। इसीलिए यावतीय धर्मसम्प्रदायों से विद्वेष-कोलाहल उत्थित होता रहता है। किन्तु भगवान् शङ्कराचार्य ने ब्रह्म का स्वरूपलक्षण निरूपण कर जिस विश्वव्यापी उदार मत का प्रचार किया, उससे सर्वाधिकारी जनता स्थान प्राप्त कर कृतार्थ हुए। तभी आज हिन्दू, बौद्ध, ब्राह्म, सिख, जैन, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि जगत् के सारे धर्मसम्प्रदायों को वैदान्तिक धर्म के विशाल गर्भ में पड़े रहते देखा जा रहा है। ऐसा सर्वमतसमन्वयी सर्वधर्मसमञ्जसा उदार मत या धर्म और कभी भी किसी देश में किसी के भी द्वारा प्रचारित नहीं हुआ। ऐसे धर्मवीर, कर्मवीर, ज्ञानवीर, प्रेमिक प्रचारक शायद पृथ्वी पर और नहीं जन्में हों। बत्तीस वर्ष मात्र उनकी परमायु, इसी वय में उन्होंने सर्वविद्या और सर्वशास्त्र-विशारद पण्डित होकर साधनाद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त किया, उपधर्मपरिप्लावित भारतवर्ष में उन्होंने पदव्रज से (तब रेल, स्टीमर

नहीं थे) पर्यटनपूर्वक समग्र भारत में सत्य सनातनधर्म का प्रचार किया था। कितने-कितने महामहोपाध्याय पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करना पड़ा था—कितनी बार कितने दुर्वृत्तों के हाथों जीवन-संशय घटित हुआ था। इसके अतिरिक्त शारीरक सूत्र का भाष्य, श्रीमद्भागवद्गीता का भाष्य, दशोपनिषद् का भाष्य, योगशास्त्र की टीका, ६० वैदिक ग्रन्थ एवं भक्तिगद्गद्चित्त से कितने देवी-देवताओं के स्तवादि की रचना की थी। मोहमुद्गर, विज्ञानभिक्षु, आत्मबोध, मणिरत्नमाला, अपरोक्षानुभूति, विवेकचूड़ामणि, उपदेशसाहस्री, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह इत्यादि ग्रन्थ पृथ्वी पर सर्वत्र आदृत होकर अपनी अक्षयकीर्ति की घोषणा कर रहे हैं। पाठक ! एक व्यक्ति के बत्तीस वर्ष के आयुष्काल में ऐसा कर्ममय जीवन और किसी का भी तुमने देखा है क्या ?—सोचने पर हमारा छोटा-सा मस्तिष्क आलोडित हो जायेगा। इसीलिए शायद आज भारत के आबालवृद्धवनिता के कण्ठ से शङ्कर का सुमहान् नाम समस्वर से उच्चारित हो रहा है। भारत के अन्यान्य प्रचारकों ने अपने देश की सीमा के बाहर किसी समय अन्य देश के साधारण लोगों के हृदय पर अधिकार करने का सुअवसर और सौभाग्यलाभ नहीं कर सका। किन्तु शङ्कराचार्य साक्षात् शङ्कररूप में भारत के घर घर में पूजित हो रहे हैं।

फिर भी आसाम और बङ्गवासियों में बहुतों ने भगवान् शङ्कराचार्य की महिमा को समझने का अवसर नहीं पाया। जिस देश के लोग भगवान् बुद्धदेव को विष्णु का नवम अवतार जानकर भी हृदय की श्रद्धा-भक्ति के बदले "वेदविरोधी नास्तिक" कहकर घृणा करते हैं,

वे लोग अगर शङ्कराचार्य को भी "प्रच्छन्न बुद्ध" कहकर नासिका कुश्चित करें, तो इसमें विचित्र क्या है ? जिबकि बङ्ग का एक सम्प्रदाय स्वकपोलकल्पित कहानी रचकर कहा करता है, "जब भगवान् ने देखा कि भारत के अनेक से लोग धर्मबल से उद्धार हुए जा रहे हैं, तब शिव को शङ्कराचार्य के रूप में अवतीर्ण होकर मानवसमाज को विपथ में सञ्चालित करने को उन्होंने आदेश दिया, इसी कारण शङ्कराचार्य का आविर्भाव हुआ।" चमत्कार युक्ति है ! इस युक्ति की बला लेकर मरने की इच्छा होती है। इस प्रकार की कहानी के प्रचार से शङ्कराचार्य के अदृष्ट में जो भी घटे, किन्तु भगवान् के "दयामय" नाम का जो सपिण्डीकरण हो गया—ब्राह्मण के गायत्रीमन्त्र का अर्थ जो व्यर्थ हो गया, वह सम्प्रदायान्धगण भक्त और पण्डित होकर भी समझ न सके। शङ्कराचार्य के आविर्भाव के पूर्व भारत की अवस्था कैसी थी, वह ऐतिहासिक सत्य भी शायद वे नहीं जानते थे। जानते तो उनसे निर्लज्ज के समान इस कहानी की रचना सम्भव नहीं होती। उस समय जबकि वेद और वेदप्रतिपादित भगवान् कीं कथा भूलकर नास्तिकता और जड़त्व के दानवी निःश्वास से भारत अधःपात में चला गया था, तो फिर "लोग उद्धार हो जा रहे हैं" उसके लिए भगवान् का सिरदर्द क्यों हो ? वरं शङ्कराचार्य ने आविर्भूत होकर नास्तिकता और जड़त्व के बदले भारत का पूर्वगौरव पुनरुद्दीप्त कर तिया। तभी आज कृतज्ञता से अनुप्राणित होकर शायद ये सारी कहानियाँ प्रचारित हो रही हैं, नहीं तो इतनी बड़ी एक अधःपतित जाति को अन्य देश के लोग सहज ही कैसे पहचान

सकेंगे ? बङ्गप्रदेश में कभी भी ब्राह्मण्यधर्म का गौरव नहीं था, तभी आदिशूर ने कान्यकुब्ज से पाँच वैदिक ब्राह्मण लाकर इस देश में स्थापित किया। बङ्गदेश के वर्तमान ब्राह्मणगण उन्हीं के वंशधर हैं। बाद में वे स्थानीय भ्रष्टाचारी तान्त्रिक ब्राह्मणों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का स्थापन कर उनके साथ घुल-मिलकर वैदिकधर्म से च्युत होकर भ्रष्टाचारी हो गये। तभी इस देश में वृक्ष को छोड़कर लतादि परजीवी पौधों का आदर होता है—तभी वेदानुमोदित ऋषिप्रणीत स्मृति के स्थान पर रघुनन्दन (स्मृति) की व्यवस्था है, पाणिनि के स्थान पर मुग्धबोध-कलाप, आयुर्वेद की जगह वैद्यशास्त्र, अरवा की जगह उसना, संयम की जगह पर स्वेच्छाचार ने अधिकार कर लिया है। बंगाल के पण्डितलोग भारतीय दर्शनशास्त्रों में न्यायदर्शन के शुष्कतर्क के रसास्वादन में नृत्य किया करते हैं। इस देश में कभी भी वेद-वेदान्त की चर्चा नहीं हुई। दो-एक पण्डित के वेदान्तशास्त्र के पाठ करने पर भी अन्वय, शब्दार्थ के अतिरिक्त "जायते ज्ञानमुत्तमम्" दिव्यज्ञान प्राप्त कर कृतार्थ न हो सके; सगुण और निर्गुण के विद्यालय का बालकोचित अर्थ कर अनर्थ उत्पादन कर रहे हैं। विश्वविद्यालय के शिक्षित युवकोंने वेदान्त का आदर अवश्य सीख गये हैं; किन्तु वे भी उच्छृङ्खलतावश नाना मत निकालकर नाम जाहिर करते फिर रहे हैं। तभी इस देश में वेदान्त या तत्प्रचारक शङ्कराचार्य का महत्त्व कोई भी हृदयङ्गम नहीं कर पा रहा है। जिसका चित्त जिसरूप में अनुशासित है, वह उसी रूप में वेदान्त की व्याख्या किया करता है; किन्तु सत्यप्रत्यक्षकारी के बिना वेदान्त का प्रकृत

अर्थ निर्णय करने की किसी में भी शक्ति नहीं है। फिर भी क्रमशः शिक्षित सम्प्रदाय में शङ्कराचार्य का सिंहासन स्थापित हो रहा है। भगवान् रामकृष्ण परमहंसदेव के अनुग्रह से उनके मिशन भी इस देश में वेदान्त प्रचार कर रहे हैं। बङ्गप्रदेश में कोई वेदान्त या शङ्कराचार्य का महोच्च गम्भीर भाव का धारणा कर सके या नहीं, सुदूर यूरोप-अमेरिका के गुणग्राही व्यक्तियों ने शान्तिवारि और कण्ठ का भूषण ज्ञान से वेदान्त और शङ्कर का मत आदर से ग्रहण किया है। बङ्गालियों के गौरव श्रीमत् विवेकानन्द स्वामी ने एकमात्र वेदान्त शास्त्र के द्वारा ही सिकागो धर्ममहासभा में भारत का धर्मगौरव प्रतिपन्न किया था। तभी आज वेदान्तशास्त्र पाश्चात्य धर्मजगत् में युगान्तर उपस्थित कर चुका है।

भगवान् शङ्कराचार्य ने द्राविड़ देश में जन्मग्रहण किया था। बचपन में उन्हें पितृवियोग हुआ। उन्होंने आठ बर्ष की अवस्था में ही सर्वशास्त्रों में व्युत्पत्ति प्राप्त कर लिया था। उस समय अनेक राजाओं, महाराजाओं ने आपकी सुकुमार देह, सुमिष्ठ युक्तिपूर्ण वाक्यों एवं असाधारण पाण्डित्य से मुग्ध होकर तदीय सेवा में जीवन उत्सर्ग कर दिया था। बारह वर्ष की आयु में कौशल से माता के निकट अनुमति ग्रहणपूर्वक ब्रह्मदान और ब्रह्मगान से भारत के भूरिभार अवतरणार्थ शङ्कराचार्य गृहत्याग कर स्वामी गोविन्दपादाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर सन्न्यासी हुए। सोलह वर्ष के वयःक्रमकाल में वे आत्मज्ञान प्राप्त कर परमहंसत्व प्राप्त हुए। वे समझे थे—उपनिषद् और उसके मीमांसास्वरूप शारीरकसूत्र के अध्ययन और अध्यापन के एवं प्राचीन

ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित ब्रह्मज्ञान के अनुशीलन के अभाव में—गुरु के अभाव में—सर्वसाधारणों के निकट अधिकारानुरूप तत्त्वकथाओं के प्रचाराभाव में भारत में ऐसी दुर्दशा उपस्थित हो गई है। तभी वे अल्प ही समय पर साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन कर विपन्न भारत के उद्धारार्थ दृढ़सङ्कल्प हुए। ब्रह्मज्ञानप्रचार, जो कि अनेक आलोचनाओं, अनेक समय, अनेक आयाससाध्य और विघ्न-विपत्तिसङ्कुल है, एक व्यक्ति के जीवनकाल में सुसम्पन्न होना बड़ा ही कठिन है, सो समझकर ही वे सांसारिक माया-ममता को काटकर एकाकी सहस्रजनसाध्य कठोर परिश्रम करने लगे। वेदान्त और उपनिषदादि के भाष्य प्रणयन कर शिष्यवृन्द को शिक्षा दी। पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वर (मण्डन) और त्रोटक इन प्रधान शिष्यचतुष्टय के साथ वेदान्तशास्त्र और तत्त्वज्ञान प्रचारार्थ भारत में सर्वत्र पर्यटन करने लगे। भारत के एक प्रान्त से अपर प्रान्त तक उनकी जयध्वनि से परिपूर्ण हुआ। उन्होंने मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए सन्न्यास और ब्रह्मज्ञान की व्यवस्था की, साधारणों के लिए सगुणब्रह्मोपासना, दुर्बलाधिकारियों के लिए विष्णु, शिव प्रभृति प्रतीक उपासनाएँ निर्धारित कर दीं; चित्तशुद्धि के लिए स्व स्व वर्णाश्रमोचित निष्काम कर्मों की विधियाँ भी अनुमोदित कीं। तभी सर्वाधिकारी मानव उनके प्रचारित धर्म के उदार गर्भ में स्थान प्राप्त कर धन्य हो गये। कश्मीर के शारदापीठ पर आरोहण एवं समग्र भारत के सर्वाधिकारी मानवों के गुरु होने का सौभाग्य शङ्कराचार्य के परवर्ती कोई प्रचारक भी प्राप्त न कर सके। इसी कारण शङ्कराचार्य जगद्गुरु नाम से आख्यात हुए हैं। कलि में सन्न्यासाश्रम का विधिवत्

पुनःप्रचलन कर—भारत में ज्ञानप्रचार का पथ परिष्कार कर—शास्त्रीय ज्ञान को अक्षुण्ण और प्रतिभासम्पन्न रखने का सदुपाय दिखाकर शिवस्वरूप शङ्कराचार्य ने केदारनाथतीर्थ में बत्तीस वर्ष वयःक्रमकाल में देहत्याग किया था।

भगवान् शङ्कराचार्य ने धर्मप्रचार की सुविधा के लिए वेदोक्त चार महावाक्यों का अवलम्बन कर भारत के चार प्रान्तों में चार बृहत् मठों की स्थापना की। पद्मपादाचार्य प्रभृति चार प्रधान शिष्यों को आचार्य पद पर नियुक्त कर—प्रत्येक मठ के स्वतन्त्र, क्षेत्र, देव, देवी, तीर्थ, वेद और महावाक्य निर्दिष्ट कर दिये। इसलिए सन्न्यासिमात्र को ही अपने-अपने मतानुसार उसके एक-एक को ग्रहण करना होता है और तदनुसार परिचय देना होता है। यथा—

उत्तर में ज्योतिर्मठ (ज्योसिमठ), क्षेत्र—बदरिकाश्रम, देव—नारायण, देवी—पुन्नागरी, तीर्थ—अलकानन्दा, वेद—अथर्व एवं महावाक्य—अयमात्मा ब्रह्म।

दक्षिण में शृङ्गगिरि या सिङ्गेरी मठ, क्षेत्र—रामेश्वर, देव—आदिवराह, देवी—कामाख्या, तीर्थ—तुङ्गभद्रा, वेद—यजुः एवं महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि।

पूर्व में गोवर्द्धन मठ, क्षेत्र—पुरी, देव—जगन्नाथ, देवी—विमला, तीर्थ—महोदधि, वेद—ऋक् एवं महावाक्य—प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

पश्चिम में सारदामठ, क्षेत्र—द्वारका, देव—सिद्धेश्वर, देवी—भद्रकाली, तीर्थ—गङ्गा गोमती, वेद—साम एवं महावाक्य—तत्त्वमसि।

इन चार प्रधान मठों के अतिरिक्त सन्न्यासिसम्प्रदायों के प्रायः बारह सौ मठ भारत के नाना स्थानों पर स्थापित हैं। मठ के प्रधान चार आचार्यों में फिर विश्वरूपाचार्य के तीर्थ और आश्रम ये दो शिष्य, पद्मपादाचार्य के वन और अरण्य ये दो शिष्य, तोटकाचार्य के गिरि, पर्वत और सागर ये तीन शिष्य एवं पृथ्वीधराचार्य के सरस्वती, भारती और पुरी ये तीन शिष्य; समुदाय दस शिष्यों से दस सम्प्रदाय हुए हैं।

इन दसनामा सन्न्यासियों को अपने-अपने सम्प्रदायानुसार साधानादि करनी पड़ती है, सुतरां वह निरर्थक नहीं है। दस उपाधियों का तात्पर्य है। तीर्थ—

त्रिवेणीसङ्गमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे।
स्नायात्तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते॥

तत्त्वमसि प्रभृति लक्षणायुक्त त्रिवेणीसङ्गमतीर्थ में जो स्नान करते हैं, उनका नाम है तीर्थ। आश्रम—

आश्रमग्रहणे प्रौढ़ आशापाशविवर्जितः।
यातायातविनिर्मुक्त एष आश्रम उच्यते॥

जो आश्रमग्रहण में सुनिपुण और निष्काम होकर जन्ममृत्युविनिर्मुक्त हुए हैं, उनका नाम है आश्रम। वन—

सुरम्ये निर्जने स्थाने वने वासं करोति यः।
आशापाशविनिर्मुक्त वननामा स उच्यते॥

जो वासनावर्जित होकर सुरम्य और निर्जनस्थानस्वरूप वन में निवास करते हैं, उनका नाम है वन। अरण्य—

अरण्ये संस्थितो नित्यमानन्दे नन्दने वने।
त्यक्त्वा सर्वमिदं विश्वमरण्यं परिकीर्त्यते॥

जो अरण्यव्रतावलम्बी होकर समस्त संसार त्यागकर आनन्दप्रद अरण्य में चिरदिन निवास करते हैं, उनका नाम है अरण्य। गिरि—

वासो गिरिवने नित्यं गीताध्ययनतत्परः।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥

गिरिकानन में जिनका नित्यवास है, गीताध्ययन में जो तत्पर हैं, जो गम्भीर और स्थिरबुद्धि हैं, उनका नाम है गिरि। पर्वत—

वसन् पर्वतमूलेषु प्रौढ़ं ज्ञानं विभर्ति यः।
सारासारं विजानाति पर्वतः परिकीर्त्यते॥

जो पर्वतमूल में निवास करते हुए प्रौढ़ ज्ञान पोषण करते एवं सार और असार दोनों को जानते हैं, उनका नाम है पर्वत। सागर—

तत्त्वसागरगम्भीरो ज्ञानरत्नपरिग्रहः।
मर्यादां नैव लङ्घेत सागरः परिकीर्त्यते॥

तत्त्वविषय में जो सागरतुल्य गम्भीर हैं, ज्ञानरत्न जिन्हें आश्रय किये रहता है और जो मर्यादा लङ्घन नहीं करते, उनका नाम है सागर। सरस्वती—

स्वरज्ञानरतो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः।
संसारसागरासारहन्तासौ हि सरस्वती॥

जो सदा स्वरज्ञान में रत हैं, स्वरवादी, कविश्रेष्ठ हैं एवं जो संसार-सागर संसरण के विनाशक हैं, उनका नाम है सरस्वती। भारती—

विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वं भारं परित्यजन्।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्त्यते॥

जो विद्याभारपरिपूर्ण होकर सकल भार परित्याग करते हैं, दुःखभार अनुभव नहीं करते, उनका नाम है भारती। पुरी—

ज्ञानतत्त्वेन सम्पूर्णः पुर्णतत्त्वपदे स्थितः।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते॥

जो तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण होकर पूर्णतत्त्वपद पर अवस्थित एवं सतत परब्रह्म में अनुरक्त हैं, उनका नाम है पुरी।

आज तीर्थ-तीर्थ में, वन-जङ्गल में, पहाड़-पर्वत में, गाँव-नगर में एवं यूरोर्प-अमेरिका में जो गैरिकधारी सन्न्यासी दिखायी पड़ते हैं, वे सभी भगवान् शङ्कराचार्य की अपार महिमा विघोषित कर रहे हैं एवं उनकी अमानुषी कीर्ति का परिचय दे रहे हैं। पूर्व में नियम था, कि प्रथम आश्रमत्रय का यथाविधि धर्मपालनपूर्वक ब्राह्मणलोग सन्न्यास का अवलम्बन कर सकेंगे; किन्तु शङ्कराचार्य ने व्यवस्था की, वैरोग्य के उदय से उपयुक्त होते ही जो कोई व्यक्ति—जिस किसी भी आश्रम का क्यों न हो सीधे सन्न्यास ग्रहण कर सकेगा। इसलिए उनके मत के उदार गर्भ में सभी आश्रय प्राप्त करके तदीय महत्त्व विघोषित कर रहे हैं।

ये सन्न्यासिगण प्रधानतः दो श्रेणियों में विभक्त हैं, एक दण्डीस्वामी —द्वितीय परमहंस। प्रथम अवस्था में दण्डीस्वामी होकर ब्रह्मज्ञान चर्चा करें, बाद में ब्रह्मस्वरूप उपलब्धि होने पर पहमहसं होकर लोकशिक्षा, शास्त्रव्याख्या एवं जगत्-हित में नियुक्त हों। ये सन्न्यासिगणं हिन्दुसमाज में सभी सम्प्रदायों के गुरु हैं। कारण जिस वेदवेदान्त और पुराणों के

मतानुसार हिन्दुसमाज परिचालित हो रहा है, वह भगवान् वेदव्यास द्वारा रचित और व्याख्यात है। सुतरां व्यासदेव सर्वसम्मत से हिन्दुसमाज के गुरु हैं; उन्हीं के सन्तान और शिष्य शुकदेवाचार्य हैं, शुकदेव के शिष्य गौड़पादाचार्य हैं, गौड़पाद के शिष्य गोविन्दपादाचार्य हैं, गोविन्दपाद के शिष्य शङ्कराचार्य एवं शङ्कर के शिष्योपशिष्य वर्तमान सन्यासिसम्प्रदाय हैं। सुतरां सन्यासिगण ही हिन्दुसमाज के गुरु हैं। फिर इसी सन्यासिसम्प्रदायभुक्त किसी-किसी महात्मा से भारत के आधुनिक यावतीय (ब्राह्म के अतिरिक्त) सम्प्रदाय गठित हुए हैं। आधुनिक सम्प्रदाय के श्रेष्ठ व्यक्तिगण अपने-अपने सम्प्रदाय के आचार्य होते हैं, किन्तु सन्यासिगण सर्वसम्प्रदायभुक्त मनुष्यों के आचार्यरूप में सेवित और पूजित होते आ रहे हैं। वर्तमान में त्रैलङ्ग स्वामी, भास्करानन्द स्वामी, विशुद्धानन्द स्वामी, रामकृष्ण परमहंस प्रभृति सन्यासि-महापुरुषों की अपेक्षा कौन सम्प्रदायभुक्त व्यक्ति साधारण लोगों के हृदय से ऐसी श्रद्धाभक्ति को आकर्षित करने में समर्थ हुए हैं ?

चारों प्रधान मठों के अध्यक्ष या महन्तगण शङ्कराचार्य नाम से ही अभिहित होते हैं।

प्रकृत सन्यास

स्त्री-पुत्रादि आश्रित परिवारवर्ग का परित्यागपूर्वक गृह से पलायन करने का नाम सन्यास नहीं है। गैरिक वसन परिधान, दण्डकमण्डलु धारण और मस्तक मुण्डन करने से ही सन्यासी नहीं हुआ जाता। महात्मा कबीर कह रहे हैं—

मुड़ मुड़ाये जटा राखये मस्त फिरे जैसा भैंषा।
खलरि ऊपर राख लगाये मन जैसा तो तैसा॥

अर्थात् मस्तक मुण्डन करने से ही भला क्या होगा, जटा रखकर ही क्या होगा और शरीर पर भस्मलेपन करके ही क्या होगा? —मनोजयपूर्वक तत्त्वज्ञान को प्राप्त न कर पाने पर ये सारी वेशभूषाएँ किस काम की? जिसको आत्मानुभूति नहीं है, मनस्थिरता नहीं है, भगवद्भक्तिरस का उच्छ्वास नहीं है, वह रङ्गीन वस्त्र पहन, कौपीन और कमण्डलु धारणपूर्वक जटाजूट बढ़ाकर, भस्म मखकर बृक्षमूल में बैठे रहने पर क्या होगा? ऐसा सन्न्यासी नाट्य-सम्प्रदाय में भी दृष्ट हुआ करता है।* फिर केवल फलाहार से, जलाहार से, स्वल्पाहार या अनाहार से मुक्तिभागी सन्न्यासी नहीं हुआ जा सकता; ऐसा होता तो पशु, पक्षी, जलचर या पन्नगसमूह भी मुक्तिलाभ कर पाते। यथा—

वायुपर्णकणतोयव्रतिनो मोक्षभागिनः।
सन्ति चेत् पन्नगा मुक्ताः पशुपक्षिजलेचराः॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४/१२१

तब सन्न्यास क्या है?—सं = सम्यक्प्रकार से + न्यास = त्याग; सम्पूर्णरूप से त्याग का नाम सन्न्यास है। यह सन्न्यासतत्त्व

---

* इन सब वेशभूषाओं और नियम-संयमादि का सन्न्यास में प्रयोजन ही नहीं, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। प्रकृत औषध के साथ अनुपान सेवन ही व्यवस्था है, फिर अनुपान के बिना भी औषध से थोड़ा कुछ फलप्राप्त हो जाता है; किन्तु औषध परित्याग कर देने से केवल अनुपान सेवन करने से क्या होगा? उसी प्रकार प्रकृत त्याग-वैराग्य के बिना वेशभूषाधारण भी अनर्थक है।

अतिदुर्विज्ञेय है, सरलता से नहीं समझा जा सकता। काम्यकर्म त्याग का नाम सन्न्यास है, यही सर्वसाधारण का मत है। कारण काम्यकर्मो का फलजनकताप्रयुक्त होना मुक्ति का प्रतिबन्धक है। काम्यकर्मों की फलकामना का परित्याग और उसके साथ काम्यकर्मों के परिवर्जन करने का नाम ही सन्न्यास है। सन्न्यासी काम्यकर्मों का अनुष्ठान और फलाशा कभी न करें। कामक्रोधादि का त्याग ज्यों अवश्य कर्तव्य है, कोई-कोई समस्त कर्मों का ही उसी प्रकार त्याग करने का परामर्श दिया करते हैं। फिर कुछ लोग कहते हैं, यज्ञ, दान और तपरूप कर्म का किसी भी रूप में परित्याग नहीं करना है, कारण इसके द्वारा चित्त परिशुद्ध होता है। तत्त्वजिज्ञासु अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से जब कर्मानुष्ठान का त्याग और कर्मफल का त्याग, इन दो त्यागों का तारतम्य पूछा, तो श्रीकृष्ण ने कहा,—"हे पार्थ ! यज्ञदानादि कर्मों का अनुष्ठानकाल में कर्तृत्वाभिमान और स्वर्गादि की फलकामना त्याग ही मेरे मत से श्रेष्ठ है।" काम्यकर्म बन्धन का हेतु है, अतः मुमुक्षुलोग उसका त्याग तो अवश्य करें, सत्य, किन्तु निर्दोष नित्यकर्म किसी भी प्रकार त्याज्य नहीं है। नित्यकर्म वेदविहित परमार्थलाभ का हेतु है, धर्मसाधन के परमानुकूल और अवश्यानुष्ठेय है। बिना समझे या हठकारितावश जो लोग इसका त्याग करते हैं, वे तमोगुणी, कापुरुष और जड़ हैं। अतएव—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १८/२

काम्यकर्म के त्याग को ही पण्डितलोग सन्न्यास कहा करते हैं। शरीर रहते मनुष्य सारे कर्मों का किसी भी प्रकार परित्याग करने में समर्थ नहीं होता। जो कर्मसकल का अनुष्ठान करके भी कर्मफल का त्याग किया करते हैं, वे ही यथार्थ सन्न्यासी हैं। अनिष्ट, इष्ट और मिश्र अर्थात्—पापपुण्यरूप कर्मफलराशि अत्यागी को देहान्त में आश्रय किये रहती है, किन्तु सन्न्यासियों को यह कदापि स्पर्श भी नहीं कर पाती है।

सात्त्विक, राजस तामस-भेद से त्याग त्रिविध है। फलेच्छा का परित्याग कर कर्म का अनुष्ठान करना सात्त्विक त्याग है, फलकामना रहते हुए जो कर्म का त्याग है वह राजस एवं फलेच्छा के साथ-साथ कर्मानुष्ठान के त्याग का नाम तामस त्याग कहलाता है। कर्म के क्लेशसाध्य होने के कारण त्याग करना राजस और भ्रान्तिपूर्वक कर्मत्याग तामस कहा जाता है। सुतरां सन्न्यासी के लिए सात्त्विक त्याग अवश्य कर्तव्य है। इन समस्त गुणमय त्यागों के अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" कहकर जिस त्याग या सन्न्यास की बात का उल्लेख किया है, वह निर्गुणात्मक है। यह गुणातीत सन्न्यास ही मुमुक्षुलोगों के लिए अवलम्बनीय है। कर्मफलत्यागरूप सात्त्विक सन्न्यास में भी नित्यकर्म की कर्तव्यबुद्धि वर्तमान है। फिर कर्तव्यबुद्धि का परित्याग न कर पाने पर सन्न्यासाश्रम में अधिकार नहीं रह जाने का उल्लेख शास्त्रों में है। अभी इन दोनों विरोधी मतों का सामञ्जस्य यही है कि, कर्तव्यबुद्धिप्रणोदित न होकर उपस्थित सारे कर्म फलाभिसन्धि

परित्यागपूर्वक करते जाने का नाम निर्गुण त्याग है। पद्मपत्र जिस प्रकार जल में रहकर भी जल में लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार जो कर्तव्यबुद्धिशून्य होकर स्व-स्व इन्द्रियद्वारा सारे कर्मों को यथावत् रूप से सम्पन्न किया करते हैं, वे कर्म या कर्मफल में जड़ित नहीं होते। इस प्रकार त्याग का नाम ही गुणातीत त्याग है—यही प्रकृत सन्न्यास है। इसी त्याग-सन्न्यास की महिमा कीर्तन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्वलोकेष्वपि त्यागी सन्न्यासी मम दुर्लभः।

—त्यागी-सन्न्यासी सभी लोगों, यहाँ तक कि मेरे लिए भी दुर्लभ हैं।

कर्मसम्बन्धी त्याग की यही सुन्दर मीमांसा है। कर्मत्याग के अतिरिक्त विषय-भोग-त्याग भी सन्न्यासी के अवश्य कर्तव्य है। उससे भी गुणातीत होना प्रयोजन है। शास्त्रविधि न मानकर कठोर तपस्या से देह नष्ट करने को तामस त्याग, समाज में ख्याति-प्रतिपत्ति की आशा से फलमूलाहार के तपस्वी होने का नाम राजस त्याग एवं चित्त-शुद्धि के लिए जो विधिविहित संयम है, वही सात्त्विक त्याग है। किन्तु ये सारे त्याग गुणमय होने से सन्न्यासी के लिए अवलम्बनीय नहीं है। सन्न्यास का त्याग निर्गुणात्मक है। प्रलुब्ध न होकर अनासक्त होकर इन्द्रियग्राह्य स्व-स्व विषय भोग करने का नाम गुणातीत त्याग है। नहीं तो लंगोटी पहनकर या नंगा होकर वृक्ष के नीचे बैठे रहने का नाम त्याग नहीं है। लंगोट में आसक्ति और रेशमी वस्त्र से विरक्ति, कुटी में आसक्त और कोठे से

विरक्त, शाक में आसक्ति और मिष्ठान्न से विरक्ति, कम्बल में आसक्ति और गद्दी से विरक्ति, निर्गुणत्याग के लक्षण नहीं हैं। आसक्ति या विरक्ति भाव परित्यागपूर्वक स्व-स्व इन्द्रिय द्वारा यथायोग्य विषयभोग करने को ही गुणातीत त्याग कहते हैं। इस प्रकार के निर्गुण त्यागी को ही प्रकृत सन्न्यासी कहते हैं। यथा—

सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्ट्रे वा काञ्चनेऽपि वा।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स सन्न्यासी च कीर्तितः॥

जिन्हें उत्तमान्न और निकृष्टान्न में एवं मृत्तिका और काञ्चन में समान बुद्धि जन्मी है, वे ही सन्न्यासी के रूप में कीर्तित हैं। तब त्याग का अर्थ क्या है ?—

शिवावतार शङ्कराचार्य ने कहा है—

त्यागोऽसौ किमस्ति आसक्तिपरिहारः।

—मणिरत्नमाला

आसक्तिपरित्याग का नाम ही त्याग है। ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठदेव ने भी कहा है—

यत्त्यक्तं मनसा तावत् तत्त्यक्तं विद्धि राघव।
मनसा संपरित्यज्य सेव्यमानः सुखावहः॥

—योगवाशिष्ठ

जिसे मन से त्याग किया जाय वही प्रकृत त्याग है, बाहर का त्याग मात्र प्रशस्त नहीं है। मन से विषयों का परित्याग कर सङ्कल्प-विकल्पवर्जित होकर सुखी होओ।

अरएव जो मन से भोग्य विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग कर चुके हैं, वे यथार्थ सन्न्यासी हैं। बहुतेरे अपनी सारी वस्तुओं का परित्याग कर सकते हैं, किन्तु अपने को कोई सरलता से त्याग नहीं कर पाता है। सुतरां सर्वोत्तम सन्न्यासी वे ही हैं, जिन्होंने समस्त कामनाओं का परित्याग कर अन्त में शरणागत और भक्तिवशंवद होकर अपने को भी परमेश्वर के चरणों में समर्पित कर दिया है। जब तुम्हारा "तुमृत्व" ब्रह्मस्वरूप में किंवा भगवान् की सत्ता में डूब जायेगा,—जब तुम्हारे निज अस्तित्व की थोड़ी भी स्वतन्त्रता नहीं रहेगी, तभी तुम त्यागी—तभी तुम वैरागी—तभी तुम प्रकृत सन्न्यासी !

एतावता जहाँ तक आलोचित हुआ, उससे प्रमाणित हुआ कि, जो कर्तव्य-बुद्धिशून्य होकर उपस्थित सारे कर्म करते जाते हैं एवं निर्लोभ होकर अनासक्त भाव से विषय-भोग किया करते हैं, वे ही निर्गुण त्यागी हैं। सम्यक्रूप से इस प्रकार के त्याग का नाम ही प्रकृत सन्न्यास है। भगवान् निर्गुण हैं—गुण का अभाव नहीं, गुण की अतीत अवस्था मात्र हैं; अर्थात्—वे गुणों में लिप्त न होकर गुणों द्वारा कार्य किया करते हैं। तद्रूप सन्न्यासी का त्याग निर्गुणात्मक है, वे भी गुणों में लिप्त न होकर गुणों द्वारा कर्म करते जाते हैं; उसमें विरक्त या आसक्त नहीं होते। ऐसा न्यास ही प्रकृत "सन्न्यास" पदवाच्य है। गृहस्थाश्रम में रहकर भी मुमुक्षु व्यक्ति सन्न्यासी हो सकते हैं; तभी जनक, अम्बरीष प्रभृति गृहिगण सन्न्यासिपदवाच्य हैं। और जो लोग कौपीन-करंगा की माया नहीं छोड़ पाते, वे लोग

सन्न्यासाश्रमी होकर भी गृहस्थाधम हैं। और किसी भी प्रकार का आश्रमी होकर निर्लिप्तभाव से संसार में रह सकने पर, वे ही सन्न्यासी एवं मुक्तिलाभ के अधिकारी होते हैं। निर्लिप्त गृही एवं प्रकृत सन्न्यासी एकासन पर अवस्थित हैं; उनमें व्यावहारिकरूप से पार्थक्य होने पर भी पारमार्थिकरूप से कोई विभिन्नता नहीं होती। हमने पुराणों की—

हरिहर मूर्ति

से इस तत्त्व की शिक्षा पायी है। यहाँ हर शब्द से श्मशानवासी शिव एवं हरि शब्द से वैकुण्ठविहारी विष्णु को समझना होगा। हिन्दुमात्र ही अवगत हैं कि, हरिहर अभिन्न हैं, जो मूढ़ उनमें भेद की कल्पना करता है, वह नारकी है। यथा—

गङ्गादुर्गाहरीशानां भेदकृन्नारकी तथा।

—बृहद्धर्मपुराण

हरि और ईशान में भेदबुद्धि करने पर नरकगामी होना होता है। सुतरां वे दोनों जो एक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु बाह्यतः आकाशपाताल का भेद दृष्ट होता है। एक सर्वत्यागी श्मशानवासी—खर्परमात्र सम्बल—विरूप वेश में भ्रमण कर रहे हैं; इसी से हर त्यागी—वैरागी—सन्न्यासी हैं। अपर एक मणिमुक्ताखचित और नृत्यगीतपरिपूरित वैकुण्ठविहारी हैं, पार्श्व में अनुपमा सुन्दरी हैं; इसीसे हरि भोगी—विलासी—गृहवासी हैं। स्थूलतः उभय में पार्थक्य दृष्ट होने पर भी मूलतः कोई विभिन्नता नहीं है। शिव

सन्न्यासी हैं सत्य—किन्तु क्या तुमने देखा है, उनकी गोद में कौन हैं ? विश्वमोहिनी रमणी, वे कौन हैं ? वे जीवजगत्‌रूपा विश्वरूपिणी प्रकृति हैं। शिव सन्न्यासी होकर अहंत्व और अहंत्व की सङ्कीर्ण सीमा को तोड़ अवश्य चुके हैं, किन्तु जगत्संसार को हृदय से चिपकाकर रखे हुए हैं, दूसरों के लिए स्वार्थ को उन्होंने पददलित किया है—उनका अपना कहने को कुछ भी नहीं है; किन्तु वे प्रत्येक भूत के हितसाधन में रत हैं; तभी भूतनाथ नाम से परिचित हैं। ऐसा होने पर शिव सन्न्यासी होकर भी संसार में लिप्त हैं। और हमने हरि को गोकुलविहारीरूप में देखा है, कि वे गोकुल में गोप-गोपियों के प्रेम में मतवाले हैं;—राधाप्रेम में मानों विह्वल हों, राधा के सामान्य अवहेलना करने पर राधाकुण्ड में प्राणत्याग करने को उद्यत हो जाते हैं। सभी जानते थे श्रीकृष्ण का जीवन राधागत है;—राधा के क्षणिक विरह से शायद वे बच न सकें। किन्तु कहाँ ?—जैसे ही अक्रूर ने आकर मथुरा का संवाद दिया, वैसे ही श्रीकृष्ण मथुरा के लिए रवाना हो गये, राधा से विदा लेने जाने की भी आवश्यकता का बोध उन्होंने नहीं किया। श्रीकृष्ण का मथुरागमनसंवाद पाकर संगिनीगण के साथ रंगिणी राइ ने आकर पथ पर रथ के पहिये के नीचे छाती लोटा कर कहा, "हमारा हृदय रथ के चक्के के नीचे कुचल कर मथुरा गमन करो।" श्रीकृष्ण उस प्रेमोन्मादिनी गोपरमणी की मर्मभेदी कातरता की ओर भ्रूक्षेप न कर मथुरा चले गये। रामावतार में पतिप्राणा जानकी को बिना अपराध केवल राजा के कर्तव्य से वनवास दे दिया। ऐसा होने से

वे जितने भी स्त्री-पुत्र, विषय-वैभव में रहें न क्यों, कभी भी स्त्री-पुत्र का आँचल पकड़ कर्तव्य की अवहेलना नहीं की; आत्मसुख में अन्धे होकर वे जीवों के दुःख को विस्मृत नहीं हुए; आत्मस्वार्थ में परार्थ को पददलित नहीं किया; अपना हित करने जगत् का हित नहीं भूले। इसीसे हरि गृही होते हुए भी निर्लिप्त हैं। परन्तु हर सन्न्यासी होकर भी लिप्त हैं और हरि गृही होकर भी निर्लिप्त हैं, फिर लिप्त सन्न्यासी और निर्लिप्त गृही एक ही बात है—सुतरां हरि-हर अभेद हैं। इस ओर फिर गृही के आदर्श हरि एवं सन्न्यासी के आदर्श हर हैं। अतएव जो गृही हरि के आदर्श से जीवन गठित किये हुए हैं, एवं जो सन्न्यासी हर के आदर्श से जीवन गठित किये हुए हैं, वे दोनों ही समान हैं,—उनमें विभिन्नता नहीं है। वरं हरि के आदर्श से गठितजीवन गृहस्थ—जो सन्न्यासी हर के आदर्श से अभी भी जीवन गठन नहीं कर सकें हैं, उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। और हर के आदर्श से गठितजीवन सन्न्यासी सर्वप्रकार गृहस्थापेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह कहना ही यथेष्ट है। तभी उस समय के ब्राह्मण और क्षत्रियगण ब्रह्मविद्या में समान-पारदर्शी होकर भी विलासी राजालोग त्यागी ब्राह्मणों के निकट योड़हस्त थे। तभी जनकराजा अनेक ब्राह्मणों के शिक्षादाता गुरु होकर भी उनके निकट शिष्य के समान अवस्थान करते थे। और हरिहर अभिन्नात्मा होकर भी सन्न्यासी हर ही "जगद्गुरु" पदवाच्य हुए हैं।

अरएव गृहस्थ किंवा सन्न्यासी ही हों, जिन्होंने आत्मस्वरूप में अवस्थान करते हुए निर्लिप्तभाव से कर्मानुष्ठान में एवं अनासक्तभाव

से विषयभोग करके भी जगत् के हितानुष्ठान में जीवन उत्सर्ग कर दिया है, वे ही श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार गृहस्थ और सन्न्यासी में कोई पार्थक्य नहीं है। तभी गृही व्यासदेव और सन्न्यासी शङ्कराचार्य एक ही आसन को प्राप्त हुए हैं। सुतरां अशन किंवा वसन से, संयम किंवा स्वेच्छाचार से, कौपीन किंवा कन्था से, दण्ड किंवा कमण्डलु से, राख-मिट्टी किंवा त्रिपुण्ड-तिलक से अथवा देश-देश में घूमते-फिरने से ही सन्न्यासी नहीं हुआ जाता। फिर कहता हूँ, ताकि स्मरण रहे—**किसी भी आश्रमभुक्त हों न क्यों, जिन्होंने अहंत्व की सङ्कीर्ण गण्डी को विश्वमय प्रसारण करते हुए समबुद्धि और समदृष्टिसम्पन्न होकर जगत् के मङ्गल को सार सम्बल किया है, जिन्होंने दूसरों को अमृत लुटाकर अपने लिए कालकूट सञ्चित करने एवं दूसरों के गले में मणिहार जड़ित कर अपने कण्ठ में फणिहार झुलाकर आनन्द से गालवाद्य कर नृत्य करने की शिक्षा की है, वे ही हैं प्रकृत सन्न्यासी।**—और इस प्रकार के सन्न्यासी के निकट जगत् गललग्नीकृतवास से दण्डवत् प्रणत होता है।

आचार्य शङ्कर और श्रीगौराङ्गदेव

जो शङ्कराचार्य किंवा गौराङ्गदेव के समान सन्न्यासी हो गये हैं, जिनकी ज्ञान और भक्ति की मन्दाकिनी अहंत्वरूप गोमुख का मुख विदीर्ण कर संसाररूप हरजटा का जटिलवर्त्मा पार होकर पृथ्वी प्लावित कर वहती जाती है, जिसके उच्छ्वसित वेग से नास्तिक

पाषण्डरूपी मत्त ऐरावत भी तृण की तरह वह जाने को बाध्य हो जाता है, उसी सन्न्यास के त्यागमन्त्रसमुद्भुत पुण्यमय आनन्दप्रवाह में स्वयं को बहाकर आत्महरावत् चालित हो पाने से ही उनका जीवन सार्थक हुआ। इस प्रकार मानवजीवन सार्थक करने के लिए हिन्दुशास्त्र में प्रधानतः दो पथ निर्दिष्ट हैं, एक ज्ञानपथ, अपर भक्तिपथ। जो लोग ज्ञान को ज्ञानपथ और भक्ति को भक्तिपथ मानते हैं, वे लोग समधिक भ्रान्त हैं। ज्ञानपथ में भी कर्म, ज्ञान और भक्ति के सम्मिलन से जाना पड़ता है, एवं भक्तिपथ में भी कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय से गमन करना होता है। सुतरां उभय पथ में ही गमन का उपाय एक ही प्रकार का है, किन्तु पथ की विभिन्नता है। ज्ञानमार्ग का नाम विश्लेषण-पथ और भक्तिमार्ग का नाम संश्लेषण-पथ है। कार्य को पकड़कर कारण में जाने का नाम विश्लेषण-विचार है, और कारण को प्राप्त कर कार्यरहस्य से अवगत होने का नाम संश्लेषण-विचार है। जो लोग जड़जगत् पकड़कर "नेति" "नेति" करते-करते स्थूल सूक्ष्म अतिक्रमपूर्वक ब्रह्मानन्द में विश्राम प्राप्त करते हैं, वे ही ज्ञानमार्गी हैं; और जो लोग ब्रह्म से ज्ञात होकर यह जीवजगत् उन्हीं का ही विकास समझकर लीलानन्द में विश्राम प्राप्त करते हैं, वे ही भक्तिमार्गी हैं।

भगवान् शङ्कराचार्य आविर्भूत होकर सच्चिदानन्द भगवान् का जो स्वरूपलक्षण साधारण लोगों के निकट व्यक्त कर गये हैं, उसके उदार गर्भ में सर्वाधिकारी मानवगण विश्राम प्राप्त कर कृतार्थ हुए हैं। मानव एक नूतन चक्षु प्राप्त कर जड़जगत् की सुस्थूल यवनिका के

अन्तराल में दृष्टिपात करते हुए मृत्युलोक में अमरत्वलाभ से धन्य हुआ है। किन्तु आचार्यदेव ने जिस उपाय से ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करने का पंथ प्रकट किया है, वह विश्लेषण-पथ—ज्ञानमार्ग है; और भगवान् गौराङ्गदेव ने उसे प्राप्त करने का जो उपाय प्रचार किया है, वह संश्लेषण-पथ—भक्तिमार्ग है। शङ्कराचार्य ज्ञानावतार हैं एवं गौराङ्गदेव भक्तावतार नाम से अभिहित हैं।

ज्ञानी या भक्त को ज्ञानमार्ग का या भक्तिमार्ग का लोग नहीं कहा जाता है। ज्ञानमार्ग में भी भक्त और ज्ञानी एवं भक्तिमार्ग में भी ज्ञानी और भक्त इन उभय श्रेणियों के लोग विद्यमान हैं। किन्तु अल्पबुद्धिविशिष्ट एवं साम्प्रदायिक रूढ़िवादी व्यक्तिगण इस अध्यात्मसत्य से अवगत न होकर स्व-स्व विद्वेषबुद्धिवश चालित होकर अनर्थक कोलाहल करते रहते हैं। ज्ञानपथ बड़ा है या भक्तिपथ बड़ा है यह विचार करने में केवल व्यर्थ वाद-वितण्डा लेकर कालातिपात करते हैं। 'जितने मत उतने पथ'; रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार जिसे जिस पथ में अधिकार जन्मा है, उसे उसी पथ में चलना होगा। मुर्शिदाबाद के नवाब और वर्द्धमान के महाराजा में कौन बड़े हैं यह विचार में समय नष्ट करने पर क्या परपिण्डभोजी भिखारी की क्षुधा-निवृत्ति हो सकती है ? इन सारे बेकार के तर्कों को छोड़कर भिक्षा के लिए बाहर निकलना जिस प्रकार भिक्षु का कर्तव्य है, उसी प्रकार धर्म में छोटा-बड़ा न चुनकर सर्वदा अपने-अपने अधिकारानुरूप धर्मकार्य करते जाना ही बुद्धिमान् का कार्य है। नदीतीरस्थित ग्रामवासी जिस प्रकार नदी के घाट पर गमन करने

के लिए अपने-अपने वासस्थान से सुविधानुरूप रास्ते प्रस्तुत कर लेते हैं, उसी प्रकार मानव भी जन्मान्तरों के सञ्चित गुणकर्मों से जो जैसा अधिकार प्राप्त कर अग्रसर हुआ है, उसे अबकी बार उसी स्थान से गमन करना होगा। दूसरों का गम्यपथ उसके लिए भयावह है, सुतरां दूसरे का पथ लेकर साधक की आन्दोलन-आलोचना विडम्बना मात्र है। अवतार को लेकर जो छोटे-बड़े का विचार करने जाते हैं, वे धर्मद्रोही नारकी मात्र हैं। एक अवतार को पहचान पाने पर और किसी अवतार का रहस्य ही अज्ञात नहीं रह जाता है। ईसाई अवतारवाद नहीं समझते, तभी शङ्कर या गौराङ्ग का महत्त्व हृदयङ्गम न कर पाकर उनकी यूँ ही निन्दा किया करते हैं। और जो हिन्दुसाधक अवतारतत्त्व को समझ गया है, वह मुहम्मद वा ईसा को भी भक्तिविनम्रहृदय से सम्मान दिया करता है। हमने पहले ही कह दिया है, अस्मद्देश के लोगों को भगवान् शङ्कराचार्य को समझने का कभी भी अवसर ही नहीं मिला है; फिर भी गौराङ्गदेव का यह देश ही उनकी लीलाभूमि है, अतः अधिकांश लोग उनके भक्त हैं। किन्तु वे संस्कारवश गौरभक्त हुए हैं मात्र, प्रकृत प्रस्ताव से अति-अल्प लोग ही उनकी महिमा से ज्ञात हैं। वे अन्धविश्वास की चश्मे से चक्षु आवृत कर एक का प्राधान्य प्रतिपन्न करने अन्य का निन्दा-प्रचार किया करते हैं। पर की धर्मनिन्दा से अपने धर्म की गौरवहानि होती है; यह सीधी-सी बात जो लोग समझ नहीं सकते, भगवान् की कृपा के अतिरिक्त उनकी अन्य गति नहीं है।

एक अवतार दयाल है; किन्तु कौन अवतार दयाल नहीं है ?—एक ही भगवान् भिन्न-भिन्न समय पर जीव के अभावपूरणार्थ भिन्न-भिन्न रूप से अवतीर्ण होते रहते हैं। अवतार शब्द ही तो दया से सना हुआ है। जीव के प्रति दया न होने पर वे स्वरूप छोड़कर जीवभाव का अवलम्बन क्यों करेंगे ? और कौन अवतार अप्रेमिक हैं यह हम नहीं समझ पा रहे हैं। जो राज्यैश्वर्य, पतिव्रता स्त्री और शिशुपुत्र का परित्याग कर जीव-दुःख मोचन के लिए यौवन में सन्यासी हो गये, वे बुद्धदेव क्या अप्रेमिक हैं ? जिन्होंने राजा बिम्बिसार से अपने अमूल्य जीवन के विनिमय में कितनी बकरियों की प्राणभिक्षा चाही थी, वे बुद्धदेव क्या अप्रेमिक हैं ? जिन्होंने क्रुशविद्ध होकर भी अत्याचारी व्यक्तिवर्ग के लिए दया की भीख माँगी थी, वे ईसा (यीशु) क्या अप्रेमिक हैं ? और शङ्कराचार्य तो प्रेम का बीज वपन कर गये हैं। पापी-पुण्यवान्, ब्राह्मण-चण्डाल किंवा कीट-पतङ्ग को समान बुद्धि से प्रेम करना क्या साधारण बात है ?—जोर जबरदस्ती कर क्या प्रीति होती है ? किन्तु मैं "मुझे" प्रेम करता हूँ, इसे समझने के लिए बुद्धि खर्च करने की जरूरत नहीं पड़ती है, परन्तु आकीट ब्रह्म तक सारे पदार्थ उसी अहंत्व के विकास हैं; यही शाङ्कर मत का मूलमन्त्र है। सुतरां अहंत्व का स्वरूप उपलब्धि होने पर आत्मप्रीति विश्वप्रेम में परिणत हो जायेगी। बहुतेरे सोचते हैं, शङ्कराचार्य भक्तितत्त्व से ज्ञात नहीं थे। जिन्होंने विवेकचूड़ामणि ग्रन्थ में मुक्तिसाधना के जितने प्रकार के उपाय हैं, उनमें "भक्तिरेव गरीयसी" कहकर भक्ति का प्राधान्य

प्रमाणित किया है, वे भक्तितत्त्व नहीं समझते थे कहने पर अपनी ही मूर्खता और निर्लज्जता प्रकट होती है। फिर और एक श्रेणी के देशद्रोही भगवान् गौराङ्गदेव को "शची बुआ का बेटा" समझ कर मुंशियाना चाल से नाक-भौं सिकोड़ते हैं। अथच पाश्चात्य जगत् के प्रधान पण्डित मैक्स मूलर ने कहा है, "जिस देश में गौराङ्ग के जैसे महापुरुष का जन्म हुआ था, वह देश एवं वह जाति कभी भी हीन नहीं हो सकती, अगर ऐसा होता तो उनके देश में ऐसे महापुरुष का जन्म नहीं होता।" जिनके आविर्भाव से पतित देश की पतित जाति का कलङ्क मिटकर गौरव प्रतिष्ठित हुआ है, उन्हें हृदय की भक्तिश्रद्धा अर्पित नहीं करने से म्लेच्छदासत्व उपजीवी जीवों के घृण्य जीवन का क्या उपाय होगा ? ऐसा दिन कब होगा, जिस दिन देखूँगा कि प्रत्येक बंगाली भक्ति-विनम्र हृदय से गौराङ्ग-पाद को प्राणों की प्रेम-पुष्पाञ्जलि का प्रदान कर रहा है। गौराङ्गदेव ही तो हमारी जातीय सम्पत्ति हैं, घर के धन हैं! बंगाली जितने दिन गौराङ्ग देव का आदर करना नहीं सीखता है, उतने दिन उसकी जातीय उन्नति बहुत दुर की बात है। अरे, आज भी तो पाँच सौ वर्ष* नहीं हुए, अभी भी बंगाल के अनेक गाँवों की धूल में उनकी पदधूलि मिली हुई है—बंगाल के रज में लोटने से ही उनकी करुणा प्राप्त हो सकेगी।

भगवान् के ही अवतार हुआ करते हैं, सुतरां अवतार मात्र ही मूलतः एक हैं। एक अवतार अन्य अवतारों का मत विनष्ट कर

* इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन १९१२ (ईशवीय) में हुआ था । —प्रकाशक

अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं, यह भ्रान्त धारणा है। हम जानते हैं, एक अवतार के द्वारा अन्य अवतारों के मत परिणति और परिपुष्टि प्राप्त करते हैं। तब हाँ, समाज के संस्कार को नष्ट करने के लिए परवर्ती अवतार पूर्ववर्ती अवतारों के मतों की निन्दा कर नूतन संस्कार में संस्कृत कर देते हैं। तभी बुद्धदेव को कामनामूलक कर्मों की असारता प्रतिपन्न करने समय-समय पर वेद की निन्दा करनी पड़ी थी। फिर भगवान् शङ्कराचार्य के तिरोधान के बहुत बाद में जब हिन्दुसमाज केवल ज्ञान की शुष्क बातों से भर उठा,— आत्मसमाधि, आत्मज्ञान के बदले विराट तर्कजाल विस्तार कर मुख से ब्रह्मवित् और कार्य से नास्तिकता और भोगलोलुपताप्रयुक्त हिन्दुगण जब उन्मार्गगामी हो उठे, तो उस समय भगवान् गौराङ्गदेव ने आविर्भूत होकर संश्लेषणपथ अर्थात् भक्तिमार्ग का द्वार उद्घाटित कर दिया। अहंबुद्धिविशिष्ट सोऽहंज्ञानी का संस्कार नष्ट करने के लिए आत्मानात्मविचाररूप विश्लेषणपथ का अर्थात् ज्ञानमार्ग का निन्दावाद भी उसके लिए उन्हें प्रचार करना पड़ा था। देश के लोग क्या भूल गये हैं—गौराङ्गदेव ने शङ्कराचार्य के प्रतिष्ठित सन्न्यासधर्माश्रित भारतीसम्प्रदायभुक्त श्रीमत् केशवभारती से सन्न्यास ग्रहण किया था? सन्न्यासग्रहणानन्तर विश्लेषणपथ में जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए उन्होंने संश्लेषणपथ अवलवनपूर्वक उसी पथ में हिन्दुसमाज को सञ्चालित करने की चेष्टा की थी।

अनेक विकट भक्तों ने गौराङ्गदेव के महत्त्व का प्रचार करते समय कहा करते हैं, कि महामहोपाध्याय वासुदेव सार्वभौम एवं

सन्यासियों के नेता श्रीमत् प्रकाशानन्द सरस्वती ने उनसे तर्क में परास्त होकर तदीय मत ग्रहण किया था। वे साधकमात्र थे, और गौराङ्गदेव अवतार थे। साधक समझ पाने पर बिना विचार किये अवतार के चरणों में लुण्ठित होंगे। किन्तु उन्हें गौराङ्गदेव के प्रतिद्वन्द्वीरूप में उपस्थित करने पर उनका और महत्त्व क्या रह जाता है?—वरं गौरव की हानि हुआ करती है। इन सारे लोगों द्वारा समाज का कल्याण दूर ही रहे, हिंसाद्वेष वृद्धि होकर समाज का समधिक अमङ्गल ही साधित होता है।

विश्लेषण अर्थात् ज्ञान-पथ के साधकगण ब्रह्मसत्ता में निमग्न हो जाते हैं, लीलानन्द का भोग नहीं कर पाते हैं; फिर संश्लेषणपथ के लोग लीलानन्द में डूबकर स्वरूपानन्द से वञ्चित होते हैं। किन्तु जो विश्लेषणपथ में गमन कर संश्लेषणपथ में लौट आते हैं, वे ही सच्चिदानन्दसमुद्र में डुबकी लगाकर आत्मस्वरूप में लीलानन्द का उपभोग किया करते हैं। एकमात्र उन्हीं का जीवन ही सम्पूर्ण है, जो लीलानन्द में मतवाले हो उठते हैं, वे नित्यानन्द का स्वाद न पाकर नित्यावस्था की कठोर और शुष्क ज्ञान कर विज्ञता प्रकट करते हैं, फिर जो केवल नित्यानन्द में मतवाले हैं और अनित्यज्ञान से लीलानन्द में अश्रद्धा प्रकट करते हैं। किन्तु भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं अर्थात् अनादि और अनन्त हैं, भगवान् की लीलाएँ भी उसी प्रकार से अनादि और अनन्त हैं। सुतरां नित्य और लीला, भगवान् के ये उभय भाव युगपत् जिन्होंने उपलब्ध कर लिये हैं, वे ही ब्रह्मवित् हैं—वे ही प्रेमिकशिरोमणि हैं। भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग

में किसी एक पथ का अवलम्बन करने से पूर्ण सच्चिदानन्द की उपलब्धि नहीं होती है। उभय मार्गावलम्बन अर्थात् ज्ञान-भक्ति के समन्वयी मार्ग में गमन नहीं करने से पूर्णानन्द का अधिकारी नहीं हुआ जाता एवं हृदय की सङ्कीर्णता दूर होकर सार्वभौम उदारता नहीं जन्मती है। परिणामतः वे साम्प्रदायिक गण्डि छोड़ नहीं पाकर हिंसाद्वेष से धर्मजगत् को कलुषित किया करते हैं। और जिनके हृदय में ज्ञान-भक्ति का मिलन हुआ है, उनके निकट कोई झगड़े नहीं, कोई विद्वेष नहीं; वे सभी सम्प्रदायों में मिलकर, सभी रसों में रसकर एवं सबके निकट बसकर सर्वप्रकार आनन्दलाभ किया करते हैं। हनुमान्, प्रह्लाद, शुकदेव, जनक प्रभृति महात्मागण ज्ञान-भक्ति के मिलन से कृतार्थ हुए थे। रामप्रसाद, तुलसीदास, गुरु नामक प्रभृति महापुरुषों ने भी ज्ञान-भक्ति का मिलनानन्द आस्वाद पाया है। शङ्कराचार्य और गौराङ्गदेव का मिलन ही ज्ञान-भक्ति का समन्वय है। हमने

भगवान् रामकृष्ण

परमहंस के जीवन में शङ्कर और गौराङ्ग का अपूर्व मिलन देखा है। "अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर जो इच्छा सो करो" यही कहकर उन्होंने एक निःश्वास में धर्मजगत् के सारे झगड़े मिटा दिये हैं। क्योंकि, विश्लेषण अर्थात् ज्ञानपथ से अद्वैततत्त्व प्राप्त करने से जिस किसी संश्लेषण अर्थात् भक्तिपथ का अवलम्बन किया जा सकता है। कारण ज्ञान की प्राप्ति होने से साधक समझ सकता है

कि एक ही अद्वैततत्त्व अनन्त आधारों पर अनन्त रूपों में—अनन्त प्रकार से प्रकाशित हुआ है। सुतरां तब समस्त भेदभाव विदूरित हो जाते हैं—हिंसा-विद्वेष पलायन करते हैं। और एक स्थान पर परमहंसदेव ने कहा है—"ज्ञानिलोग नेति नेति कहकर सीढ़ियाँ अतिक्रम कर छत पर चढ़ जाते हैं किन्तु छत पर जाकर देखते हैं कि, छत भी तो चून-सुरखी-ईट की समष्टि है, सीढ़ियाँ भी वही हैं।" रामकृष्णदेव ने सर्वसाम्प्रदायिक धर्मों का भाव स्वतन्त्र रखकर उनके औत्पत्तिक कारण का एक ही स्थान निर्देश कर दिया है। उन्होंने ईसाई, मुसलमान, हिन्दुओं के शाक्त-वैष्णवादि किसी का भी भाव नष्ट नहीं किया, सभी धर्मों को सत्य जानकर नैष्ठिक भाव से अपने-अपने साम्प्रदायिक भावों से साधना करने का उपदेश दिया है।

सर्वधर्मसमन्वय कहने से यह मत समझना कि सारे भावों को तोड़ कर, चूर-चूर कर एक कर देना। स्त्रीजाति एक होने पर भी भगिनीभाव से माता का भाव नहीं समझा जा सकता है। फिर भगिनी में पत्नीभाव उपलब्धि करने की चेष्टा करने से उसका भगिनीभाव विकृत हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय के उपास्य एक वस्तु होने पर भी भावों का तारतम्य रहने के कारण उसी उसी भाव-शिक्षा के द्वारा साधना करने से ही वह भाव प्रस्फुटित हो सकता है। बौद्धभाव से क्या गोपीभाव की उपलब्धि किया जा सकता है ? मेरा साधनापथ एकमात्र सत्य है, अन्य साधनापथ भ्रान्त हैं, इस भाव की वशवर्ती होकर सबकी निन्दा न

कर, सतीनारी के समान अपने भाव में विभोर रहो। जो जिसरूप से उपासना करता है, उसका मनोरथ उसीरूप से सिद्ध होता है। रामकृष्णदेव ने कहा है, "भाव अनेक हैं, किन्तु मूल में एक हैं; नैष्ठिकभव से सर्वसाम्प्रदायिकभाव की साधना करने से वह एक ही सत्य पर उपस्थित करता है।" नैष्ठिक भाव और रूढ़िवादिता एक ही बात नहीं हैं। अपने भाव से सती के समान साधना करो, किन्तु किसी के भी भाव की निन्दा न करो। स्थूल में विभिन्नता निश्चित होने पर भी मूल में एक ही है। यही सर्वधर्मसमन्वय है। यही शङ्कर और गौराङ्ग का पूर्ण मिलनादर्श है।

भगवान् रामकृष्णदेव का आदर्श वर्तमान धर्मविप्लवकाल में नितान्त प्रयोजनीय है,—यह सत्य सबके प्राणों-प्राणों में अङ्कित न होने से हमारा फिर कल्याण नहीं हो सकता। शङ्कर और गौराङ्ग के मिलन में ही पूर्ण सत्य है—प्रकृत धर्म है। सुतरां साधकमात्र ही सयत्न से हृदयमन्दिर में शङ्कर और गौराङ्ग को एकासन पर स्थापित करें। हम किसी के भी हृदय में एकासन पर शङ्कर और गौराङ्ग को देखकर ही बिना परिचय से उसे रामकृष्णभक्त समझ सकेंगे। गौराङ्ग में शङ्कर को एवं रामकृष्ण में गौराङ्ग और शङ्कर को एकासन पर न देख पाकर, उन्हें अवतार कहने में जगत् कुण्ठित होता। हम कब देखेंगे—ऐसा दिन कब आएगा कि, प्रत्येक साधक के हृदय में ओतप्रोत होकर शङ्कर और गौराङ्ग विराज रहे हैं। शङ्कर और गौराङ्ग अर्थात् ज्ञान-भक्ति का मिलन होते ही धर्मजगत् के सारे हिंसाद्वेष—द्वन्द्वकोलाहल दूरीभूत होकर शान्ति की—प्रेम की अमियधारा

प्रवाहित होगी। उनकी गोद में साधारण लोग भी निर्विवादरूप से स्थान प्राप्त कर कृतार्थ होंगे। भगवान् शङ्कराचार्य और गौराङ्गदेव का मिलन होने से जगत् के सारे भेद-भाव दूरीभूत होकर प्रेम का राज्य स्थापित होगा।

जीवन्मुक्ति अवस्था

जिनके हृदय में शङ्कर-गौराङ्गदेव एक ही सिंहासन पर स्थापित हुए हैं—जिनके हृदय में भक्तिगङ्गा ज्ञानसमुद्र से मिल गई है, वे ही जगत् में जीवन्मुक्त हैं। तभी ज्ञानभक्ति के पूर्णादर्श शुकदेव को "शुको मुक्तः" कहकर शास्त्रकारों ने स्पष्ट किया है। तत्त्वज्ञानी निर्लिप्त गृहस्थ एवं परमहंस-सन्न्यासिगण जीवन्मुक्त हैं; सीधे शब्दों में ब्रह्मविद् व्यक्ति ही मुक्त हैं। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" कहकर श्रुति ने ब्रह्मज्ञों की मुक्ति घोषणा की है। किन्तु ब्रह्मविद् कहने से आधुनिक समाज के लोग आतङ्क से सिहर उठते हैं; वे ब्रह्मविद् का अर्थ स्वेच्छाचारी, समाजद्रोही, देवगुरु-निन्दक, वेदविरोधी नास्तिक समझ लेते हैं। जिस देश में शिवस्वरूप ब्रह्मज्ञ शङ्कराचार्य ने आविर्भूत होकर ब्रह्मज्ञान-प्रचार कर मुक्ति का द्वार उद्घाटित कर दिया है, उस देश के लोग ब्रह्मवित् के सम्बन्ध में क्यों इस प्रकार की भ्रान्त धारणा के वशवर्ती हो गये, यह अघटनघटनपटीपसी माया ही बता सकती हैं। ब्रह्मज्ञ महात्मा के निकट से तो ब्रह्म से लेकर कीट तक सभी समान आदर से गृहीत होते हैं ! उनके निकट

ब्राह्मण-चण्डाल, पुरुष-नारी, पापी-पुण्यवान्, जड़-चैतन्य, अणु-परमाणु, वृक्ष-शिला, कीटपतङ्ग प्रभृतियाँ सारी वस्तुएँ ब्रह्मरूप में प्रतिभात होती हैं; सुतरां एक अणु भी तो उनके निकट आत्मवत् प्रीति की वस्तु एवं भगवान् के समान भक्ति की सामग्री है! साधारण लोग अपने इष्टदेवता के अलावे अन्य वस्तु से तुष्ट नहीं हो सकते, और ब्रह्मविद् के निकट सारी वस्तुएँ इष्टदेवता के स्वरूप हैं। शाक्त कहते हैं शक्ति भिन्न गति नहीं, वैष्णव फिर काली का नाम सुनते ही कानों में उँगली दे लेते हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञ के निकट काली, विष्णु, शिव प्रभृतियाँ समान आदर प्राप्त हुए रहते हैं। साधारण लोग शालग्रामशिला को नारायण समझते हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञों के निकट सभी शिलाएँ ही नारायण हैं; साधारण लोग तुलसीवृक्ष को पवित्र मानते हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञानी वृक्षमात्र को ही तुलसी के समान पवित्र मानते हैं; साधारण लोग गङ्गा को पुण्यनदी मानते हैं, किन्तु ब्रह्मविदों के निकट सारी नदियाँ ही गङ्गासदृश हैं। सुतरां जो लोग नारायणशिला को लात मार किंवा रमजान चाचा के पाचित पक्षीविशेष का मांस भक्षण कर ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करते हैं, वे किस प्रकार के ब्रह्मवित् हैं, सो व्यास-वशिष्ठ-जैमिनि-पतञ्जलि के वंशावतंस हिन्दुओं में समझने की शक्ति नहीं है। भगवान् शङ्कराचार्य तदीय स्थापित मठ में शिव, विष्णु, शक्ति प्रभृति की मूर्तियाँ स्थापन एवं भक्तिगद्गद्चित्त से गङ्गा-मनसा तक की स्तोत्र-रचना कर ब्रह्मज्ञानियों को क्या नास्तिकता की शिक्षा दे गये हैं?—हाय रे! सब काल का प्रभाव है। समाज की

स्वेच्छाचारिता एवं उच्छृङ्खलता ही इस प्रकार के सर्वनाश के मूलीभूत कारण हैं, इसमें सन्देह नहीं।

जिन्होंने तत्त्वज्ञानविचारपूर्वक ब्रह्म में आत्मस्वरूप की उपलब्धि की है, किंवा प्रेमभक्ति की अमृतधारा में वहते हुए इष्ट-चरणों में लीन हुए हैं, वे ही ब्रह्मवित् हैं—वे ही जीवन्मुक्त हैं। मन, वाक्य और कर्म ये तीन विषय जिस ज्ञान में लय को प्राप्त होते हैं। उसी का नाम ब्रह्मज्ञान है। यथा—

एकाकी निःस्पृहः शान्तश्चिन्तानिद्राविवर्जितः।
बालभावस्तथाभावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र

जिस ज्ञान से जीव निःसङ्ग, निःस्पृह, शान्त, चिन्ता और निद्राविवर्जित होता है एवं बालक के समान स्वभावविशिष्ट होता है, उसी ज्ञान को ब्रह्मज्ञान कहते हैं। सुतरां संयम या स्वेच्छाचार ब्रह्मज्ञान का लक्षण नहीं है। जिन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, वे रक्तमांस के देहधारी होकर भी मुक्त हैं; इसीसे जीवन्मुक्त के नाम से अभिहित होते हैं। वही शास्त्र में जीवन्मुक्त का लक्षण लिखा हुआ है कि—

वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिन् छायावदनुवर्तिनि।
अहन्ता-ममताऽभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

जो शरीर में वर्तमान रहकर भी छाया के समान अनुगमनकारी इस देह में अहंत्व और ममत्वभावशून्य हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन् स्वभावेन विलक्षणे।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

गुण एवं दोषयुक्त, स्वभावतः परस्पर विभिन्न इस जगत् में सर्वत्र समदर्शिता ही जीवन्मुक्त का लक्षण है।

न प्रत्यग्ब्रह्मणा भेदः कदापि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः॥

जो विशुद्धबुद्धि के द्वारा जीव और ब्रह्म में पार्थक्य एवं ब्रह्म और सृष्टि में भेद किसी भी प्रकार विदित नहीं होते, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

इष्टानिष्टार्थसंप्राप्तौ समदर्शितयात्मनि।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

इष्टविषय या अनिष्टविषय के सम्यक् प्राप्त होने पर भी समदर्शिता से स्वयं इष्टविषय या अनिष्टविषय में विकृतभाव न होना ही जीवन्मुक्त का चिह्न है। सुधीगण परमात्मा और जीवात्मा की शोधित एकभावप्रापिका विकल्परहिता चिन्मात्रवृत्ति को प्रज्ञा कहा करते हैं। यही प्रज्ञा सुन्दररूप से प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म में स्थित होते ही स्थितप्रज्ञ कहलाती है। दुःखकष्टों में जिनका मन विषादित नहीं होता है, और सुखभोग में भी जिनकी स्पृहा नहीं होती है एवं अनुराग, भय, क्रोध इत्यादि को जो परित्याग करने में सक्षम होते हैं, उन्हें ही स्थितप्रज्ञ कहते हैं।* जो ब्रह्म में विलीनचित्तताहेतु निर्विकार और

* श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय का ५६ श्लोक द्रष्टव्य है।

निष्क्रिय होकर नित्यानन्दसुख का अनुभव करते हैं, वे ही स्थितप्रज्ञ हैं। इस प्रकार जिनकी प्रज्ञा निश्चल और जिनका नित्यानन्द है, जो स्वप्न के समान प्रपञ्च विस्मृतप्राय हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते॥

प्रेमभक्ति के असमोर्ध्व रसमाधुर्य में जिनका चित्त इष्टदेवता के चरणों में सदा के लिए संलग्न हो गया है, जिन्होंने अपना अस्तित्व तक प्राणों के ठाकुर के प्रेमरसार्णव में भुला दिया है, उन्हें एवं यह जीव ही इष्टदेवता का स्वरूप है, वे सर्वत्र सर्वभूतों में प्रविष्ट होकर विराजित हैं, इस प्रकार के दर्शनकारी व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। समस्त आकाश में परिव्याप्त जो चैतन्यस्वरूप जगदीश्वर हैं, उन्हें जिन्होंने समुदाय जीवों की अन्तरात्मा के रूप में जाना है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।*

प्रकृत ब्रह्मगतप्राण जीवन्मुक्त व्यक्ति साधारण मनुष्यमण्डली से अनेक उच्च स्थान पर अवस्थिति करते हैं। वे जिस स्थान पर रहते हैं, वहाँ रोग नहीं, शोक नहीं, भय नहीं, जरा-मृत्यु-दुःख-दरिद्रता ये सब कुछ भी नहीं है। साधुलोगों द्वारा पूजित होने पर किंवा असाधुलोगों द्वारा पीड्यमान होने पर भी उभय अवस्थाओं में उनका चित्त समभाव में रहता है। उनके द्वारा लोग सारे उद्वेग प्राप्त नहीं होते, वे भी किसी के द्वारा उद्विग्न नहीं होते। तभी वे पृथ्वी पर

---

* जीवः शिवः सर्वमेव भूते भूते व्यवस्थितः।
एवमेवाभिपश्यन् यो जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

रहकर भी ब्रह्मलोकवासी, रुग्ण होने पर भी बलवान् और स्वस्थ, दरिद्र अवस्था में भी वे महैश्वर्यवान् एवं भिखारी अवस्था में भी राजचक्रवर्ती होते हैं। वस्तुतः जीवन्मुक्तव्यक्ति साधारण मर्त्यजीवलोगों से इतने ऊँचे अवस्थिति करते हैं, कि साधारण व्यक्ति उनकी उस उच्चता का परिमाण निरूपण में सम्पूर्ण अक्षम होकर अनेक समय उनकी अवज्ञा करते हैं, प्रत्यक्ष या परोक्ष उनकी निन्दा करते हैं एवं विविध प्रकार से उनके प्रति अत्याचार किया करते हैं, किन्तु किसी भी प्रकार उन्हें अणुमात्र भी क्षोभित नहीं कर पाते। शान्तिरूपी खड्ग जिनके हस्त में है, दुर्जन व्यक्ति उनका क्या करेगा ? वे स्वीय करस्थ शान्तिरूप महाखड्ग द्वारा उनके सारे आक्रमणों को ही व्यर्थ कर दिया करते हैं। वस्तुतः अज्ञानी मनुष्यगण तब उनके महत्त्व का अनुभव कर सकें या नहीं, स्वर्गस्थ देवताओं के निकट वे उस अवस्था में सर्वदा पूजित हुए रहते हैं। यथा—

ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये।

—वेदान्तरत्नावली

वास्तव में जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं वे अतिमात्र तिरस्कृत होकर भी रुक्षवाक्य का प्रयोग नहीं करते हैं एवं अतिमात्र प्रशंसित होकर भी प्रियवाक्य नहीं कहते, जो आहत होकर भी धैर्यनिबन्धन प्रतिघात नहीं करते एवं हन्ता का अमङ्गल हो ऐसी इच्छा भी नहीं करते, त्रिलोक में तदपेक्षा और पूज्य कौन हो सकता है ? लोग उनके इस महद्भाव की उपलब्धि न कर पाकर बाह्यिक भाव देखे जाने से विपरीत अभिप्राय का प्रकट किया करते हैं। जीवन्मुक्त व्यक्ति

आत्मवित्, अव्यक्तचिह्न और बाह्यविषयासक्तिवर्जित होते हैं, वे दिव्यरथरूप इस शरीर का अवलम्बन कर शिशुवत् परेच्छाक्रम से उपस्थित विषय का भोग करते हैं। उनका चिन्ताहीन दीनताप्रकाशशून्य भिक्षान्न आहार, नदी में जल-पान, स्वेच्छा से अनिवार्यरूप में अवस्थिति, निर्भयहेतु श्मशान वा कानन में निद्रा, प्रक्षालन या शोषणादिशून्य दिग्रूप वसन, गृहशय्या भूमि और वेदान्तरूप मार्ग में गतिविधि एवं परब्रह्म में ही रमण होता है। और—

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम्॥

—विवेकचूड़ामणि, ५४१

जीवन्मुक्तव्यक्ति कभी दिगम्बर होकर, तो कभी वस्त्र पहनकर, कभी वल्कल या चर्माम्बर धारण कर, तो कभी ज्ञानाम्बर ग्रहण कर, कभी उन्मत्तवत्, कभी बालक के समान, कभी पिशाच के समान धरा पर भ्रमण करते हैं।

क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः॥

—विवेकचूड़ामणि, ५४३

नित्य परमानन्द में आनन्दित जीवन्मुक्तव्यक्ति कहीं मूर्ख के समान, कहीं पण्डित के समान, तो कहीं राजा के समान ऐश्वर्यशाली, किसी जगह भ्रान्तवत्, कहीं प्रशान्त, किसी स्थान पर अजगरधर्मावलम्बी,

कहीं दानपात्रवत्, कहीं अवमानित, तो कहीं अपरिचित, इस प्रकार भ्रमण करते हैं। इसी कारण अल्पबुद्धि लोग उन्हें न समझ पाकर अपनी-अपनी शिक्षानुसार अपने-अपने मत प्रकट किया करते हैं। कोई या तो साधु के सौभाग्य-सम्मान से ईर्ष्यान्वित होकर महापुरुषों के सम्बन्ध में व्यर्थ ही कुत्सा का प्रचार करता है, किन्तु वे नहीं जानते कि, तादृश महात्मा की कृपा देवताओं को भी वाञ्छनीय है। यथा—

विचारणा परिज्ञातस्वभावस्योदितात्मनः।
अनुकम्प्या भवन्तीह ब्रह्मविष्ण्विन्द्रशङ्कराः॥
—योगवाशिष्ठ, स्थिः प्रः, २२/१६

ब्रह्मविचार के द्वारा निज स्वभाव ज्ञात होने पर परमात्मा का प्रकाश जिनके सम्बन्ध में होता है तद्रूप आत्मवित् जीवन्मुक्त की दया ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव प्रभृति देवतागण भी आकाङ्क्षा करते हैं।

जीवन्मुक्तव्यक्ति ही विदेहकैवल्य अर्थात् देहान्त में निर्वाणमुक्ति को प्राप्त किया करते हैं। मुमुक्षुव्यक्ति मृत्यु के दिन शरीर से उत्क्रान्त होकर क्रमशः आत्मस्वरूप में लीन होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं, भक्त अर्थात् सगुण-ब्रह्मोपासकगण देहान्त के पश्चात् ईश्वरलोक में वास करते हैं, तत्पश्चात् कल्पान्त में निर्वाणमुक्ति प्राप्त किया करते हैं। किन्तु ब्रह्मविद् पुरुष के सूक्ष्म और कारणदेह के विनष्ट होने के कारण रक्तमांस के देहधारी होकर भी वे आत्मस्वरूप में अवस्थिति करते हैं,—इसलिए वे जीवन्मुक्त हैं। इसलिए उनके

स्थूलदेह के नाश से अन्य किसी प्रकार देह के न रहने के कारण उत्क्रान्ति नहीं होती, पूरी तरह निर्वाण प्राप्त करते हैं। ऐसा होने से ब्रह्मज्ञाननिष्ठ मनुष्य के देहत्याग से जो मुक्ति मिलती है, वह मुक्ति जीवद्दशा में ही प्राप्त होती है,—देहधारी होकर भी वे निर्वाणसुख भोगा करते हैं। ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्ति होने पर भ्रमरूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है; अज्ञान की निवृत्ति होते ही माया, ममता, सुख, दुःख, शोक, भय, मान, अभिमान, राग, हिंसा, द्वेष, मद, मोह और मात्सर्य प्रभृति अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ निरोध हो जायेंगी। तब केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र की स्फूर्ति होती रहेगी। इस प्रकार केवल चैतन्यस्फूर्ति होनी ही जीवद्दशा में जीवन्मुक्ति है एवं अन्त में निर्वाण के नाम से कथित होता है।

साधक परमात्मा के साथ यदि अपने हृदय का यथार्थ योगस्थापन कर सकें तो अमरत्व को प्राप्त होते हैं, अर्थात् स्वयं को अमर स्पष्टरूप से समझ सकते हैं। वे आसन्न मृत्यु को देखकर भी उद्विग्न नहीं होते एवं दीर्घजीवन पाकर भी आनन्द प्रकट नहीं करते, अर्थात् वे आसन्न मृत्यु एवं दीर्घजीवन, एतदुभय को समभाव से देखते हैं। वे मरणभय तुच्छ कर प्रेम में मतवाला—विह्वल होकर गद्गद्स्वर से प्राणेश्वर के महिमा कीर्तन करते हैं। वे काल को कला दिखाकर रामप्रसाद के सुर में गाया करते हैं—

आमि तोर आसामी नहरे शमन, मिछा केन कर ताड़ना।

फिर "शुधागे तोर यमराजाके आमार मत नियेछे क'टा"—कहकर आँखें लाल करके वे यमदूत को भगा देते हैं। वस्तुतः साधक जब

स्वयं को हमेशा के लिए अपने इष्टदेवता के चरणों में विक्रय कर नित्य आनन्द के अधिकारी होते हैं, तब वे स्पष्ट देख पाते हैं कि, उनका वह प्रेम और आनन्द अनन्तकालव्यापी है, किसी काल या जगत् में इसका क्षय या विनाश नहीं है। इहलोक में अवस्थान करके भी उन्होंने जिनके सहवास का आनन्द या जो प्रेम उपभोग किया है, देहान्त के पश्चात् भी वे उनके निकट रहेंगे एवं वही प्रेम का उपभोग करेंगे। सुतरां मृत्यु तब और उनके निकट प्रकृत मृत्युरूप में अग्रसर नहीं होती, अर्थात् वह उस समय उनके लिए फिर इह-परलोक के बीच व्यवधानरूप में प्रतीयमान नहीं होती। इसी को ही साधक का अमरजीवन, अनन्तजीवन या सत्यजीवन प्राप्त करना कहते हैं। इस प्रकार सत्यजीवन प्राप्त करना ही जीवन्मुक्त-अवस्था हैं। जबकि इहलोक में जो जीवन्मुक्त हैं, परलोक में वे ही निर्वाणमुक्ति प्राप्त करते हैं। अभी—

उपसंहार

के समय ग्रन्थकार का निवेदन यह है, कि पाठक! परलोक में परमा-गति प्राप्त हो सकती है, यह सोचकर निश्चिन्त होकर कालक्षय न करना। सभी को साधना द्वारा जीवन्मुक्त होने की चेष्टा करना कर्तव्य है। जितने प्रकार के साधनाएँ हैं, मुक्तिविषयक साधना ही सर्वापेक्षा प्रधान है—मानव का परमपुरुषार्थ है। यही मानवजीवन का एकमात्र चरम लक्ष्य है; उसी कारण हम प्रत्येक व्यक्ति को मुक्तिलाभ के लिए यत्न करने सनिर्बन्ध अनुरोध करते हैं। दुर्भाग्यवश

जो मुक्ति के पथ से दूर अवस्थिति करते हैं, शास्त्रकारगण ने मनुष्यगर्भजात गर्दभरूप में उनका वर्णन किया है। यथा—

जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः॥

—योगवाशिष्ठ, वैः प्रः, १४/१२

पाठकगण! सच्चिदानन्दविग्रहस्वरूप मेरे गुरुदेव ने जो गुरुभार मेरे कंधे पर दिया था, आज पाँच वर्ष पश्चात् उस भार से पार पाकर मैंने मुक्ति की साँस ली। उन्होंने मुझे समन्वय और सामञ्जस्य कर समस्त शास्त्रार्थ प्रकाश और साधनापन्था को प्रकटित कर ग्रन्थ प्रचार करने को आदेश दिया था। यद्यपि मैं उनके सेवकवृन्दों में विद्याबुद्धि में अधम हूँ, तथापि उनके आशीर्वादादेश से,—उन्होंने जिस प्रकार के ज्ञान और शक्ति अर्पण की थी, तदनुसार मैं समग्र हिन्दुशास्त्र को चित्तशुद्धि और ज्ञान, कर्म, योग एवं भक्ति इन कई प्रधान स्तरों में विभक्त कर उनका स्थूल मर्म ब्रह्मचर्य-साधन, योगीगुरु, ज्ञानीगुरु, तान्त्रिकगुरु एवं इस प्रेमिकगुरु ग्रन्थों में विवृत करते हुए साधारणों के कंधों पर डाल कर निश्चिन्त हुआ। कहाँ तक उनका आदेश पालन कर कृतकार्य हुआ हूँ, सो वे ही कह सकते हैं।

विषम काल पड़ा है,—हिन्दुसमाज में उपयुक्त नेताओं का अभाव हो जाने से समाज में उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता बड़ी ही बढ़ गयी है। सारे लोग उन्मार्गगामी हो गये हैं। समाज के अधिकांश लोग विपथगामी हैं; अथच सभी शास्त्रवेत्ता, धर्मवक्ता और उपदेष्टा हैं। वे लोग अपने-अपने शिक्षादीक्षानुसार जिसमें जैसे संस्कार या

धारणा पैदा हुई है वे उसी रूप से शास्त्रव्याख्या कर धर्मशिक्षा दे रहे हैं। इससे खुद तो प्रतारित हो ही रहे हैं, साथ ही साथ और पाँच लोगों को विपथगामी कर रहे हैं। कोई-कोई अविद्याभिमान से उन्मत्त होकर आत्मदर्शी और सत्यमर्मी ऋषियों का भ्रम प्रदर्शनपूर्वक अपना कृतित्व जाहिर कर रहे हैं। कोई तो एक·ही शास्त्र में कितने को प्रक्षिप्त कितने को अतिरञ्जित एवं कितने को मिथ्यालक्षणाक्रान्त कहकर, उसे छोड़ते हुए अपनी मतलबसिद्धि के उपयोगी अंश को चुनकर धर्मप्रचारक सजे हैं। कोई-कोई पुराण-तन्त्रों को बालिका की गुड़िया का खेल समझकर वैदान्तिक ब्रह्मवित् होकर बैठ रहे हैं। कोई वा किसी शास्त्र को आधुनिक, किसी शास्त्र को स्वार्थी ब्राह्मण द्वारा रचित कहकर मुंशियाना चाल में विज्ञता प्रकट करते हैं। कोई व्याकरण के ताप में पुराणों को गलाकर उनके कचरें निकाल कर दयापरवश होकर मूल अंश को निकाल दे रहे हैं,—उस ताप से ऐतिहासिक सत्य तक भी उड़ जा रहा है। कोई दल तो नियम-संयम विधि-निषेध को कुसंस्कार कहकर स्वेच्छाचार को प्रश्रय दे रहा है। किन्तु सभी धर्महीन हैं,—विपथ में घूमकर मर रहे हैं। धर्म का लक्ष्य खो बैठे हैं,—जबकि मुख में बड़ी-बड़ी बातें हैं। दर्शन, उपनिषद्, योग, ज्ञान भिन्न वे छोटी-छोटी बातों के नजदीक भी नहीं फटकते। उनमें से कोई वेदान्त के मायावादी हैं, कोई बौद्धधर्म के शून्यवादी हैं, कोई गीतोक्त कर्मयोगी हैं, कोई उपनिषद् के ब्रह्मज्ञानी हैं, कोई तंन्त्रोक्त कौलाचारी हैं, कोई उज्ज्वलरसास्वादी हैं, और किसी के मुख में योगसमाधि !

यह तो हुई शिक्षित नेता और उपदेष्टा एवं उनके चेलों की बात। और जो धर्म के निम्नस्तर को लिये हुए हैं, वे लोग केवल तिलकमिट्टी माला-झोला, चीनी-केला, बाह्य शौचाचार और चुंडी-शिखा लेकर समय बिता रहे हैं। तीन बेला सन्ध्याह्निक की आडम्बर, फिर भी मिथ्या मुकद्दमा, मिथ्या साक्ष्य, परनिन्दा, परस्वापहरण और परदारगमन से निवृत्ति नहीं हैं। इसी श्रेणी के लोग धर्म के प्राणों को छोड़कर संस्कारवश ह्लड़-मांस लेकर ही हिला-डुला रहे हैं। एक उदाहरण दे रहा हूँ,—हिन्दुसमाज में व्रत और पर्व के उपलक्ष्य में उपवास करने की विधि है। उप = समीप में+वास, अर्थात् भगवान् के निकट वास करना ही उपवास है; उसके लिए पूर्वदिन से संयमादि कर चित्त को शुद्ध रखना होता है; बाद में पर्वदिन दिनरात संयतभाव से भगवदाराधना और ध्यान-धारणा में नियुक्त रहना ही व्यवस्था है। किन्तु झूठ बोलकर, परनिन्दा और कलहकर दिनरात बिताकर जल भी पिये बिना अनाहार में रह सकने से ही उपवास की सार्थकता हो गई ऐसा वे समझते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठलोगों के प्रतिष्ठित धर्म की सुदृढ़ भीत्ति तोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं एवं द्वितीय श्रेणी के लोग बन्धन पर बन्धन कसकर अन्तःसारशून्य हो पड़े हैं।

और एक श्रेणी के लोग हिन्दुसमाज में दिखाई पड़ते हैं, वे जारजधर्मावलम्बी हैं। पाश्चात्य पण्डितलोगों द्वारा व्याख्यात हिन्दुशास्त्रों का पाठ कर ये अज्ञसमाज में विज्ञ सज बैठ रहे हैं। उनके मुँह में केवल कुसंस्कार और पौत्तलिकता का रट है, केवल धर्मसभाओं और वक्तृताओं का उच्चनिनाद है। जो लोग गीता के प्रथम श्लोक

का अनुवाद करते हुए सात भूलें कर बैठे हैं, उनके द्वारा समालोचित हिन्दुधर्म और हिन्दुशास्त्र का पाठ कर एक श्रेणी के लोग पण्डित होकर हिन्दुओं के गुरु बन रहे हैं। ऋषिलोगों को संस्कृतानभिज्ञ समझकर उनके द्वारा प्रणीत शास्त्रादि के भ्रमसंशोधन और श्लोकाङ्ग कर्तन कर वे हिन्दुसमाज का निःस्वार्थ उपकार साधन कर रहे हैं। इस श्रेणी के लोगोंद्वारा हिन्दुधर्मरूप कल्पपादप फल-फूल पत्रादियुक्त शाखा-प्रशाखाओं से शून्य होकर स्थाणुवत् शोभित होने का सूत्रपात हुआ है।

इनके अतिरिक्त और एक श्रेणी के लोग हैं—वे लोग अवतार हैं। स्वयं किंवा भक्तलोगों द्वारा समाज में अवताररूप में परिचित हो रहे हैं। भगवान् गौराङ्गदेव के बाद से यह देश अवतारलोगों से परिपूर्ण है। प्रत्येक जिले में ही दो-एक अवतारों का अभ्युदय परिदृष्ट हो रहा है। इतिमध्य दो-एक अवतारों का कारागार और द्वीपान्तर-वास का लीलाभिनय भी हो चुका है। तथापि धर्मप्राण सरल लोग दलों में जाकर अवतार दल को पुष्ट कर रहे हैं। इस श्रेणी के लोगोंद्वारा हिन्दुसमाज खण्ड-खण्ड हो रहा है एवं प्रकृत साधुचरित अवतार के अन्तराल में पड़कर लोकलोचन के बहिर्भूत हो गये हैं। अवतार के संशयजाल को छिन्न न कर पाने के कारण साधु-महात्माओं के त्यागवैराग्य या ज्ञान-भक्ति का आदर्श साधारण लोग ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं।

अभी साधारण लोगों के लिए क्या उपाय है ?—वे क्या करेंगे, कौन-सा पथ अपनायेंगे एवं किसकी बात पर विश्वास करेंगे ? तभी मैंने कहा है, विषम काल आ पड़ा है। और विषम काल पड़ा है,

तभी तो भय होता है। किसकी बात पर विश्वास करूँ ? जो कह रहा है "गृहस्थ जागरित होओ" फिर वही कह रहा है "मत उठो; रात्रि है।" अब क्या करना कर्तव्य है ? अभी कर्तव्य यही है, कि हमारा ईश्वरदत्त जो मनुष्यत्व है उसी का आश्रय करना, कारण उन्होंने जब हमारे कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होने के लिए प्रत्येक को ज्ञान का प्रदान किया है, तब थोड़ा स्थिरभाव से उसी ज्ञान का आश्रय लेकर विवेक के वशवर्ती होकर चल पाने से किसी भी झंझट में नहीं पड़ना होगा। हमारे देहरथ में विवेक-श्रीकृष्ण संशयाकुलित विषादमग्न शिष्य और सखा अर्जुनरूपी मन को नियत ही गीतामृत पान करा रहे हैं। अतएव विवेक के शरणागत होकर ज्ञानलाभ करना होगा। किन्तु जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वह तो माया के सम्मोहन मन्त्र से मुग्ध होकर सञ्चालित हो रहा है, विवेक के वशवर्ती होकर नहीं। सुतरां प्रथमतः विवेक को जाग्रत करने के लिए विधिसम्मत चित्तशुद्धि की आवश्यकता है। और चित्तशुद्धि की इच्छा रहने पर भगवन्निर्दिष्ट नियमों सर्वदा ही पालनीय हैं। इसीलिए ऋषियों ने मानवजीवन के प्रथम सोपान में ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्याश्रम में शास्त्रादि के पाठ से ज्ञानलाभ एवं आहारसंयम और शमदमादि के अभ्यास से चित्तशुद्धि होती थी। इसी कारण धर्म की भित्ति ही ब्रह्मचर्य है; ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे समाज की यह दुरवस्था है। चित्तशुद्धि नहीं होने पर किसी भी धर्म में अग्रसर नहीं हुआ जा सकता; ईसाई-मुसलमान में मतभेद है, शाक्त-वैष्णव में मतभेद है, पौराणिक-दार्शनिकों में मतभेद

है, किन्तु चित्तशुद्धि के सम्बन्ध में किसी भी सम्प्रदाय में मतद्वैध नहीं देखा जाता। चरित्रगठनपूर्वक चित्तशुद्धि की आवश्यकता ईसाई-मुसलमान सम्प्रदायों के द्वारा भी अनुमोदित है। चोरी करो, झूठ बोलो, यह किसी सम्प्रदाय को ही अभिप्रेत नहीं है। सुतरां हम प्रथम जीवन में सर्वसम्मत चित्तशुद्धि की साधना का आरम्भ कर सकते हैं। इससे प्रतारित होने का भय नहीं है एवं इसका अभ्यास विशेष शिक्षासापेक्ष नहीं है। देश-काल-पात्रभेद से सात्त्विक आहार और सात्त्विक चिन्तन का अभ्यास करने से ही सहज ही चित्तशुद्धि हो जाया करती है। इससे शरीर नीरोग और स्वस्थ होगा एवं विश्वास-भक्ति हृदय पर अधिकार कर बैठेगी।

चित्तशुद्धि होने पर जिसके जिस भाव में, जिस मत में विश्वास होगा, उसे वही अवलम्बन करना कर्तव्य है। अन्यमत श्रेष्ठ है और निजमत निकृष्ट मिथ्या और कुसंस्कारपूर्ण है ऐसा सुनकर भी विचलित मत होना। निजमत दृढ़ कर धारणपूर्वक उसकी परिणति और परिपुष्टि के लिए चेष्टा करो। क्योंकि कोई मत ही—कोई सम्प्रदाय ही निरर्थक नहीं है। अज्ञता से प्रेरित होकर सारे लोग साम्प्रदायिक मतों की समालोचना करके दुर्वलाधिकारी के मन विगाड़ देते हैं; किन्तु कोई मत ही मिथ्या नहीं है, सभी मतों के ही आश्रितलोग पूर्णसत्य में किंवा सत्य के एकदेश में उपनीत होंगे। जब मानवसमाज के ही जनता परस्पर विभिन्न प्रकृति के हैं, तब उनके मतों में वैषम्य रहना अवश्यम्भावी है; सुतरां मतों को पथमात्र समझकर—किसी मत की निन्दा न कर किंवा सभी मतों के करीम, काली, कृष्ण, ईसाइयों की

खिचड़ी न पकवाकर सतीनारी के समान स्वधर्मनिष्ठ हुए रहोगे। जन्मान्तरों का संस्कार एवं शिक्षा और रुचिभेद से अधिकारानुरूप जिस किसी एक मत का अवलम्बन करोगे। अनन्तर विश्वास दृढ़ होकर, भाव पुष्ट होकर लक्ष्य स्थिर होने पर तदनुरूप साधना-प्रणाली का अवलम्बन करोगे। साधना से लक्ष्यवस्तु की उपलब्धि होते ही तत्प्रति भक्ति का सञ्चार होगा—उन्हें पाने को प्राण व्याकुल होंगे। तब संसार की सारी वस्तुओं से विराग जन्मकर अभीष्ट वस्तु में चित्त की अविच्छिन्ना एकमुखी गति होगी। इसीसे चित्तवृत्तिनिरोध होकर तत्त्वज्ञान प्रकाश पायेगा। तब आत्मस्वरूपलाभ से कृतार्थ होकर मुक्तिपद पर अवस्थिति करोगे।

किन्तु मुक्तिलाभ करना हो तो एक मुक्त व्यक्ति की सहायता विशेष आवश्यक है। हिन्दुशास्त्र में वे ही गुरु नाम से अभिहित होते हैं। गुरु की कृपा नहीं होने से मुक्तिपथ पर अग्रसर होने का उपाय नहीं है। गुरु शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चार नहीं करे तो अध्यात्मज्ञानलाभ से कृतार्थ नहीं हुआ जाता है। सुतरां गुरु की आवश्यकता विशेषरूप से उपलब्धि करो। जिन्होंने आत्मस्वरूप प्राप्त किया है, वे ही गुरु हैं। अन्यथा दूसरे के निकट जाने से गुरु का अभाव पूर्ण नहीं होगा। ऐसा गुरु नहीं पाने से उसके लिए सरलभाव से भगवान् के निकट प्रार्थना करो। अकपटभाव से सरल प्रार्थना हमारे लिए बड़ा ही कार्यकरी है। जब जो दुर्वलता अनुभव करोगे, उसके लिए भगवान् के निकट प्रार्थना करोगे, हाथों हाथं फल पाओगे। सुतरां गुरु का प्रयोजन अनुभव करने पर व्याकुल होकर

प्रार्थना करो—भगवान् उन्हें भेज देंगे। उपयुक्त समय पर गुरु अपने-आप मिल जाते हैं। गुरु के मिल जाने से और चिन्ता किस बात की ? सर्वस्व उनके चरणों में अर्पित कर तदीय आदेश का पालन करते जाओ, सर्वार्थसिद्धि होगी।

तभी देखो, प्रकृत धर्मपिपासु व्यक्ति को इस जगत् में किसी भी चीज का अभाव नहीं रहता। दूर से हाट या बाजार का ऊँचा शोर सुना जाता है, किन्तु हाट में प्रवेश करने पर कोई शोर नहीं। तद्रूप धर्मजगत् में भी बाहर से वादवितण्डा, विद्वेष-कोलाहल है, किन्तु वास्तविक धार्मिक के निकट कोई विसंवाद नहीं है। मुक्तावस्था हमारा स्वभाव है, सुतरां उसकी प्राप्ति सारे कार्यों की अपेक्षा सहज है। धर्मलाभ करने के लिए विद्याबुद्धि, मूलधन किंवा बलवीर्य का प्रयोजन नहीं होता; केवल प्राणों से भरा विश्वास और भक्ति चाहिए। मानव-मन में स्वतः ही दो प्रश्नों का उदय होता है—भगवान् हैं या नहीं; यदि नहीं तब तो कोई बात ही नहीं—चार्वाक-मतानुसरण करो; अन्यथा 'तुम कौन' सो अनुसन्धान करो। और यदि हैं तो अवश्य किसी ने देखा है, जिन्होंने देखा है उनके निकट देख लो किंवा उन्होंने जिसरूप में देखा है, वह उपाय जान लो, तब कृतार्थ होओगे। और जिन्हें भगवान् में विश्वास नहीं है, काली, कृष्ण आदि संस्कारों को भूलकर सरलभाव से समाहितचित्त से अनुसन्धान करे—उसका अभाव क्या है ? वह चाहता क्या है ? हम सुख के कंगाल हैं—चिर दिनों के लिए निरवच्छिन्न पूर्णसुख की प्रार्थना करते हैं। किन्तु सुख कहाँ है ? धन-जन में, विद्या-बुद्धि में, ख्याति-प्रतिपत्ति में किंवा नाम-यश प्रभृति

अनित्य पार्थिव पदार्थों में कोई कभी भी सुखी नहीं हो सकता है; सुतरां उसमें तुम्हें भी सुखी होने की सम्भावना नहीं है। तुम स्वयं ही आनन्दमय हो; तुम अपना स्वरूप जान पाने पर ही सुखी होओगे। जो व्यक्ति भगवान् को नहीं मानता है किन्तु सुख चाहता है, और जो व्यक्ति सुख नहीं चाहता है, भगवान् को पाने को व्याकुल रहता है,—वे उभय ही प्रकारान्तर से एक वस्तु के भिखारी हैं। कारण सुख तो सुखस्वरूप है, भगवान् के अतिरिक्त कहीं नहीं है, और भगवान् को पा सकने पर ही सुखलाभ हुआ करता है, सुतरां उभय ही एक पथ के पथिक हैं। किन्तु अनभिज्ञ स्थूलदर्शी व्यक्ति उन्हें नास्तिक और भक्त कहकर जगत् में गुटबंदी और हिंसाद्वेष की सृष्टि करते हैं। प्रकृत भगवद्भक्त व्यक्ति यदि श्रीकृष्ण की निन्दा करता है, तब भी उसे नास्तिक मत कहो, कारण वह श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं जानता है अथवा समझ नहीं सका है। इस प्रकार के धार्मिक को भी वैष्णवों का कृष्णभक्त के रूप में स्वीकार करना कर्तव्य है। हम सभी प्रवाह के जल हैं—अनन्तधाम के यात्री हैं; यद्यपि अपने-अपने वासस्थानों से यात्रा करने से नाना पथों की सृष्टि हुई है, तथापि सबकी गति एक ही केन्द्र में है—भगवच्चरणों में है। तब फिर हिंसा-विद्वेष, द्वन्द्व-कोलाहल क्यों करते हो ? यदि सुख चाहते हो, सर्वावच्छेद से भगवान् के शरणागत बनो, उनकी कृपा से अनन्त सुखाशान्ति के अधिकारी होकर नित्यधाम को प्राप्त होओगे।

अतएव धर्मलाभ करने में किसी को भी कोई बाधा नहीं हो सकती। जिस किसी भी एक मत के आश्रय में परिचालित हो पाने

से ही कृतार्थ हो सकोगे। एक आलपीन से आत्महत्या की जा सकती है किन्तु अपर की हत्या करने के लिए युद्धशिक्षा और ढाल-तलवार का प्रयोजन होता है। तद्रूप खुद धर्मलाभ करने में कोई भी उद्वेग नहीं पाना होता है। फिर भी जो लोकशिक्षा दिया करते हैं, उन्हें नाना शास्त्र, नाना पथ, नाना मत—विभिन्न साधना-प्रणालियाँ जानने की आवश्यकता होती है। किन्तु सत्य प्रत्यक्ष न कर गुरु होने की स्पर्धा एवं शास्त्रालोचना करनी विडम्बना मात्र है। इसी श्रेणी के लोगों द्वारा ही हिन्दुसमाज अधःपात में चला गया है। अनधिकारी होकर जो लोग शास्त्रव्याख्या और धर्मप्रचार करते हैं, वे देश के, लोगों के, समाज के घोर शत्रु हैं। सत्यलाभ न कर शास्त्रपाठ करने से शास्त्र का निगूढ़ार्थ निर्णय और उसका मर्मरहस्य भेदन करने में समर्थ नहीं हुआ जाता। हिन्दुशास्त्र अनन्त हैं; सर्वाधिकारी मानवों को स्थान देने के लिए प्रवृत्तिपथ पर शत-शत शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर निवृत्तिपथ पर स्तर-स्तर पर अनन्त देशों पर उठ गये हैं। सुकुमार कुमारों के सुकोमल हृदयों में धर्मबीज वपन करने के लिए वर्णाश्रमोचित व्रत-नियमों से ब्रह्मगतप्राण निराकार ब्रह्मोपासकों के सन्न्यास तक हिन्दुधर्म की देह है। गुरुकृपा से वास्तविक ज्ञान के नहीं होने पर शास्त्रपाठ करने से वह नहीं समझा जा सकता है। किन्तु प्रकृत प्रस्ताव में शास्त्र और सर्वप्रकार साधनाओं का मुख्य उद्देश्य एवं फल भी एक है। मगर उद्देश्यपथ पर जाने की पद्धतियाँ या प्रणालियाँ विभिन्न हो सकती हैं। शास्त्रसकल सत्यदर्शी ऋषियों द्वारा रचित हैं; सत्य एक है, सुतरां शास्त्रसकल क्या परस्पर भिन्न और विसंवादी हो

सकते हैं ? किन्तु अनधिकारी स्थूल बुद्धि से शास्त्रालोचना कर परस्पर में भिन्नता देखते रहते हैं। तभी आज एक ही शास्त्र को पाँच आदमी अपने संस्कार और शिक्षानुरूप पाँच प्रकार से व्याख्या कर हिंसाविद्वेष की वह्नि से समाज को दग्ध कर रहे हैं। एक अधिकारी का उपदेश अन्य अधिकारी के निकट—गृहस्थ का उपदेश सन्न्यासी के, और सन्न्यासी का उपदेश ब्रह्मचारी के निकट व्यक्त कर हिन्दुसमाज को उन्मार्गगामी कर दिये हैं। साधारण लोग इन सारे शास्त्रव्याख्याता और उपदेशदाता प्रचारकर्ताओं के विभिन्न मतवादों के आवर्त्त में पड़ डूब-डूब कर मर रहे हैं! अतएव सत्यलाभ न कर कभी भी शास्त्रों के गोलोकरहस्य में पड़ना उचित नहीं है; ऐसा होने पर और इस जीवन से छुटकारा नहीं पा सकोगे। लोग व्यावहारिक बुद्धि से शास्त्रपाठपूर्वक अज्ञ समाज में विज्ञ सजकर केवल विराट तर्कजाल विस्तार कर वृथा बकवास करते फिरते हैं। इस प्रकार के पल्लवग्राही कभी भी प्रकृत ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते हैं, जबकि और पाँच लोगों को भी विपथ में परिचालित कर समाज में गुटबाजी सृष्टि करते है। सुतरां साधकलोग भक्त और भगवान् के लीलाग्रन्थ एवं अपने-अपने साधनापथ के सारभूत कार्यसाधनोपयोगी शास्त्रांशमात्र का पाठ करें। तत्पश्चात् सत्यलाभ कर साधारणों को शिक्षा देने के लिए समग्र हिन्दुशास्त्र का अध्ययन करें। तब देखें, हिन्दुशास्त्रों में किस प्रकार सुशृङ्खल से कितने अगणित तत्त्व स्तर-स्तरों में सज्जित हैं। कोई भी शास्त्र मिथ्या या निरर्थक नहीं है, किसी-न-किसी अधिकारी का प्रयोजन सिद्ध होगा ही। राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति प्रभृति ऐसी कोई नयी बात कोई न कह सकेगा, जो विशाल हिन्दुशास्त्र के किसी-

न-किसी ग्रन्थ में उल्लिखित न हो। हमलोग उपयुक्त गुरु के अभाव में उपयुक्त शिक्षालाभ से वञ्चित होकर असीम ज्ञानसम्पन्न आर्यवंश में जन्मकर भी अकर्मण्य नगण्य हो गये हैं एवं सर्वदा रोग शोक एवं सङ्कल्पित कर्मनाश से हा-हुताश कर मर रहे हैं।

अतएव सत्यलाभ कर जो कृतार्थ हुए हैं, वे ही हिन्दुशास्त्ररूप कल्पभण्डार के द्वारी होकर सर्वसाधारण के निकट अधिकारानुरूप तत्त्वकथा के प्रचार के द्वारा समाज में सुखशान्ति की प्रतिष्ठा करेंगे, त्रितापदग्ध जीवों के शुष्ककण्ठों में धर्म की अमृतधारा डालकर सञ्जीवित कर देंगे। पाठक ! हमारे प्रकाशित ब्रह्मचर्य-साधन, योगी गुरु, ज्ञानी गुरु, तान्त्रिकगुरु और प्रेमिकगुरु* ये पाँच ग्रन्थ हिन्दुशास्त्र के सारभूत हैं; हिन्दुशास्त्रसमुद्र-मन्थन से इस सुधा का उद्भव हुआ है, इस सुधा के पान से मृत्युलोक का मनुष्य अमरत्व प्राप्त

* ग्रन्थकार की इन कई पुस्तकों ने धर्मजगत् में युगान्तर उपस्थित किया है—समग्र बंगाल को आलोड़ित कर दिया है। ऐसी सहज और सरल ढंग की आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण उच्चस्तर की पुस्तक बंगला भाषा में दूसरी नहीं निकली है। जीवन्त भाषा की प्राञ्जलता और मनोहारित्व में इनका चमत्कारित्व और भी बढ़ गया है। पुस्तकों को लंदन ब्रिटिश म्यूजियम ने सादर ग्रहण किया है एवं तदीय गुणग्राही सेक्रेटरी ने पुस्तकों के गुणों से मुग्ध होकर विराट् प्रशंसापत्र में पुस्तक और उसके प्रणेता को आन्तरिक धन्यवाद दिया है। और भारतवासियों की बात ही क्या है ? ये पुस्तक ग्रन्थकार की जीवनव्यापी साधना का सुधामय फल हैं। इन सारी ग्रन्थोक्त पन्थाओं से ईसाई-मुसलमान भी अपने-अपने साम्प्रदायिक भावों की रक्षा करते हुए अपूर्ण आकांक्षाएँ दूर कर सकेंगे। मानवजीवन के पूर्णत्वसाधन में इच्छुकों को इन ग्रन्थों को पढ़ने का अनुरोध करता हूँ।

—प्रकाशक

करेगा—आत्मज्ञान की अपूर्ण आकाङ्क्षा दूरीभूत होगी। हमने जिस प्रकार निर्विवाद धर्मलाभ करने के उपाय ऊपर विवृत किये हैं उक्त कई पुस्तकों की सहायता से वे सम्पादित होंगे। इन कई पुस्तकों के घर में रहते ही फिर और विशाल हिन्दुशास्त्रों को मथकर माथापच्ची नहीं करनी पड़ेगी। इससे चित्तशुद्धि, योग, ज्ञान, कर्म, भक्ति इत्यादि सभी शास्त्रों का ही सारतथ्य संगृहीत हुआ है। धर्मपिपासु व्यक्ति प्रथमतः अपने-अपने वर्णाश्रमाचार के साथ "ब्रह्मचर्य-साधन" ग्रन्थोक्त नियमावली का पालन करने से क्रमशः चित्तशुद्धि प्राप्त कर सकेगा; तत्पश्चात् मनःस्थिरता के लिए "योगीगुरु" ग्रन्थोक्त आसन, मुद्रा, प्राणायाम और छोटी-छोटी साधनादि का अभ्यास करेगा। उसके साथ-साथ आत्मज्ञान के लिए "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थोक्त तत्त्वविचार करेगा। तत्पश्चाद् जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित होने पर स्थूलरूप से "तान्त्रिकगुरु" ग्रन्थोक्त कर्मानुष्ठान किंवा सूक्ष्मरूप से "योगीगुरु" या "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थोक्त योगसाधना कर लक्ष्यवस्तु की उपलब्धि करेगा। तत्पश्चात् इस "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ में उक्त प्रेमभक्ति के अमृत-प्रवाह में बहकर सदा के लिए लक्ष्यवस्तु में मग्न होकर निर्वाणमुक्ति प्राप्त करेगा। इन कई ग्रन्थों में साधक के अधिकारानुरूप नाना प्रकार की साधनपन्थाएँ भी प्रकटित की गई हैं। ऐसा कोई नूतन तत्त्व कोई नहीं कह सकेगा, जो इन कई ग्रन्थों में कहीं-न-कहीं विवृत न हुआ हो। तत्पश्चात् हिन्दुशास्त्र को समझने के लिए इन सारे ग्रन्थों में जैसी पद्धति का अवलम्बन किया गया है—धर्म के जटिल और गुह्य तत्त्वों का जैसा रहस्य उद्घाटित हुआ है—शास्त्र

के गूढ़ और कूटस्थानों के जिन नियमों से व्याख्या की गयी है —ज्ञान, कर्म, भक्तिभेद से जिस प्रकार आचार और साधना का तारतम्य दिखाया गया है—योग, याग, तप, जप, पूजा और सन्ध्याह्निकादि नित्यानुष्ठेय कर्मों का उद्देश्य और युक्तियाँ जिस प्रकार प्रदर्शित हुई हैं—जिन नियमों से तन्त्र और पुराणोक्त देव-देवियों, लीला-कहानियों, मूर्तितत्त्व, मन्त्र, यन्त्र, अवतारवाद, मतवाद प्रभृति के मर्म अवगत होने के उपाय किये हुए हैं एवं समन्वय और साञ्जस्यभाव से अधिकारानुरूप शिक्षादान की जैसी व्यवस्था की गई है,—उसकी शिक्षा प्राप्त कर हिन्दुशास्त्र की चर्चा करे तो अतिसहज ही उसका मर्म उपलब्धि कर सकेगा। तब विस्मित और स्तम्भित होकर भक्तिविनम्रहृदय से शास्त्रकार-ऋषियों के उद्देश्य से प्रणाम करेगा। सभी तुम्हारे उदार मत की शीतल छाया में आश्रय प्राप्त कर कृतार्थ होंगे। अन्यथा अनेक कालों के अनेक महापुरुषों की परम्परा से प्रकाशित शास्त्रसमुद्र को गण्डूष में उदरसात् करते जाने पर हास्यास्पद होगे मात्र। आशा करता हूँ, स्वजाति और स्वधर्म के हितसाधक व्यक्तिगण इस बात को नहीं भूलेंगे।

अन्त में देश के महामान्य नेताओं एवं धर्म और समाजसंस्कारकगणों से ग्रन्थकार का यह निवेदन है, कि तुमलोग पथ छोड़कर विपथ में चक्कर लगाकर क्यों मर रहे हो ? गृह की भित्ति छोड़कर पहले ही छत के लिए व्यस्त क्यों हो उठे हो ? धर्म और समाज रहने पर ही तो उसका सुधार करोगे ? अभी जिस प्रकार भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, पति-पत्नी में विभिन्न समाज और विभिन्न धर्म हैं।

तब तुमलोग सुधार करोगे किसका ? सिर नहीं होने से सिरदर्द भला कैसे होगा ? पहले एकता के बन्धन से समाज को संस्थापित करो, तत्पश्चात् दोष देखकर उसका सुधार करो। मृत समाज के शरीर पर आघात करके शरीर के समस्त अङ्ग गलित मत करो। पहले समाजदेह को सञ्जीवित करो, तत्पश्चात् दूषित अङ्ग काटकर फेंक दो; देखोगे कि औषध और पथ्य से दो दिनों में ही क्षतस्थान आरोग्य हो उठेगा। पहले स्वयं को सुधारो, धर्मलाभ करो, तत्पश्चात् सुधार या धर्मप्रचार करोगे। स्वयं अंधा होकर दूसरे अंधे को पथ दिखाते जाकर दोनों ही खंदक में न गिर पड़ो। ब्राह्मण की निन्दा करने के पूर्व अन्य जाति को यह सोचकर देखना उचित है, कि वह जातीय धर्म पर अधिष्ठित है या नहीं! ढोंगी सन्न्यासी या वैरागी के अधःपतन पर दुःख प्रकट करने के पूर्व यह सोचकर देखना उचित है, कि मैं गार्हस्थ्य धर्म का यथाविधि पालन कर रहा हूँ या नहीं ? हमलोग तो अपना छोड़ दूसरों के दोष ही देखना सीखे हुए हैं, यही हमारी जातीय अवनति का प्रधान कारण है। परनिन्दा, परालोचना कर दिनोंदिन हम अधःपतन के चरमस्तर पर उतरते जा रहे हैं। सुतरां हम पहले दूसरों की चिन्ता न कर स्वयं को अच्छा बनने की चेष्टा करें, बाद में दूसरों का भला करने में जीवन का उत्सर्ग करेंगे। बड़ी-बड़ी बातों के भाषण न झाड़कर सबसे पहले शिक्षाविस्तार की चेष्टा करो। आपामर सर्वसाधारणों में शिक्षादान की व्यवस्था करो। वास्तविक शिक्षालाभ से जब जीव, जगत् और भगवान् में अच्छेद्य सम्बन्ध उपलब्ध कर सकोगे, तब भगवान् शङ्कराचार्य का—

"माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥"

यह सुमहान् उदार भाव—अच्छेद्य प्रेम का भाव समझ सकोगे। तब अहंत्व का सङ्कीर्ण दायरा सारे विश्व में फैल कर विश्वमय हो जायेगा, जगत् के स्वार्थ में आत्मस्वार्थ पददलित हो जायेगा। अहंत्व की एक कड़ी में राजा-प्रजा, धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-चण्डाल, यहाँ तक कि पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग तक जुड़ जायेंगे। तभी प्रकृत समाज प्रतिष्ठित होगा। तब तुमलोग एकता का हार गले में पहन कर विश्वविजय करने में सक्षम होओगे। पठित शिक्षाद्वारा गठितजीवन न होने पर तो उस शिक्षा पर धिक्कार पड़ेगा! अतएव प्रथमतः शिक्षालाभ कर तदनुसार चरित्रगठन करो। तत्पश्चात् साधु-शास्त्रों की कृपा से एवं साधनावलम्बन से सत्यलाभ करके कृतार्थ होकर जगत् के हित में जीवन उत्सर्ग कर दो। किसी की भी निन्दा न कर—अनर्थक समालोचना न कर पापी-तापी, ब्राह्मण-चण्डाल, स्त्री-पुरुष निर्विशेष से शिक्षा दो—सभी को कंधे पर वहन कर आध्यात्मिक राज्य की असमतल सीढ़ियों को पार करा दो। किसी का भी विश्वास नष्ट न कर हो सके तो अपने नूतन द्रव्यों का उन्हें दान कर दो। आँखों में ऊँगली देकर दिखा दो, हम सभी एक पिता की सन्तानें हैं, एक पथ के यात्री हैं, सभी एक ही स्थान पर जाकर विश्रामलाभ करेंगे। क्रमशः देखोगे जगत् से हिंसाद्वेष विदूरित होकर प्रेम के बन्धन में सभी बँध जायेंगे। एकता के पवित्र बन्धन से—प्रेम के सुधासम्पृक्त मलयहिल्लोल से समाज सञ्जीवित हो उठेगा।

ऐसा होने पर अचिर में ही हिन्दुधर्म की विजय-पताका भारत-गगन में उड्डीयमान होगी, फिर से हिन्दुदेश और हिन्दुजाति का गौरव-रब दिग्दिगन्त में प्रतिध्वनित हो उठेगा।

पाठक ! भारत के स्वर्णयुग में देवकल्प ऋषिगण ने साधनारूपी पर्वत के समाधिरूप उन्नतशृङ्ग पर बैठकर ज्ञान की दीप्तिवह्नि प्रज्वालित कर जिन समस्त नित्यसत्य आध्यात्मिक तत्त्वावली का आविष्कार किया था, उसी का सुधामय फल है हिन्दुशास्त्र। उन्हीं आर्यऋषियों के तपःप्रभाव से ज्ञात और लोकहितार्थ प्रचारित अमूल्य शास्त्रों का अग्राह्य कर स्वकपोलकल्पित धर्ममत की असार भित्ति का अवलम्बन कर स्वदेश, स्वजाति और स्वधर्म का कलङ्क रटना मत रटाओ। आत्मशक्ति, आत्मप्रतिभा, आत्मसाधना और युक्तिविचारों को जलाञ्जलि देकर परानुकरण से प्रतारित मत होओ। दूसरों की बातों से करस्थित परमान्न का परित्याग कर मुष्टिभिक्षा के लिए दूसरे के दरवाजे पर मत जाओ। अपने कानों पर हाथ देकर देखे बिना दूसरों की बातों में आकर वायसापहृत कुण्डल के अनुसन्धान में बाहर मत जाओ। दूसरों की बातों से प्रबुद्ध होकर जड़त्ववशतः जड़, पौत्तलिक और कुसंस्कार का रट लगाकर तुम्हारे पूर्वज ऋषियों के एवं स्वदेश, स्वजाति और स्वधर्म का निन्दाप्रचार न करो, जीभ कलुषित होगी। आत्ममर्यादा भूलकर परपदलेहन करते हुए समग्र जाति की कलङ्कघोषणा मत करो। जिस देश में—जिस जाति में जन्म हुआ है, तुम उसकी गौरव उपलब्धि करने में अक्षम होकर अदृष्ट को मत धिक्कारो। इस देश के वृक्षलता इत्यादि भी तो तपस्वी हैं,—इस

देश का प्रत्येक धूलकण कितने महापुरुषों, कितने अवतारों, कितेन योगी-ऋषि साधु-सन्यासियों के चरणों से लगकर पवित्र हो गया है। इस देश की मिट्टी में लोट-लोटकर बिना साधना से जीवन धन्य हो जायेगा। भारत के पवित्र वक्ष पर कितने धर्मसम्प्रदाय—कितने मठ-मन्दिर—कितनी धर्मशालाएँ—विराजमान हैं घूमकर देखा है क्या ? कितने आश्रम—कितने तीर्थ—कितने त्यागी-वैरागी हैं, किसी दिन अनुसन्धान किया है क्या ? इस देश के अशिक्षित बालक भी परलोकसम्बन्ध में जो अध्यात्मसंस्कार रखते हैं, अन्य देशों के मशहूर शिक्षित व्यक्तियों को भी उसे पाने में अभी भी बहुत देर है। इस पतित देश में—पतित जाति में जन्मग्रहण करना हम समधिक सौभाग्य के रूप में समझते हैं। इस देश में जन्म लेकर बचपन से इस देश का संस्कार प्राप्त कर तुम जिस अध्यात्मतत्त्व की धारणा नहीं कर सकते हो, अन्य देश के लोग सातसमुद्र तेरह नदियों के पार बैठकर उसे कैसे समझ सकेंगे ? तुम उनकी बातों में भूलकर—उनके मत से चलकर आत्मगौरव विनष्ट क्यों करोगे ? दुर्भाग्यवशतः तुम जो नहीं समझ सकते हो—तुम्हारे छोटे-से मस्तिष्क में जिन सारे तत्त्वों की धारणा नहीं होती, उन्हें तुम ग्रहण मत करो; किन्तु अज्ञ होकर उनकी निन्दाप्रचार करने से विज्ञसमाज में अवज्ञात होओगे मात्र। सबसे पहले शृङ्खलाबद्धक्रम से जीवनगठनपूर्वक ज्ञान में उत्कर्षसाधन करो, तब अज्ञान की स्थूल यवनिका भेदन कर दृष्टि के प्रसारित होने पर समझ सकोगे, कि इस वैचित्र्यमय सृष्टिराज्य की सीमा कहाँ है ?—तब समझ सकोगे,

आर्यऋषियों के युगयुगान्तर से आविष्कृत शास्त्रों में कैसे अमूल्य रत्न सज्जित हैं। हिन्दुशास्त्र के विशाल कल्पभण्डार में इहपरकाल के कितने अगणित, अजानित, अप्रकाशित तत्त्व स्तर-स्तर पर सजाये हुए हैं। अनुसन्धान कर—साधना कर मानवजन्म का सार्थक और परमानन्द का उपभोग करो। हिन्दुधर्म की विमल स्निग्ध किरणों से उद्भासित और प्रफुल्लित होकर भारत का पूर्वगौरव पुनरुद्दीप्त कर उसके विजयदुन्दुभिवाद्य से दिग्दिगन्त को प्रतिध्वनित करो। मैं भी अब विदा ग्रहण करूँ। आओ भाई ! भाई-भाई गले मिलकर इस पतित देश और पतित जाति के मङ्गल के लिए कृपाभिक्षा करते हुए, उस पतितपावन, कंगालशरण, अधमतारण, भयनिवारण, सर्वमतवादसमञ्जसी, सत्यस्वरूप सनातन गुरुब्रह्म के धर्म-कामार्थ-मोक्षप्रद अतुल रातुल चरणों के उद्देश्य में प्रणाम करें—

नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरञ्जनम्।
नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुब्रह्म नमाम्यहम्॥

ॐ शान्तिरेव शान्ति ॐ

सम्पूर्ण

ॐ *श्रीश्रीकृष्णार्पणमस्तु*

आसाम-बंगीय सारस्वत मठ के प्रतिष्ठाता परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानन्द सरस्वती देव प्रणीत कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

(१) **ब्रह्मचर्य-साधन या ब्रह्मचर्य पालन की नियमावली**—इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य साधना की धारावाहिक नियमावली और उपकारिता सरल भाषा में विवृत की गई है। ब्रह्मचर्य रक्षा की बहुत सारी योगोक्त क्रियाएँ जो हर व्यक्ति के लिए करने योग्य तथा अत्यन्त लाभदायक है तथा आहार संयमादि की विधियाँ वर्णित हुई हैं। मूल्य—२०.०० रुपये।

(२) **योगीगुरु या योग और साधना-पद्धति**—यह पुस्तक चार कल्प में विभाजित है—योगकल्प, साधनाकल्प, मंत्रकल्प और स्वरकल्प। इस पुस्तक में सहज उपायों से योगसाधना की पद्धतियाँ सरल भाषा में वर्णित की गई हैं, जो योगसाधक के लिए नितांत उपादेय हैं। मूल्य—४५.०० रुपये।

(३) **ज्ञानीगुरु या ज्ञान और साधना-पद्धति**—यह पुस्तक तीन कांडों में विभाजित है—नानाकांड, ज्ञानकांड और साधनाकांड। इसमें खासकर ज्ञान और योग के ऊँचे अंगों की विशेषरूप से ओलाचना की गई है। इस पुस्तक को "योगीगुरु" ग्रंथ का दूसरा भाग भी कहा जा सकता है। मूल्य—८०.०० रुपये।

(४) **तांत्रिकगुरु या तंत्रसाधना-पद्धति**—यह पुस्तक युक्तिकल्प, साधनाकल्प तथा परिशिष्ट—इन तीन भागों में विभक्त है। इस देश में तंत्र मत से दीक्षा और नित्यनैमित्तिक आदि क्रियाकलापों का अनुष्ठान हुआ करता है। इसलिए निःसन्देह यह पुस्तक साधारणों के लिए विशेष उपयोगी है। परिशिष्ट में योगिनी-साधना, सर्वज्ञता लाभ, दिव्यदृष्टि लाभ, अदृश्य होने का उपाय तथा शूलरोग का प्रतिकार ज्वरादि की शांति, सर्पादि का विषहरण इत्यादि घर-गृहस्थी की नित्यप्रयोजनीय विषय-वंस्तु वर्णित हैं। मूल्य—१००.०० रुपये।

(५) **प्रेमिकगुरु या प्रेमभक्ति और साधना-पद्धति**—यह पूर्वस्कंध तथा उत्तरस्कंध इन दो भागों में विभक्त है, पूर्वस्कंध में प्रेमभक्ति तथा उत्तरस्कंध

में जीवन्मुक्ति वर्णित है। इसमें मानवजीवन की पूर्णतम साधना प्रेमभक्ति और मुक्ति के विषय विशुद्धरूप से वर्णित है तथा भारत तथा पाश्चात्य दार्शनिक के मत, नाना पंथ और सन्न्यास विधि भी वर्णित है। मूल्य—१००.०० रुपये।

(६) **निगम-सूत्र**—यह ग्रंथकार का अंतिम ग्रंथ है। इसमें निगम के निगूढ़ तत्त्वसमूह सूत्राकार से ग्रथित हुआ है। इसमें जीवन्मुक्त ग्रंथकार के साधनालब्ध अनुभूतियाँ सुस्पष्टरूप से प्रतिफलित हो रही हैं जो हर व्यक्ति के मनन का विषय है, विशेष कर मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त उपादेय है।

(७) **माता की कृपा**—इस ग्रंथ में एक साधक ने किस तरह से साधना कर माँ का साक्षात् किया और माँ ने अपने श्रीमुख से जो उपदेशामृत सुनाया उसका पूरा पूरा वर्णन हुआ है। मूल्य—१५.०० रुपये।

(८) **निगम-वाणी**—ठाकुर श्रीश्रीनिगमानन्द परमहंसदेव के द्वारा उनके शिष्य-भक्तों के लिए लिखित तथा श्रीमुख-निःसृत विशेष वाणियों का संकलन। मूल्य—१५.०० रुपये।

(९) **अभय-वाणी**—ठाकुर श्रीश्रीनिगमानन्द परमहंसदेव के द्वारा उनके शिष्य-भक्तों के लिए लिखित तथा श्रीमुख-निःसृत विशेष वाणियों का संकलन। मूल्य—१०.०० रुपये।

(१०) **मैं क्या चाहता हूँ**—ठाकुर श्रीश्रीनिगमानन्द परमहंसदेव के श्रीमुखनिःसृत और श्रीहस्त-लिखित कुछ विशेष अमूल्य उपदेशों और वाणियों का संकलन। मूल्य—१०.०० रुपये।

(११) **श्रीश्रीनिगमानन्द की जीवनी और वाणियाँ**—इस ग्रन्थ में श्रीश्रीठाकुर की श्रीमुख-निःसृत जीवन-कथा और तत्त्वोपदेश का समावेश है। मूल्य—८०.०० रुपये।

: प्राप्तिस्थान :

आसाम-बंगीय सारस्वत मठ, प्रचार विभाग, राजा रामचांद घाट रोड, पो:-पानिहाटी, कोलकाता-७००११४, फोन-(०३३) २५६३ ५४८६।

सारस्वत मठ